

अन्य मर्मों का भी समावेश होता है क्योंकि आगे के श्लोक में यह बताया जा रहा है कि चतुर्विध सिराएँ सब प्रकार के मर्मों में होती हैं। इसलिए अस्थिमर्म पर चोट लगने से जैसे रक्तस्राव होता है, वैसे ही अन्य मर्मों पर आघात होने से रक्तस्राव होता है। संक्षेप में, शरीर के मर्म एकोत्तर-हीन न होकर पाँचों के समवाय से बनते हैं, केवल किसी में एक की और किसी में दूसरे की अधिकता होती है।

इस सूत्र में तथा इससे पूर्वसूत्र में मर्मों के सद्यःप्राण-हरत्वादि परिणाम के संबंध में प्राचीन कल्पना के अनुसार उपपत्तियाँ बतलाई गई हैं। आधुनिक दृष्टि से ये परिणाम कैसे हो सकते हैं, इसका कुछ विचार अब किया जाता है। सद्यःप्राणहरत्व—यद्यपि शरीर में अनेक महत्त्व के अंग होते हैं और प्रत्येक अंग का विशेष प्रयोजन होता है, तथापि जिन्दा रहने की दृष्टि से हृदय, मस्तिष्क और फुफ्फुस ये तीन अंग नितान्त आवश्यक माने गये हैं। इसलिए पाश्चात्य परिभाषा में ये जीवन के त्रिदण्ड (Tripod of life) कहलाते हैं। आयुर्वेद में भी त्रिदण्ड की कल्पना है और इनके लिए 'त्रिमर्म' कहते हैं; भेद इतना ही है कि आयुर्वेद में फेफड़े के बदले बलि मिलता है—स्कन्धाश्रितेभ्योऽपि हृदस्तिशिरांसि (गरीयांसि) तन्मूलत्वाच्छरीरस्य । (चरक, सिद्धि ९)। सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसंस्थामध्विष्यतेषु । मर्माणि बलि हृदयं शिरश्च प्रधानभूतान्युषयो वदन्ति ॥ प्राणाश्रयान् तानपि पीडयन्तो वातादयोऽसृजन्ति पीडयन्ति ॥ प्राणाश्रयत्वमपि यथा हृदयादीनां न तथा शङ्खादीनान् । (चक्रपाणिदत्त, चरक, सिद्धि ९-३)। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि ऊपर १९वें श्लोक में सद्यःप्राणहर मर्म उल्लेख बताये गये हैं, तथापि उनमें भी हृदय और बलि और मस्तिष्क ये तीन मर्म वास्तव में सद्यःप्राणहर हैं और शेष इन्हीं के अधीन हैं—अन्ये तु—शङ्खादिप्राणाश्रयाणां हृदयादिष्वेव सामीप्यादन्तर्भावं दर्शयन्ति । (उपर्युक्त चक्रदत्त की टीका में उद्धृत एकीय मत)। प्राणहरण करने का धर्म केवल इन उल्लेखित मर्मों में ही सीमित नहीं हुआ है, हर एक मर्म पर विशेष आघात होने से प्राणों का नाश हो सकता है—एवं परं परमपि मर्मातिविद्धादिकारणवशात् पूर्वस्य पूर्वस्य कर्म करोति । अतएव तेष्वित्यादिना क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्तीत्यग्रे वक्ष्यति । (डल्हणाचार्य)। अर्थात् शरीर पर कहीं भी आघात हो, मृत्यु का कारण यह त्रिमर्म होता है—तेषां त्रयाणामन्यतमस्यापि भेदादाश्वेन शरीरभेदः स्यात् । आश्रय-नाशदाश्रितस्यापि विनाशः । तदुपतापात् घोरतरव्याधिप्रादुर्भावः, तस्मादेतानि विशेषेण रक्ष्याणि बाह्याभिघाताद्वातादिभ्यश्च । (चरक, सिद्धिस्थान ९)। पाश्चात्य ग्रंथों में भी यही कल्पना मिलती है—Life and health depends on the proper action of the heart, lungs, and brain. This has been called the 'tripod of life'. Bichat (1798) considered that death might arise from a failure of each of these. *Medical Jurisprudence by W. G. Aitchison Robertson*. हृदय, मस्तिष्क

और फुफ्फुस में से फुफ्फुस का विचार मर्मों में नहीं आता; उससे होने वाली मृत्यु का विचार पीछे सूत्रस्थान के २७वें अध्याय में 'बाहुरज्जुलतापाशैः' इस सूत्र में किया गया है (प्रथमखण्ड पृष्ठ १६९)। अब केवल हृदय और मस्तिष्क का विचार करना है। हृदय—हृदय सद्यःप्राणहरत्वादि की दृष्टि से मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक महत्त्व का है। कोई प्राणी या मनुष्य सजीव या निर्जीव है, इसका नियंत्रण केवल हृदय के ऊपर किया जाता है। हृदय के जबाब देने से एक क्षणार्ध के पूर्व वातचीत करते हुए या खाना खाते हुए सजीव मनुष्य क्षणार्ध के पश्चात् निर्जीव हो जाते हैं। यही कारण है कि आयुर्वेद में हृदय विशेष चेतनास्थान माना गया है—तद्धृदयं विशेषेण चेतनास्थानम् । (शारीर ४-३० तथा उसका वक्तव्य भी देखो)। तात्कालिक मरण का कारण हमेशा हृद्भेद (Heart-failure) होता है। यह हृद्भेद हृदयविकृति के कारण होता है या स्वस्थहृदय में प्रत्यावर्तनजनित क्रिया से (Reflex inhibition of the heart) होता है। यदि किसी का हृदय पुराने विकार से (जैसे, Aortic regurgitation, fatty degeneration) कमजोर हुआ हो तो जरा-सा आघात होने पर वह विदीर्ण (Rupture) भी हो सकता है, और तत्काल मृत्यु हो जाती है। जब हृदय स्वस्थ होता है, तब भी मर्मस्थान पर आघात होने से सांवेदनिक नाडीसूत्रों के द्वारा उसका परिणाम मस्तिष्कगत हृदय (Cardiac centre) के ऊपर होकर उसके द्वारा हृदय का कार्य बंद हो जाता है, और इसी को प्रत्यावर्तनजन्य हृद्भेद कहते हैं। इससे स्वस्थता भी उत्पन्न होती है। शङ्खप्रदेश पर या नाभिप्रदेश पर आघात होने से कई बार लोगों की मृत्यु इसी कारण से हुआ करती है। प्रत्यावर्तन-जन्य हृद्भेद में चार अवस्थाएँ सहायता करती हैं। (१) हृदय की विकृति—इसका उल्लेख पीछे किया गया है। (२) मानसिक स्थिति—चिन्ता, शोक, आनन्द, दुःख, भीति इत्यादि विकारों से जब मन एवं मस्तिष्क अस्थिर रहता है, उस समय शरीर की सांवेदनिक नाडी (Sensory nerve) या उसके क्षेत्र पर कहीं भी जरा-सा आघात होने पर उसका कुछ का कुछ परिणाम होकर मृत्यु तक हो सकती है। (३) आमाशय की पूर्णता—आमाशय हृदयसमीपवर्ती अंग है और अति भोजन से हृदय के ऊपर दबाव पड़ता है जिससे उसके संकोच विस्फार में कठिनाई हो जाती है। परिणाम यह होता है कि दिल में धक्कन, तालवैषम्य (Irregularity) इत्यादि हृदयविकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसलिए मात्रावत् भोजन के आयुर्वेद में जो अनेक लक्षण दिये हैं, उनमें 'हृदयाबाधः' 'हृदयस्थानवरोधः' (चरक, विमान २) एक लक्षण दिया है। अतिभोजन के पश्चात् आमाशय या अन्य प्रदेश में आघात होने से हृदय बंद होने की संभावना अधिक होती है। (४) लसिकाभ धातु-वृद्धि की अवस्था (Status lymphaticus)—इसमें शरीर में जहाँ जहाँ लसिकाभ धातु (जैसे, टैन्सिल, स्नीहा, थायमस इत्यादि) होती है, वहाँ वहाँ उसकी वृद्धि हो

जाती है। इस स्थिति का ज्ञान प्रायः मृत्यु के पश्चात् मरणोत्तर परीक्षा से होता है। इस स्थिति का महत्त्व इसलिए है कि कनपटी पर थपपड़ लगने से, जरा से अपघात से, डर से या क्लोरोफार्म से ऐसे लोगों की तुरन्त मृत्यु हो जाती है। संक्षेप में तत्काल मृत्यु (Sudden death) का कारण हृद्भेद है और यह हृद्भेद प्रत्यक्ष या प्रत्यावर्तन जनित होता है और इस हृद्भेद में उपर्युक्त चार अवस्थाएँ सहायता करती हैं। आयुर्वेद में सद्यःप्राणहरण का काल सात दिन का बतलाया गया है (३०वाँ सूत्र देखो)। अतः जो तत्काल नहीं मरते परन्तु सात दिनों के अंदर मर जाते हैं, उनका विचार किया जाता है। कुछ काल के पश्चात् मृत्यु के तीन कारण हैं—मूर्च्छा (Syncope), स्त्वधता (Shock) और संन्यास (Coma)। मूर्च्छा—मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से यह स्थिति उत्पन्न होती है। इसके तीन कारण हैं। मर्माघात की दृष्टि से सब से महत्त्व का कारण अधिक रक्तस्राव है (आगे ४२वाँ श्लोक देखो)। यह रक्तस्राव धमनी या सिरा आघात के कारण टूट जाने से होता है और शरीर के बाहर या शरीर के भीतर हो सकता है। सिरामर्मों की घातकता इसी कारण से होती है। दूसरा कारण रक्तवाहिनी नियन्त्रण अस्थैर्य है (Vasomotor instability) (आगे ८६वें अध्याय के २२वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो)। इससे उदरप्रदेश में रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होकर वहाँ रक्त की अधिकांश राशि एकत्र होकर मस्तिष्क में रक्त की कमी होती है। नाभिप्रदेश में आघात होने से इस प्रकार की स्थिति हो सकती है। तीसरा कारण हृदय की कमजोरी है। इसका विचार पीछे हो चुका है। मर्माघात की दृष्टि से यह कारण विशेष महत्त्व का नहीं है। इससे यदि मृत्यु होगी तो तत्काल हृदयविदारण (Rupture) से होगी। संन्यास—यह विकृति मस्तिष्क की है। इसमें शिर के ऊपर (शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ) आघात होने से मस्तिष्क के भीतर (Apoplexy) या मस्तिष्कावरण के भीतर और मस्तिष्क के बाहर रक्तस्राव (Cerebral compression from trauma) होता है। अथवा आघातजन्य मस्तिष्कसंक्षोभ (Cerebral concussion) से या खोपड़ी की हड्डी अवनत भङ्ग (Depressed fracture) होने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। अर्थात् ये अवस्थाएँ आगन्तुक कारणजन्य हैं। निजकारणजन्य अवस्थाओं का विचार पीछे चतुर्थ अध्याय के ३४वें और ५५वें श्लोकों के वक्तव्य में किया गया है। संक्षेप में मर्मों का सद्यःप्राणहरण हृदय के एकाएक जवाब देने पर या हृदयदौर्बल्यजन्य स्त्वधता (आगे रुजाकर में देखो) मूर्च्छा या मस्तिष्क के संन्यास जैसे घोर व्याधियों के ऊपर निर्भर होता है। कालान्तर प्राणहरण—ये मर्म प्रायः निम्न प्रकार से प्राणों का नाश करते होंगे। (१) शनैः शनैः रक्तस्राव—थोड़े समय में अधिक रक्तस्राव होने से तत्काल मृत्यु होती है, परन्तु थोड़ा थोड़ा रक्त अधिक काल तक बहने से तीव्र रक्तक्षय उत्पन्न होकर उससे रोगी की मृत्यु हो सकती है। रक्त का स्राव विरन्तर, अन्तरित (Recurring) और गुप्त (शरीर के भीतर concealed) तीन

प्रकार का होता है। जैसे, इन्द्रवस्ति, कटीकतरुण कालान्तर प्राणहरण मर्म हैं। इनके लिए शोणितक्षय मृत्यु का कारण बताया है—जह्मामध्ये इन्द्रवस्तिर्नाम, तत्र शोणितक्षयेण मरणम्। कटीकतरुणे नाम मर्मणो, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुर्विवर्णो हीनरूपश्च म्रियते ॥ (२) जीवाणुओं का उपसर्ग—इसमें मर्मस्थान में व्रण उत्पन्न होने के कारण कुछ काल के पश्चात् जीवाणुओं का उपसर्ग (Infection) हो सकता है। इससे जीवाणु-मयता (Septicaemia), विसर्प (Erysipelas), धनुर्वात (Tetanus) इत्यादि विकार उत्पन्न होकर कुछ काल के पश्चात् रोगी की मृत्यु हो सकती है। जैसे, क्षिप्र में आक्षेप से मृत्यु और अपलाप में पूयभावगत रक्त से मृत्यु इसी का सूचक होता है—क्षिप्रं नाम मर्म, तत्र विद्वस्याक्षेपेण मरणम्। अपलापौ नाम तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणम्। विशल्यघ्न—विगतशल्य होने पर ये मर्म किस प्रकार से घातक होते हैं, इसका ठीक आकलन नहीं होता। वैकल्यकर—अस्थि, संधि, स्नायु, सिरा (नाडी के Nerve अर्थ में) और मांस ये घात टूटने से सदा के लिए वैकल्य हो सकता है। हड्डी टूटने से उसमें कमजोरी आ जायगी; संधि से संधिभङ्ग या संधिविश्लेष (Fracture dislocation) हो जायगा; स्नायु (Ligament या Tendon) से मोच (Sprain) पैदा होगा या विशिष्ट पेशी की हलचल में रुकावट होगी; मांस के टूटने से स्थायी संकोच (Contracture) और संसक्ति (Adhesions) होकर पेशियों की गतियों में कठिनता हो जायगी। रुजाकर—इसके संबंध में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। मर्म के ऊपर आघात होने से, अगर कुछ भी न हो तो कम से कम पीड़ा तो जरूर होगी। जिस स्थान पर सविदिक नाडी होती है, वहाँ पर आघात होने से पीड़ा अधिक होती है। जब तक यह पीड़ा अपने स्थान में सीमित रहती है, तब तक उसको केवल पीड़ा या रुजा कह सकते हैं, परन्तु कई बार पीड़ा का परिणाम सार्वदैहिक होता है। उस समय प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) से हृदय के कार्य में कुछ अवरोध उत्पन्न होकर मनुष्य स्त्वध हो जाता है। इस अवस्था को स्त्वधता (Shock) कहते हैं। इसमें बेहोशी, अवसन्नता (Prostration), नाडी और हृदय क्षीण, अनियमित तथा शीघ्र, साँस उथली और घर्घरयुक्त, शरीर ठंडा इत्यादि लक्षण उत्पन्न होकर मृत्यु भी हो जाती है। स्त्वधता प्राथमिक (Primary) और द्वितीयक (Secondary) दो प्रकार की होती है। स्त्वधता की उत्पत्ति में चिन्ता, शोक, भीति इत्यादि मानसिक विकार बहुत सहायता करते हैं। आघात के समय यदि मस्तिष्क इन विकारों से अस्थिर हो तो स्त्वधता जल्दी उत्पन्न होती है। तल हृदय में रुजा याने पीड़ाओं के कारण मृत्यु बतलाई गई है—तलहृदयं नाम तत्रापि रुजाभिर्भरणम्। इससे पीड़ाजन्य स्त्वधता का ही बोध होता है अन्यथा केवल पीड़ा के द्वारा मृत्यु होना असंभव है। इन सब कारणों का विचार प्रत्येक मर्म के समय और भी किया जायगा। स्त्वधता का विवरण आगे के वक्तव्य में और किया गया है।

भवन्ति चात्र—

चतुर्विधा यास्तु सिराः शरीरे
 प्रायेण ता मर्मसु सन्निविष्टाः ।
 स्नायवस्थिमांसानि तथैव सन्धीन्
 सन्तप्ये देहं प्रतिपालयन्ति ॥२५॥
 ततः क्षते मर्मणि ताः प्रवृद्धः
 समन्ततो वायुरभिस्तृणोति ।
 विवर्धमानस्तु स मातरिश्वा
 रुजः सुतीव्रा प्रतनोति काये ॥२६॥
 रुजाम्भूतं तु ततः शरीरं
 प्रलीयते नश्यति चास्य संज्ञा ।
 अतो हि शल्यं विनिहर्तुमिच्छन्
 मर्माणि यत्नेन परीक्ष्य कर्षेत् ॥२७॥

शरीर में जो चार प्रकार की सिराएँ होती हैं वे प्रायः मर्मस्थानों में सन्निविष्ट रहती हैं, और स्नायु, अस्थि, मांस तथा संधि इनका संतर्पण करके देह का पालन करती हैं ॥२५॥ अतः मर्म पर चोट लगने से वायु प्रवृद्ध होकर उन सिराओं को चारों ओर से आच्छादित करती है, और बढ़ती हुई वायु शरीर में तीव्र पीड़ा को फैलाती है ॥२६॥ तब (तीव्र) वेदना से पीड़ित शरीर नष्ट होने लगता है और उसकी चेतना (भी) नष्ट होती है । इसलिए शल्य निकालने की इच्छा करने वाला वैद्य (शल्यसमीपवर्ती स्थान के) मर्मों का यत्नपूर्वक परीक्षण करके (पश्चात्) शल्य को निकाले ॥२७॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में मर्मों की एकोत्तरहीनत्व की कल्पना का खण्डन अस्थिमर्माघात में शोणितगमन के उदाहरण से किया गया है । २५वें श्लोक में अस्थिमर्मों में रक्तोपस्थिति का कारण बताया जाता है । चतुर्विधाः सिराः—वातवह, पित्तवह, श्लेष्मवह और रक्तवह । इनका निर्देश सातवें अध्याय के ५वें सूत्र में किया गया है । मर्मसु—शरीर के संपूर्ण मर्मों में । इसलिए ये सिराएँ अस्थिमर्मों में भी होती हैं और आघात होने पर उनसे खून निकलता है । ततः क्षते—इन दो श्लोकों में मर्माघात से पीड़ा कैसी होती है और पीड़ा के कारण मृत्यु कैसी उत्पन्न होती है, उसकी संप्राप्ति वर्णन की गई है । आधुनिक परिभाषा के अनुसार इसमें स्तब्धता (Shock) की दुर्घटना वर्णित की गई है । स्तब्धता आघात, क्षत, शस्त्रकर्म, विष इन कारणों से उत्पन्न होती है और कारणों के अनुसार आघातजन्य (Traumatic), क्षतजन्य (Wound), शस्त्रकर्मजन्य (Surgical), विषजन्य (Toxic) इत्यादि उसके प्रकार किये जाते हैं । स्तब्धता अधिकतर आघात या क्षत से ही उत्पन्न होती है । आघात या क्षत से प्रायः तीव्र पीड़ा (Pain) होती है और इसके सार्वदैहिक प्रभाव से शरीर के महत्त्व के कार्य (Vital functions)

उत्तरोत्तर क्षीण होते जाते हैं और अन्त में मृत्यु होती है । स्तब्धता उत्पन्न करने में तीव्र पीड़ा एक महत्त्व का सहायक कारण होता है । संक्षेप में आघात, तज्जन्य पीड़ा, पीड़ा के कारण शरीर के महत्त्व के कार्यों का उत्तरोत्तर क्षीण होना और अन्त में मृत्यु, यह स्तब्धताजन्य मृत्यु का क्रम आधुनिक संप्राप्ति के अनुसार होता है—Shock is a condition following surgical operations, trauma, wounds, intoxications or infections, in which a progressive failure of body functions, leading more or less rapidly to death, occurs. *Physiology in Health and disease by Carl J. Wiggers.* Pain is a factor in the production of shock. *Howlett's Pathology.* पच्चीस और छब्बीसवें श्लोक में मर्माघातजन्य मृत्यु की जो घटना वर्णित की गई है, उसका क्रम शब्दशः आधुनिक क्रम के साथ मिलता है । इनकी टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—इदानीं यथैकदेशेऽपि प्रहारे मर्मविद्वस्य क्रमेण सकलशरीरे वातादिदोषव्याप्त्या रुजावेगेन चेतनाधातोर्वियोगस्तथा दर्शयन्नाह । शरीरं प्रलीयते प्रलयं गच्छति शरीरयन्त्रं विघटयतीत्यर्थः । तस्मिन् पाञ्चमौक्तिके शरीरे प्रलीने संज्ञापृष्ठक्षेतनाधातुरपि नश्यति ॥ प्रलीयते शरीरम्—प्रलय शब्द से शरीर की उत्तरोत्तर क्षीणता का बोध होता है; एकाएक क्षीणता का नहीं (पीछे २४वें सूत्र का वक्तव्य देखो) ।

एतेन शेषं व्याख्यातम् ॥२८॥

इसी से अवशिष्ट (मर्मों का भी) व्याख्यान होता है ॥२८॥

वक्तव्य—इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि उपर्युक्त तीन श्लोकों का व्याख्यान अस्थिमर्माघात से शोणितगमन के निमित्त किया गया है तथापि यही व्याख्यान शेष मांसादि मर्मों के संबंध में भी होता है । संक्षेप में, मांसादि मर्मों पर आघात होने से भी रक्त निकलता है, पीड़ा होती है, शरीर प्रलीन होता है और मृत्यु हो जाती है । डल्हणाचार्य इससे दूसरा अर्थ मानते हैं—एतेनेति रुगादिरूपेण वायोर्लक्षणेन, शेषमिति दाहादिक्षेतोतिनिरोधनादि च पित्तश्लेष्मणोलक्षणेन व्याख्यातमेवेत्यर्थः ।

तत्र सद्यःप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण मारयति, कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धं वैकल्यमापादयति विशल्यप्राणहरं च, वैकल्यकरं कालान्तरं क्लेशयति रुजां च करोति, रुजाकरमतीववेदनं भवति ॥२९॥

(मर्माघात के भिन्न परिणाम—) इन (पञ्चविध मर्मों) में से अन्त में विद्ध हुआ सद्यःप्राणहर मर्म कालान्तर से घातक होता है, अन्त में विद्ध हुआ कालान्तर प्राणहर मर्म विकलता उत्पन्न करता है तथा विशल्यमर्म (भी) अन्त में विद्ध होने पर वैकल्य उत्पन्न करता है), अन्त (में

१ विशल्यप्राणहरमन्ते विद्धं क्लेशयति कालान्तरेण च रुजां करोति.

विद्ध हुआ) वैकल्यकर मर्म अधिक काल तक तकलीफ देता है और पीड़ा भी करता है, (अन्त में विद्ध हुआ) रुजाकर मर्म बहुत पीड़ाकर नहीं होता ॥२९॥

वक्तव्य—पीछे १४वें सूत्र में आघात या वेध के परिणाम के अनुसार मर्मों के सद्यःप्राणहरत्वादि पाँच प्रकार बताये गये हैं। उसके पश्चात् प्रत्येक प्रकार के मर्मों के नाम दिये गये हैं। इस सूत्र में यह बताया जाता है कि मर्माघात का परिणाम आघात के औचित्य के साथ बदलता रहता है। यदि आघात उचित जोर का या उचित स्थान पर न हो तो एक प्रकार के मर्म से दूसरे प्रकार का परिणाम निकल सकता है। अन्ते विद्धम्—आगे ३८, ३९वें श्लोकों में मर्मों के परिमाण (मोटाई) बताये गये हैं। उस परिमाण के घेरे के बाहर परंतु समीप वेध होने से। अन्त शब्द से कई बार निर्दिष्ट स्थान का समीपवर्ती भाग अभिप्रेत होता है—पौषमासस्य रोहिण्यामष्टकायामथापि वा। जलान्ते छन्दसां कुर्यादुत्सर्गं विधिवद्ब्रह्मिः ॥ (याज्ञवल्क्य १-१४३)। नाभीवीथी श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा। (मनु ४-११६)। इस प्रकार का अर्थ करने का कारण यह है कि आगे लिखते हैं कि मर्मपार्श्व में आघात होने से भी मृत्यु होती है। इसलिए मर्मस्थान को पूर्णतया छोड़कर शस्त्रकर्म करना चाहिए—पार्श्वभिधातितमपीह निहन्ति मर्मं तसाद्धि मर्मसदनं परिवर्जनीयम्। यह जैसे वेधन या आघात का विचार मर्मस्थान की दृष्टि से हुआ, वैसे ही वेधन की गहराई (Depth) तथा आघात की प्रबलता (Strength) की दृष्टि से भी विचार होना चाहिए। और यहाँ पर स्थान का जो सिद्धान्त बताया गया है, उसका उपसिद्धान्त (Corollary) करके यह भी समझना चाहिए कि यदि वेध गहरा न हो या आघात कमजोर हो, उसके परिणाम भी अन्त वेधन के समान ही होते हैं और यदि अतिवेधन या अतिप्रबल प्रहार हो तो अपेक्षित प्रकार से अधिक तीव्र स्वरूप का परिणाम होता है—एतेन पूर्व पूर्व मर्म कारणवैकल्यात्परस्य परस्य कार्यं करोति, एवं परं परमपि मर्माति-विद्धादिकारणवशात् पूर्वस्य पूर्वस्य कर्म करोति। (डल्हण)। यही उपसिद्धान्त अब आगे के सूत्र में बताया जा रहा है।

तत्र सद्यःप्राणहराणि सप्तरात्राभ्यन्तरान्मारयन्ति, कालान्तरप्राणहराणि पक्षान्मासाद्वा, तेष्वपि क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्ति, विशल्यप्राणहराणि वैकल्यकराणि च कदाचिदत्यभिहतानि मारयन्ति ॥३०॥

(मर्मों का घातक काल और अघातक मर्मों का घातकत्व—) इनमें सद्यःप्राणहर मर्म सात दिन के अन्दर मार देते हैं, कालान्तर प्राणहर मर्म दो सप्ताह में अथवा एक मास में (मार देते हैं), इन (कालान्तर प्राणहर मर्मों) में से क्षिप्र कभी कभी तत्काल मार देते हैं, विशल्य प्राणहर, वैकल्यकर और (रुजाकर) कभी कभी अभिहत होने पर मार देते हैं ॥३०॥

वक्तव्य—क्षिप्राणि इत्यादि—कदाचिदाशु मारयन्ति 'अतिहतानि' इति शेषः। अनतिहतानि तु कालान्तरेणैव मारयन्ति। (डल्हण)। वैकल्यकराणि च—'च' का प्रयोग यहाँ पर 'अनुक्तसमुच्चयार्थे' किया है, जिससे 'वैकल्यकराणि च' का अर्थ वैकल्यकर तथा रुजाकर होता है। इसका अभिप्राय यह है कि रुजाकर भी प्रबल आघात से मारक होते हैं। इसमें कोई असंभवनीय बात नहीं है क्योंकि वे भी मर्म हैं और 'मारयन्तीति मर्माणि' यह मर्मों की व्याख्या है। डल्हणाचार्य लिखते हैं—एतच्चोपलक्षणं, तेन रुजाकराण्येवं वैकल्यं जनयन्ति, एवं वैकल्यादिष्वपि स्वनिघतकर्मव्यभिचारः। यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि अतिहत होने पर रुजाकर मर्म भी घातक होते हैं। दूसरा कारण यह है कि इस सूत्र में मर्मों की घातकता का ही विचार हो रहा है, अन्य व्यभिचार का नहीं; वह विचार ऊपर के सूत्र में हो चुका है। संक्षेप में सभी मर्म अतिघातित होने पर मारक होते हैं, यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

अत ऊर्ध्वं प्रत्येकशो मर्मस्थानानि व्याख्यास्यामः—तत्र पादस्याङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्ये क्षिप्रं नाम मर्म, तत्र विद्धस्याक्षेपकेण मरणं; मध्यमाङ्गुलीमनुपूर्वेण मध्ये पादतलस्य तलहृदयं नाम, तत्रापि रुजाभिर्मरणं; क्षिप्रस्योपरिष्ठादुभयतः कूर्चो नाम, तत्र पादस्य भ्रमणवेपने भवतः; गुल्फसन्धेरध उभयतः कूर्चशिरो नाम, तत्र रुजाशोफौ; पादजङ्घयोः सन्धाने गुल्फो नाम, तत्र रुजः स्तब्धपादता खञ्जता वा; पाणिं प्रति जङ्गममध्ये इन्द्रवस्तिर्नाम, तत्र शोणितक्षयेण मरणं; जङ्घोर्वोः सन्धाने जानु नाम, तत्र खञ्जता; जानुन ऊर्ध्वमुभयतरङ्गुलमाणी नाम, तत्र शोफाभिवृद्धिः स्तब्धसक्थिता च; ऊरुमध्ये ऊर्वी नाम, तत्र शोणितक्षयात् सक्थिशोषः; ऊर्व्या ऊर्ध्वमधो वङ्गणसन्धेरुर्मूले लोहितान्नं नाम, तत्र लोहितक्षयेण पक्षाघातः सक्थिशोषो वा; वङ्गणवृषणयोरन्तरे विटपं नाम, तत्र पाण्ड्यमल्पशुक्रता वा भवति; एवमेतान्येकादश सक्थिमर्माणि व्याख्यातानि ॥३१॥

(पादमर्म—) अब इसके बाद मर्मस्थानों का पृथक् पृथक् व्याख्यान करते हैं। पाँव के अंगूठे और (समीपवर्ती) अंगुलि के बीच में क्षिप्रनामक मर्म है, वहाँ पर, विद्ध हुए (मनुष्य) की मृत्यु आक्षेप से होती है। मध्यम अंगुलि की रेखा में ऊपर पादतल के मध्य में तलहृदय नामक मर्म होता है, वहाँ पर भी (विद्ध हुए मनुष्य की) वेदनाओं से मृत्यु होती है। क्षिप्र के ऊपर दोनों ओर कूर्च नामक मर्म

१ क्षिप्रमिति मर्म. २ मध्यमाङ्गुलीमानुपूर्वेण जङ्घोर्वोः ३ जानुसन्धेरुभयतरङ्गुले. ४ ऊरुमध्ये लोहितान्नं नाम. ५ लोहितक्षयेण मरणं पक्षाघातो वा.

है, वहाँ पर (वेध होने से) पाँव में टेढ़ापन और कंपन होता है। गुल्फसंधि से नीचे दोनों ओर कूर्चशिर नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) पीड़ा और सूजन होती है। पाँव और जङ्घा के संयोग पर गुल्फ नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) पीड़ा, पाँव में जकड़न, अथवा लँगड़ापन होता है। जङ्घा में एड़ी की ओर इन्द्रवस्ति नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) रक्तस्रावजन्यक्षय से मृत्यु होती है। जङ्घा और ऊरु के संयोग पर जानु नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) लँगड़ापन होता है। जानु से तीन अंगुल ऊपर दोनों ओर आणी नामक मर्म है, वहाँ पर (चोट लगने से) सूजन की वृद्धि और टाँग में स्तब्धता (जकड़न तथा सुन्नता) होती है। ऊरु के मध्य में ऊर्वी नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) रक्तक्षय से टाँग सूख जाती है। ऊर्वी से ऊपर वङ्गणसंधि से नीचे ऊरु के मूल में लोहिताक्ष नामक मर्म है, वहाँ पर (चोट लगने से) रक्तक्षय से पक्षाघात अथवा टाँग की कृशता होती है। वङ्गण और वृषण के मध्य में विटप नामक मर्म है, वहाँ पर (चोट लगने से) षण्डता या अल्पशुक्रता होती है। इस प्रकार टाँग के ग्यारह मर्मों का व्याख्यान किया है ॥३१॥

वक्तव्य—क्षिप्र—यह स्नायु मर्म है। इसकी मोटाई अर्धाङ्गुल है और कालान्तर प्राणहर है। प्रत्यक्षशरीर की दृष्टि से यह प्रथम शलाकान्तरिय (First intermetatarsal) स्थान है। इस स्थान में प्रथम पादाङ्गुलिशलाका पृष्ठगा (First dorsal metatarsal) धमनी और पुरोजंघिका गंभीरा (Deep peroneal nerve) नाडी की अंगुष्ठमूलगा शाखा ये दो महत्त्व के अंग होते हैं। इस मर्म के वेधन से आक्षेपक नामक रोग होकर मृत्यु होती है। आक्षेपक से Convulsions और Tetanus (धनुर्वात) दोनों का ही बोध होता है और ये दोनों रोग रक्तस्रावाधिक्य और अभिघात के कारण उत्पन्न होते हैं। निदानस्थान प्रथम अध्याय के ४८-५६ श्लोक तथा उनका वक्तव्य देखो। जब रक्तस्रावजन्य आक्षेप होते हैं, तब मृत्यु तत्काल होगी। जब धनुर्वात के जीवाणु का उपसर्ग होगा, तब देर में होगी। हाथों और पैरों की चोटों में धनुर्वात का उपसर्ग बहुत हुआ करता है, यह अनुभवसिद्ध बात है। तलहृदय—मध्यमाङ्गुलिमनुलक्षीकृत्य क्रमेण पादतलस्य मध्ये तलहृदयम्, मांसमर्मदमर्धाङ्गुल कालान्तर-प्राणहरं च। (डल्हण)। प्रत्यक्षशरीर की परिभाषा में तलहृदय पादतलमध्य (Centre of the planter side) है। इसमें पादतलधनुषी (Lateral planter) धमनी और पादतलीया बाह्या और अन्तरा (Medial or lateral planter) नाडी ये दो महत्त्व के अंग होते हैं। इन अंगों की रक्षा करने के लिए इनके ऊपर बड़ी मजबूत दीर्घ पादतलिक स्नायु (Long planter ligament) का आवरण होता है। क्षिप्र और तलहृदय मर्मों से मृत्यु की भीमांसा के लिए आगे ४२वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो। कूर्च—उपरिष्ठादिलत्र 'द्रव्यकुले' इति शेषः। उभयतः इत्यादि ऊर्ध्वमधश्च, तस्य कूर्च इति नाम, 'विद्धि' इति शेषः। स्नायुमर्मदं वैकल्यकरं

चतुरङ्गुलं च। (डल्हण)। प्रत्यक्षशरीर की दृष्टि से इस मर्म में कूर्चशलाका की स्नायुओं (Tarsometatarsal and intertarsal ligaments जैसे Canonavicular, cuboid-onavicular, long planter etc.) का समावेश होता है। इनके ऊपर आघात होने से पाँव की कमान (Arch) कमजोर होकर कंपन, भ्रमण (जैसे, समतलपाद flat foot) इत्यादि विकार होते हैं। कूर्चशिर—इदमपि स्नायुमर्म एकाङ्गुलं वैकल्यकरं च। (डल्हण)। इससे बहिःपार्श्विक और अन्तःपार्श्विक स्नायुओं (Deltoid ligaments, Talocalcaneal and calcaneofibular ligaments) का बोध होता है। इनके ऊपर आघात होने से गुल्फसंधि में पीड़ा तथा सूजन आ जाती है और यदि उचित चिकित्सा न हुई तो कुछ वैकल्य भी आ जाता है। गुल्फ—संधिमर्मदं द्रव्यकुलप्रमाणं वैकल्यकरं च। (डल्हण)। गुल्फ से गुल्फसंधि (Ankle joint) का बोध होता है। इसमें अन्तर्जंघास्थि और बहिर्जंघास्थि का नीचे का जोड़ (Tibio fibular) तथा इन दोनों का कूर्चशिरास्थि के साथ जोड़ (Talo-Crural articulation) इनका समावेश होता है। गुल्फ पर आघात होने से प्रायः अस्थिभंग या भंगविच्छेद (Fracture dislocation) होता है जिससे पीड़ा, स्तब्धता, लँगड़ापन इत्यादि उत्पन्न होते हैं। इन्द्रवस्ति—मांसमर्म-दमर्धाङ्गुलं पार्णि प्रति त्रयोदशङ्गुले स्थितं कालान्तर-प्राणहरं च, भोजस्तु द्रव्यकुलप्रमाणमाह। (डल्हण)। यद्यपि यहाँ पर नहीं तथापि चिकित्सास्थान में इन्द्रवस्ति का पार्णि से अन्तर तेरह अङ्गुल बताया गया है—पार्णि प्रति द्वे दश चाङ्गुलानि मिलेन्द्रवस्तिं परिवर्त्य धीमान्। (अध्याय १८)। एड़ी से इन्द्रवस्ति का जो अन्तर दिया है उससे, तथा यह मांसमर्म होने से इन्द्रवस्ति जंघा की पिंडली (Calf) मालूम होता है। पिंडली वह स्थान है, जहाँ पर जंघा का घेरा सब से अधिक होता है। यह स्थान ठीक पार्णि से बारह या तेरह अङ्गुल होता है। पिंडली में जंघापिंडिका गुर्वी (Gastronemius), लघ्वी (Soleus) और तृतीया (Plantaris) ये तीन पेशियाँ होती हैं—इदं च पेशीत्रयं जङ्घापिण्डिकेति पिण्डिकेति वा कथ्यते। (प्रत्यक्ष शरीर)। इन पेशियों के पीछे बहिर्जंघिका (Peroneal) और पश्चिमजंघिका (Posterior Tibial) धमनियाँ तथा पश्चिमजंघिका (Tibial) नाडी होती है। यह मांस मर्मविद्ध होने से उपर्युक्त धमनियाँ कटने की संभावना होती है और जब कट जाती हैं, तब रक्तनाश से मृत्यु होने का डर होता है। रसयोगसागर की प्रस्तावना में इन्द्रवस्ति से Popliteal fossa बताया गया है। यह स्थान जानुसंधि के पीछे होता है और जानुसंधि पार्णि या गुल्फ से अठारह अङ्गुल दूर होती है—अष्टादशङ्गुला जंघा। (सूत्र ३५)। इन्द्रवस्ति एड़ी से केवल तेरह अंगुल लंबाई पर होने के कारण इन्द्रवस्ति से पाष्ठीटील फोसा मानना उचित नहीं होता। इसके सिवा वहाँ पर जानुमध्य का परिणाह और इन्द्रवस्ति का परिणाह भिन्न भिन्न बतलाया गया है; इसलिए जानुमध्य से इन्द्रवस्ति पृथक् स्थान मालूम होता है। जानु—

संधिमर्मदं न्यङ्कुलप्रमाणं वैकल्यकरं च । जानुसंधि knee joint । आणी—स्नायुमर्मदमर्षाङ्गुलं वैकल्यकरं च । (डल्हण) । आणी से चतुःशिरस्का और्वी (Inadriceps femoris) पेशी की कण्डरा, जो जानुकपालिका (Patella) में संसक्त हुई है, का बोध होता है । ऊरु—सिरामर्मदमेकाङ्गुलं वैकल्यकरं च । (डल्हण) । ऊरुमर्म ऊरु के मध्य में और सिरामर्म है । इस दृष्टि से यदि ऊरु की रचना का परीक्षण किया जाय तो इससे संयूहनप्रणाली (Adductor Canal) मालूम होती है । इस प्रणाली में और्वी धमनी, सिरा और नाडी (Femoral artery, Vein and Saphenous nerve) ये महत्त्व के अंग होते हैं । धमनी या सिरावेधन से रक्तक्षय और नाडी के वेधन से सक्थिशोष हो सकता है । ये तीनों अंग अत्यंत समीप होने से तीनों ही एक समय में विद्ध हो सकते हैं । लोहिताक्षम्—सिरामर्मदमर्षाङ्गुलं वैकल्यकरं च । (डल्हण) । इस मर्म का स्थान वङ्गणसंधि के नीचे ऊरुमूल में और ऊरु में सामने की ओर है । इस वर्णन के अनुसार यह मर्म और्वत्रिकोण (Femoral triangle) के साथ मिलता है । इस त्रिकोण में ऊरु मर्म के समान सब महत्त्व के अंग होते हैं । अर्थात् इसके वेध के परिणाम ऊरुवेध के समान होते हैं । विटप—स्नायुमर्मदमेकाङ्गुलं वैकल्यकरं च । (डल्हण) । इसका स्थान वङ्गण और वृषण के मध्य में है । इसके अनुसार यह मर्म वङ्गण सुरंगा (Inguinal canal) मालूम होता है । यह सुरंगा स्नायुओं से बनी है और उसमें से होकर वृषण की बन्धनी तथा शुक्रवह नाडी (Spermatic cord) के भीतर चली गई है । इसके ऊपर आघात होने से नाडी बंद हो जायगी और वृषण में उत्पन्न हुआ शुक्र शिश्न में नहीं आयगा । दोनों के ऊपर चोट लगने से षण्डता (Sterility) उत्पन्न होगी । इसमें मैथुन का असामर्थ्य न होकर प्रजोत्पादन का असामर्थ्य होता है । एक के ऊपर चोट लगने से केवल एक ही वृषण का शुक्र मैथुन के समय निकलेगा, याने अल्पशुक्रता उत्पन्न होगी ।

एतेनेतरसक्थि बाहु च व्याख्यातौ । विशेषतस्तु यानि सक्थिन गुल्फजानुविटपानि तानि बाहौ मणिबन्धकूर्परकक्षधराणि; यथा वङ्गणवृषणयोरन्तरे विटपमेवं वक्तुः कक्षयोर्मध्ये कक्षधरं, तस्मिन् विद्धे त एवोपद्रवाः; विशेषतस्तु मणिबन्धे कुण्ठता, कूर्परस्थे कुणिः, कक्षधरे पक्षाघातः । एवमेतानि चतुश्चत्वारिंशच्छाखासु मर्माणि व्याख्यातानि ॥३२॥

(बाहुमर्म—) इसी से ही दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं (के मर्मों) का व्याख्यान हो गया है । विशेष करके टाँग में जो गुल्फ जानु विटप हैं वे ही बाहु में मणिबंध, कूर्पर कक्षधर हैं; जैसे वङ्गण और वृषण के बीच में विटप है वैसे ही वक्ष और कक्षा के बीच में कक्षधर है, उसके विद्ध होने से वे ही उपद्रव होते हैं; विशेष करके मणिबन्ध में (वेध होने से हाथ का) वैकल्य (कलाई की शक्ति नष्ट होना, उसकी गति कम होना इत्यादि), कूर्पर नामक

मर्म में (वेध होने से) अग्रबाहु का ललापन, कक्षधर में (वेध होने से) पक्षाघात होता है । इस प्रकार शाखाओं में चौवालीस मर्मों की व्याख्या हो गई है ॥३२॥

वक्तव्य—तस्मिन् विद्धे त एव उपद्रवाः—‘तस्मिन्’ शब्द यहाँ पर बाहुमर्म समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है । इसका अर्थ इस प्रकार है—बाहुमर्मसमूह विद्ध होने पर, सक्थिमर्मसमूह विद्ध होने पर जो उपद्रव ऊपर बतलाये गये हैं, वे ही उपद्रव उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार साधारण निर्देश करने पर पश्चात् विशेष निर्देश ‘विशेषतस्तु’ से करते हैं । डल्हणाचार्य ‘तस्मिन्निति मणिबन्धादौ, त एव इति गुल्फादिवधजाताः’ ऐसा अर्थ करते हैं । परंतु यह अर्थ असंगत है क्योंकि इससे ‘विशेषतस्तु’ इत्यादि का प्रयोजन व्यर्थ हो जाता है । क्षिप्र—यह मर्म अंगुष्ठतर्जनीशलाकान्तर्रीय स्थान है (First intermetacarpal space) और इसमें बहिःप्रकोष्ठा धमनी की शलाका पृष्ठिका शाखा (First Dorsal metacarpal artery) होती है । तलहृदय—यह हस्ततल का मध्य है जिसके ऊपर करतलिकास्नायु (Palmer aponeuroses) फैली रहती है । इसके पीछे करतल धानुपी धमनी (Palmer arch) और उसकी शाखाएँ तथा नाडियाँ (Nerves) भी होती हैं । इनके कारण हस्ततल में मर्मत्व आ गया है । कूर्च—इससे हस्तकूर्चास्थियाँ और शलाकाएँ इनको जोड़ने वाली स्नायु (Carpometacarpal and intercarpal ligaments) अभिप्रेत होती हैं । कूर्चशिर—इससे मणिबन्धसंधि की अन्तःपार्श्विक और बहिःपार्श्विक स्नायुओं (Ulnar and radial Collateral ligaments) का बोध होता है । मणिबंध—इससे कलाई जोड़ (Wrist joint) का बोध होता है, जिसमें प्रकोष्ठान्तर्रीय जोड़ (Distal radioulnar) तथा बहिःप्रकोष्ठकरकूर्चास्थिजोड़ (Radio carpal) दोनों का समावेश होता है । रसयोगसागर प्रस्तावना में मणिबन्ध का अर्थ Intercarpal ligaments दिया है । परंतु यह अर्थ दो दृष्टि से उचित नहीं मालूम होता । मणिबंधसंधि मर्म है, अतः मणिबन्ध से संधि का ही ग्रहण करना चाहिए । दूसरी दृष्टि यह है कि कूर्चमर्म की दीर्घता चार अंगुल है, अतः कूर्च में ही कूर्चान्तर स्नायुओं का समावेश हो जाना चाहिए । पाँव में भी ऐसा ही है । इसलिए वैसे अर्थ पीछे हस्तकूर्च और पादकूर्च मर्मों के किये गये हैं । कलाई के जोड़ में खराबी होने से हाथ की हर एक काम में कुण्ठित गति हो जाती है । इन्द्रवस्ति—अग्रबाहु की पिण्डली का स्थान जहाँ पर मणिबंधसंकोचिन्यादि उत्तान पेशियों के नीचे अन्तःप्रकोष्ठीया (Ulnar) धमनी और मध्यप्रकोष्ठिका (Median) नाडी इत्यादि महत्त्व के अंग होते हैं । रसयोगसागरकार के समान इससे Cubital fossa समझ सकते हैं । कूर्पर—यह संधिमर्म है । इससे कोहनी जोड़ (Elbow joint) का बोध होता है । आणी—यह स्नायुमर्म है । इससे द्विशिरस्का (Biceps) पेशी की कण्डरा का बोध होता है । इसके पास बाह्य धमनी तथा मध्यप्रकोष्ठिका नाडी होती है । इस मर्म के उपद्रव कण्डरा तथा नाडी के वेध से होते हैं ।

ऊरु—यह सिरामर्म है। इसका स्थान बाहुमध्य अग्रभाग है। इससे बाहुवी धमनी, अन्तर्बाहुका सिरा, बहिर्बाहुका और मध्यप्रकोष्ठिका नाडी का ग्रहण करना चाहिए। सिरा या धमनी का वेध होने से रक्तक्षय और नाडी का वेध होने से बाहुशोष (Atrophic paralysis) हो जाता है। लोहिताक्ष—यह भी सिरामर्म है। इसमें भी ऊरुमर्म के महत्त्व के अंग हैं, केवल स्थान कुछ ऊपर की ओर कक्षा में होता है। यहाँ पर धमनी कक्षाधरा (Axillary) कहलाती है। इस मर्म के वेध से पक्षाघात या बाहुशोष हो जाता है। ये लक्षण नाडी (Nerve) के वेध से होते हैं। रसयोग-सागर में लोहिताक्ष (ऊर्ध्व-शाखा का) का आंग्लानुवाद Sacral plexus दिया है। सैक्रल प्लेक्सस श्रोणि में होता है, ऊर्ध्वशाखा में नहीं। अतः यह मुद्रणदोष मालूम होता है। कक्षाधर—यह स्नायुमर्म और एकाङ्गुल है। अष्टाङ्गहृदय में यह मर्म तथा इसका प्रतिनिधि विटप सिरामर्म बतलाया गया है—तप्तत्रिंशत् सिराश्रयाः । बृहत्सौ मातृका नीले मन्ये कक्षाधरो फणौ । (विटपे। शा० ४)। इसको सिरामर्म मानने की अपेक्षा स्नायुमर्म मानना अधिक प्रशस्त है। इसका विचार आगे ९ अध्याय के द्वितीय सूत्र के वक्तव्य में धमनी क्या है? इसकी टिप्पणी में किया गया है। इसका स्थान वक्ष और कक्षा के मध्य में याने काँख के शिखर में बतलाया है। वहाँ पर महत्त्व का अंग कक्षागुगा नाडी प्रवेणी (Brachial plexus) का कक्षादरीस्थित भाग आता है, जिसमें पाक्षिकी, मध्यागुगा और पश्चिमा वेणिकाएँ (Lateral, median and posterior cords) आती हैं। इनके वेध से पक्षाघात होता है। पक्षाघात—यह उपद्रव लोहिताक्ष नामक हाथों और पादों के मर्मों में भी बताया गया है। पक्षाघात का सामान्य अर्थ संपूर्ण एक पक्ष याने आधे शरीर का घात (Hemiplegia) किया जाता है। यहाँ पर पक्षाघात शब्द इस सामान्य अर्थ से नहीं प्रयुक्त किया गया है। यहाँ पर इसका अर्थ है 'पक्ष की जिस शाखा के मर्म में वेध हुआ है, उस शाखा का घात' अर्थात् एकाङ्गघात (पक्षाश्रित एक शाखाघात)। शाखाश्रित मर्मों का परीक्षण—शस्त्रकर्म की दृष्टि से धमनी, नाडी और बड़ी सिरा ये महत्त्व के अंग होते हैं। यदि शाखाश्रित मर्मों का अनुसंधान इन महत्त्व के अंगों की दृष्टि से किया जाय तो कहना पड़ता है कि यद्यपि शारीर वर्णन में अन्यत्र नहीं तथापि मर्मों के निमित्त शाखाओं के इन प्रधान अंगों का स्थान चिकित्सकों को मालूम होता है। जैसे, क्षिप्र, तलहृदय, कूर्चशिर, इन्द्रबस्ति, आणी, ऊरु लोहिताक्ष और बाहु का कक्षाधर ये सब मर्म शाखाओं के इन अंगों के मार्गों के नीचे से ऊपर तक के पड़ाव हैं। सिरामर्म—पीछे दूसरे सूत्र के वक्तव्य में बताया जा चुका है कि मर्म का नाम उसके शरीर की बनावट सूचित करता है। अर्थात् सिरामर्म से यह सूचित किया जाता है कि यह मर्म सिरा से बना हुआ है। शाखाओं में ऊरु, लोहिताक्ष, कक्षाधर ये सिरामर्म हैं। यदि सिरा का आधुनिक रूढ़ अर्थ (Vein) लिया जाय तो पक्षाघात या सक्थिशोष

ये उपद्रव सिरामर्म के वेधन से उत्पन्न होने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्यक्षशरीर की दृष्टि से यदि इन मर्मों की रचना देखी जाय तो इनमें धमनी (Artery शुद्ध रक्तवाहिनी), सिरा (Vein अशुद्ध रक्तवाहिनी) और नाडी (Nerve वातवाहिनी) ये तीनों अंग उपस्थित रहते हैं। आधुनिक दृष्टि से पक्षाघात या एकाङ्गघात या सक्थिशोष ये विकार प्रायः नाडी के वेधन से होते हैं। इन स्थानों में नाडी होती है। इसलिए, जैसे कि अमर-कोश में लिखा है 'नाडी तु धमनी सिरा' उसके अनुसार सिरा से तीनों का ग्रहण करना चाहिए और सिरामर्म में आवश्यकता के अनुसार तीनों का समावेश करना चाहिए।

अत ऊर्ध्वमुदरोरसोर्मर्माण्यनुव्याख्यास्यामः—

तत्र वातवर्चोनिरसनं स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं गुदं नाम मर्म, तत्र सद्योमरणम्; अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो वस्तिर्नाम, तत्रापि सद्योमरणमश्मरीव्रणोदहते, तत्राप्युभयतो भिन्ने न जीवति, एकतो भिन्ने मूत्रस्रावी व्रणो भवति, स तु यत्नेनोपक्रान्तो रोहति; पक्वमाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिर्नाम, तत्रापि सद्योमरणम् ॥३३॥

(उदरमर्म—) अब इसके बाद उदर और छाती के मर्मों का व्याख्यान करेंगे। इनमें मल और वात को निकालने वाला, बड़ी आँत से जुड़ा हुआ गुद नामक मर्म है। वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। कटि में भीतर की ओर जिसकी बनावट में मांस और रक्त अल्प होता है ऐसा मूत्र का आधार वस्ति नामक मर्म है; वहाँ पर अश्मरीव्रण के अतिरिक्त (अन्य कारण से व्रण उत्पन्न होने पर) तत्काल मृत्यु होती है; अश्मरी के लिए भी दोनों ओर भिन्न होने से (मनुष्य) नहीं बचता; एक में भेद करने से मूत्रस्रावी व्रण बन जाता है, जो यत्न से चिकित्सा करने पर रोपित होता है। पक्वमाशय और आमामाशय के मध्य में सिराओं का उत्पत्ति-स्थान नाभि नामक मर्म है, वहाँ पर भी (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है ॥३३॥

वक्तव्य—गुद—मांसमर्मदं चतुरंगुलं सञ्चोधाति च । (डल्हण)। अष्टाङ्गहृदय के अनुसार गुद धमनी मर्म है। इसको मांसमर्म कहना ही उचित है। गुद के संबंध का कुछ विवरण पीछे निदानस्थान के दूसरे अध्याय के चौथे सूत्र तथा उसके वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३२९) में किया गया है। गुद से यहाँ पर गुदनलिका (Anal canal) और गुदद्वार (Anus) का ही ग्रहण करना चाहिए। मलाशय (Rectum) का ग्रहण करना उचित नहीं है क्योंकि यह गुद वातवर्चोनिरसन है, वर्चोधारक नहीं है। चरकसंहिता में गुद के दो विभाग 'उत्तरगुद' और 'अधरगुद' किये गये हैं। उसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—उत्तरगुदो

यत्र पुरीषमवतिष्ठते, येन तु पुरीषं निष्कामति तदधरगुदम् ।
 (शरीर ७-१०) । यहाँ पर गुद से चरकोक्त अधरगुद
 अभिप्रेत है । गुद के ऊपर आघात होने से तत्काल मृत्यु
 स्वधता के कारण हो सकती है और यदि वेधन गंभीर
 हुआ हो तो उदरावरण में शोथ (Peritonitis) उत्पन्न
 होकर उससे हो सकती है । गुद को इतना महत्त्व देने
 का और एक कारण यह मालूम होता है कि प्राचीन काल में
 जैसे सिर को शरीर का मूल मानने की कल्पना थी—
 ऊर्ध्वमूलमधः शाखमृषयः पुरुषं विदुः । मूलप्रहारिणस्तस्माद् रोगान्
 शीघ्रतरं जयेत् ॥ (अष्टांगहृदय, उत्तर २४) वैसे ही गुद
 को भी शरीर का मूल मानने की कल्पना प्रचलित थी
 और इसी कल्पना के आधार पर अनुवासन बस्ति की फल-
 प्राप्ति चरक में वर्णन की गई है—मूले निषिक्तो हि यथा
 द्रुमः स्यान्निलच्छदः कोमलपल्लवाग्र्यः । काले महान् पुष्पफलप्रदश्च
 तथा नरः स्यादनुवासेन ॥ (सिद्धि १) । इसकी टीका में
 चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—मूलदृष्टान्तेन चानुवासेन
 साक्षात्तर्पणीयस्य गुदस्य देहमूलत्वं दर्शयति । उक्तं हि पराशरे—
 मूलं गुदं शरीरस्य सिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः । सर्वं शरीरं पुष्पान्ति
 मूर्धानं यावदाश्रिताः ॥ बस्ति—छायुमर्मेदं चतुरंगुलं सधोधाति च ।
 (डल्हन) । यही मूत्राशय (Urinary bladder) है ।
 इसका वर्णन निदानस्थान के तीसरे अध्याय के १८-२०
 श्लोकों में तथा उनके वक्तव्य (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३३६-
 ३३७) में किया गया है । यहाँ पर उसका और उदरावरण
 (Peritoneum) का संबंध देखना जरूरी है । बस्ति के चार
 पृष्ठ (Surfaces) होते हैं—एक ऊर्ध्व, एक अधर और दो
 पार्श्विक । इनमें से ऊर्ध्व भाग पर उदरावरण लगा रहता
 है । अधर और पार्श्विक पृष्ठ उदरावरणरहित होते हैं ।
 बस्ति मूत्र से परिपूर्ण होने के समय बस्तिप्रदेश पर आघात
 या चोट लगने से वह विदीर्ण (Rupture) हो जाती है ।
 यह विदार चारों में से किसी एक पृष्ठ में हो सकता है ।
 बस्ति ऊर्ध्व पृष्ठभाग में विदीर्ण होने से मूत्र उदरगुहा में
 प्रवेश करेगा । इस विदार को उदरान्तरिय (Intra-
 peritoneal) कहते हैं । इसमें विदीर्ण होने के समय
 स्वधता, पीडा इत्यादि तीव्र लक्षण उत्पन्न होकर थोड़े
 समय में तीव्र उदरावरणशोथ होकर उसी से मृत्यु हो
 जाती है । बस्ति का भेद प्रायः इसी प्रकार का होता है
 और इसी से जल्दी मृत्यु होती है । यदि पार्श्विक या अधर
 पृष्ठ में भेद हुआ तो मूत्र उदरगुहा में न जाकर श्रोणिगुहा
 में उदरावरण के बाहर फैलता है । इसको उदरबाह्य
 (Extra peritoneal) विदार या भेद कहते हैं । इस प्रकार
 के विदार से कटि की संयोजक धातुओं में तीव्र स्वरूप का
 पाक (Suppurative pelvic cellulitis) उत्पन्न होकर
 पृथमयता या विषमयता से मृत्यु होती है । संक्षेप में, जब
 आगन्तुक कारणों से बस्ति विदीर्ण होगी, तब उदरबाह्य या
 उदरान्तरिय भेद होगा और दोनों में ही मृत्यु हो जायगी ।
 अश्मरीव्रणादृते—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि
 इस शब्दसमूह का अर्थ 'आकस्मिक, आघातजन्य,
 आगन्तुक और शल्यशास्त्र से जो नहीं किया गया है,

ऐसा व्रण उत्पन्न होने पर होता है । अश्मरी का व्रण शल्य-
 शास्त्र सोच-विचार करके योग्यस्थान में करता है, जिससे
 मूत्र इधर-उधर न जाकर सीधा उससे बाहर निकलता
 है और न उदरगुहा में, न कटिगुहा में विकृति पैदा होती
 है । उभयतो भिन्ने इत्यादि—इसका अभिप्राय यह है कि
 अश्मरी निकालने के लिए सावधानी से किया हुआ एक
 व्रण सुदिकल से भरता है और दो व्रणों का रोपण होना
 असंभव हो जाता है, जिससे इन व्रणों से मूत्र टपकता
 रहता है । चिकित्सास्थान के सातवें अध्याय में अश्मरी
 का जो शस्त्रकर्म वर्णन किया है, वह मूलाधारपार्श्विक बस्ति-
 भेदन (Lateral cystotomy) है । भेदन के समय यदि
 ठीक सरल भेदन न हुआ हो और त्वचादि धातुएँ अधिक
 इधर उधर कटी हुई हों तो बस्ति का मूत्र इधर उधर
 फैलकर श्रोणिगुहा में शोथ (Pelvic cellulitis) उत्पन्न
 करता है । दोनों तरफ भेदन करने से इस शोथ के उत्पन्न
 होने की संभावना दुगुनी बढ़ जाती है । इसी लिए लिखा
 है कि उभयतो भिन्न होने पर मृत्यु हो जाती है, क्योंकि
 श्रोणिगुहागत शोथ घातक होता है । संक्षेप में, प्राचीन
 काल में यद्यपि बस्तिगत अश्मरी मूलाधारपार्श्विक बस्ति-
 भेदन से निकाली जाती थी तथापि बहुत कम लोग उसके
 बाद बचते थे और जो बचते थे, उनमें से बहुतेरे लोगों में
 मूत्रस्त्रावी व्रण बनता था । चिकित्सास्थान में इस प्रकार
 स्पष्ट लिखा है—अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत् ।
 तस्मादापृच्छ्य कर्तव्यमीश्वरं साधुकारिणा ॥ नाभि—सिरामर्मेदं
 चतुरंगुलं सधोधाति च । नाभिसिराओं का प्रभव (सातवें
 अध्याय के ३ श्लोक का वक्तव्य देखो) गर्भाविस्था की दृष्टि
 से माना गया है । जन्म के पश्चात् नाभि का और सिराओं
 का कोई संबंध नहीं रहता है । नाभि के पीछे उदरगुहा
 है । उदर में सब महत्त्व के अंग होते हैं । नाभि के ऊपर
 आघात होने से भीतरी महत्त्व के अंगों के ऊपर उसका
 परिणाम होकर, अंगों के विदीर्ण होने से, प्रत्यावर्तनजन्य
 हृज्जद से या स्वधता से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है ।
 यदि किसी नोकीले शस्त्र द्वारा वेधन हुआ हो तो आन्त्र
 में छेद उत्पन्न हो सकता है और मल उदरगुहा में आने के
 कारण उदरावरण शोथ से मृत्यु हो सकती है । जब विषम
 ज्वर या कालज्वर (कालाजार) के कारण यकृत और
 झीहा बढ़ती है, तब नाभिप्रदेश या उसके आस पास
 प्रहार होने पर यकृत या झीहा विदीर्ण होकर रक्तस्राव से
 या स्वधता से रोगी की मृत्यु हो जाती है । संपूर्ण उदर
 के सामने का पृष्ठभाग मर्मस्थान है, जिस पर चोट लगने
 से मृत्यु हो सकती है । यहाँ पर उदर के दो विभाग
 किये गये हैं—बस्तिविभाग और नाभिविभाग ।
 बस्तिविभाग में जघनकपाल के पुरोर्ध्व कूटों (Anterior
 Superior Iliac Spine) को जोड़ने वाली रेखा के नीचे
 का भाग आता है और उसके ऊपर का भाग नाभिविभाग
 में आता है ।

स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्वरज-
 स्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम, तत्रापि सद्य एव

मरणं; स्तनयोरधस्ताद् द्यङ्गुलमुभयतः स्तनमूले नाम (मर्मणी), तत्र कफपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां ध्रियते; स्तनचूचुकोरुर्ध्वं द्यङ्गुलमुभयतः स्तनरोहितौ नाम, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च ध्रियते; अंसकूटयोरधस्तात् पार्श्वोपरिभागयोरपलापौ नाम, तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणम्; उभयत्रोरसो नाड्यौ वातवहं अपस्तम्भौ नाम, तत्र वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च मरणम्; एवमेतान्युदरोसोर्द्धादश मर्माणि व्याख्यातानि ॥३४॥

(छाती के मर्म—) छाती में दोनों स्तनों के मध्य प्रदेश में अवस्थान किया हुआ आमाशय का द्वार और सत्त्व, रज तथा तम का अधिष्ठान हृदय नामक मर्म है। वहाँ पर (वेध होने से) भी तत्काल मृत्यु होती है। स्तनों के नीचे दो अंगुल दोनों ओर स्तनमूल नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ (छाती) कफ से भरकर कास-श्वास से मृत्यु हो जाती है। स्तनचूचुकों के ऊपर दो अंगुल दोनों ओर स्तनरोहित नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ (छाती) रक्त से भरकर कास-श्वास से मृत्यु होती है। दोनों अंसकूटों के नीचे पार्श्वों के ऊपर के भागों पर अपलाप नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) रक्त को पूयभाव प्राप्त होकर मृत्यु होती है। छाती के दोनों ओर अपस्तम्भ नामक दो वातवह नाडियाँ हैं, वहाँ पर (वेध होने से) छाती वायु से भरकर कास-श्वास से मृत्यु होती है। इस प्रकार उदर और छाती के बारह मर्मों का व्याख्यान किया गया ॥३४॥

वक्तव्य—हृदय—सिरामर्मदं कमलमुकुलाकारमधोमुखं चतुरंगुलं च सज्जोषाति। यह वही वक्षःस्थ यन्त्र है, जिसके संकोच-विकास से संपूर्ण शरीर में रक्त का परिभ्रमण होता है। इस कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्यों का विवरण पीछे चौथे अध्याय में ३३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। इससे सत्त्वादि का अधिष्ठान हृदय क्यों माना जाता है, उसका पता चलेगा। हृदय दो स्तनों के बीच में रहता है, परंतु उसका अधिकांश बाईं ओर होता है। छाती की दीवाल के ऊपर उसका चित्र निम्न चार बिंदुओं को मिलाने वाली चार रेखाओं से खींच सकते हैं—(१) हृदय का अग्र या मुख (Apex)—इसका स्थान बाईं ओर के पंचम पशुक्रान्तर-स्थान में चूचुक के नीचे वक्षःफलक की ओर $\frac{2}{3}$ इंच या वक्ष मध्य रेखा से $\frac{3}{4}$ इंच होता है। इसी स्थान पर दर्शन या स्पर्शन से हृदय के अग्र का स्पन्द प्रतीत होता है। हृदय की विकृतियों में यह स्थान नीचे और बाहर की ओर सरकता है। हृदयाग्र का स्थानान्तर हृद्विकृति का निश्चित चिह्न है। (२) दाईं ओर का सातवाँ उपपशुक्रावक्षःफलक संधि। (३) दाईं ओर वक्षःफलक के किनारे से $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{4}$ इंच की दूरी पर तीसरी उपपशुक्रा के ऊपर के किनारे पर। (४) बाईं ओर वक्षःफलक के किनारे से एक इंच दूसरी

उपपशुक्रा के निचले किनारे पर। अब प्रथम और द्वितीय बिंदु इस प्रकार से जोड़ो कि रेखा वक्षःफलक के मध्यभाग और अग्रपत्र (Xiphoid) के संयोगस्थान में से होकर चली जावे। यह रेखा हृदय का निचला किनारा बताती है। फिर दूसरा और तीसरा बिंदु इस प्रकार से जोड़ो कि चौथे उपपशुक्रा पर रेखा का उभार वक्षमध्य से ९५ इंच का हो जावे। इससे हृदय का दायाँ किनारा बनता है। फिर चौथे और पहले बिंदु को इस प्रकार से जोड़ो कि रेखा का कुछ उभार दाईं ओर हो जावे। यह हृदय का बायाँ किनारा है। आमाशयद्वारम्—अरुणदत्त अष्टांगहृदय की टीका में इसका अर्थ लिखते हैं—तच्चा माशयस्य द्वारं मुखम्। तेन हि द्वारेणात्रपानमाशयस्य प्रविशति। (शा० ४)। यह अर्थ गलत है। हृदय आमाशयद्वार इसलिए कहा गया है कि वह आमाशयद्वार के बहुत समीप रहता है। हृदय महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm उदरवक्षगुहा विभाजक) के ऊपर स्थित है। गले से निकली हुई अन्नप्रणाली हृदय-समीपवर्ती महाप्राचीरा के छिद्र में से उदरगुहा में प्रवेश करके आमाशय से मिलती है। आमाशय का यह ऊपर का द्वार हृदय के बहुत समीप होता है। दोनों में केवल महाप्राचीरा पेशी होती है। इस कारण से आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा में भी आमाशय का ऊपर का द्वार हार्दिक द्वार (Cardiac orifice) कहलाता है—तत्रापि ऊर्ध्वद्वारमन्नलिकाद्वारानुबन्धि—तस्य हार्दिकं द्वारमिति संज्ञा हृदयसंनिध्यात्। (प्रत्यक्षशारीर)। इसके सिवाय आमाशय का मोटा भाग, जहाँ पर अन्न इकट्ठा होता है, हृदयसमीप होने के कारण हार्दिक भाग (Cardiac portion) कहलाता है। इस सांनिध्य के कारण ही अधिक भोजन करने पर उसका भार हृदय पर पड़ता है और उसके कार्य में बाधा उत्पन्न होती है। मात्रानुसार भोजन का एक लक्षण जो 'अन्नेन हृदयाबाधः' वह इसी समीपता के कारण होता है। स्तनमूले—सिरामर्मणी द्यङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च। (डल्हण)। स्तनरोहिते—स्तनचूचुकोरुर्ध्वं द्यङ्गुले स्तनरोहिते। अर्धाङ्गुलमिमे मांसमर्मणी परिकीर्तिते। रक्तपूरितकोष्ठस्य कालान्तरप्रकारिणी ॥ अपलापौ—सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च। अपस्तम्भौ—सिरामर्मणी अर्धाङ्गुलप्रमाणे कालान्तरप्राणहरे च। (डल्हण)।

प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से हृदय को छोड़कर छाती के अन्य मर्मों का अंगविनिश्चय विशेष महत्त्व का नहीं है। छाती में दो ही मर्मस्थान होते हैं—एक रक्तवाहिनी युक्त हृदय और दूसरा फुफ्फुस। ये दोनों वक्षगुहा को पूर्णतया व्यापते हैं। हृदय का स्वतन्त्र निर्देश किया गया है। शेष मर्मों का किसी न किसी प्रकार से फुफ्फुस के साथ संबंध आता है। क्योंकि स्तनमूल में कफपूर्णकोष्ठतया, स्तनरोहित में लोहितपूर्णकोष्ठतया, अपलाप में रक्तेन पूयभावगतेन और अपस्तम्भ में वातपूर्णकोष्ठतया मृत्यु होती है। यहाँ पर कोष्ठ शब्द फुफ्फुसवाचक है। छाती पर आघात, वेध इत्यादि होने से छाती की दीवाल पसली इत्यादि

टूट जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि बाहर की हवा फुफ्फुसावरण के भीतर जाकर वातोरस (वातपूर्णकोष्ठता Pneumothorax) हो सकता है। बाहर के जीवाणु भीतर प्रवेश करके न्युमोनिया, ब्रान्को न्युमोनिया (कफपूर्णकोष्ठता) हो सकती है। बाहर की दीवाल में टूट-फूट या घाव न होते हुए भी भीतर रक्तवाहिनियों के विदीर्ण होने से रक्तोरस (शोणितपूर्णकोष्ठता Haemothorax) या फुफ्फुसगत रक्तस्राव और तज्जन्य रक्तछीवन (Haemoptysis उरःक्षत, श्रुमभ्याहतस्य वा। विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीयते। चरक) हो सकता है, या भीतर का सुस उपसर्ग उत्तेजित होकर पूयोरस (Empyema), राजयक्ष्मा (Pulmonary tuberculosis) इत्यादि रोग उत्पन्न हो सकते हैं—Pneumonia may follow directly upon injury, particularly of the chest, without necessarily any lesion of the lung. Trauma, as for example a blow on the chest may be followed by local tuberculosis. *Oster's Medicine*. Trauma involving the chest wall, may be followed by active pulmonary tuberculosis. Haemoptysis occurs pregnantly in wounds of the chest both penetrating and non-penetrating. Inflammatory serous effusion may also occur as a complication of injury to the chest wall. In most of these conditions the exudate often becomes purulent. *Text-book of medicine by F. W. Price*. Haemothorax commonly results from wounds, injuries etc. *Taylor's Medicine*. ये सब रोग कालान्तर प्राणहर हैं, इसमें भी संदेह नहीं है। अतः स्तनमूलवेध की कफपूर्णकोष्ठता से राजयक्ष्मा, न्युमोनिया या ब्रान्को न्युमोनिया, स्तनरोहित वेध की शोणितपूर्णकोष्ठता से फुफ्फुसगत रक्तस्राव (Haemoptysis), अपस्तम्भवेध की शोणितपूर्णकोष्ठता से वातोरस (Pneumothorax), और अपलापवेध की पूयभावगत रक्तता (यह भी कोष्ठ की है, इसमें संदेह नहीं) से पूयोरस (Empyema) समझना उचित है। ये रोग छाती के एक विशिष्ट भाग में आघात होने से होते हैं, सो नहीं है। तथापि व्यवहार के लिए स्तनमूल से lower portion of the pectoralis major (suspensory ligament of the inamra रसयोग), स्तनरोहित से Internal mammary vessels, अपलाप से lateral thoracic and subscapular vessels (Medial walls of the axilla रसयोग), और अपस्तम्भ से two bronchii (नाडीशब्देनेह वातवहत्वेन विवक्षितासु वक्षोगतासु सिरासु मध्ये फुफ्फुसाद् हृदयगामिन्यौ लायुसचिवे द्वे सिरे लक्ष्येते। हाराणचन्द्र) समझ सकते हैं।

अत ऊर्ध्वं पृष्ठमर्माणि व्याख्यास्यामः—तत्र पृष्ठ-वंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी कटीकत-

रणे नाम मर्मणी, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुविवर्णो ह्रीनरूपश्च म्रियते, पार्श्वजघनबहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतो (नातिनिम्ने) कुकुन्दरे नाम मर्मणी, तत्र स्पर्शज्ञानमधःकाये चेष्टोपघातश्च; श्रोणीकाण्ड-योरुपर्याशयाच्छादनौ पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ नितम्बौ नाम, तत्राधःकायशोषो दौर्बल्याच्च मरणम्; अधः-पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्यग्ूर्ध्वं च जघनात् पार्श्वसन्धी नाम, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठ-तया म्रियते; स्तनमूलादजुभयतः पृष्ठवंशस्य बृहत्स्यौ नाम, तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्म्रियते; पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसंबद्धे अंसफलके नाम, तत्र बाह्योः स्वापशोषौ; बाहुमूर्धग्रीवामध्येऽ-सपीठस्कन्धनिबन्धनावंसौ नाम, तत्र स्तब्ध-बाहुता; एवमेतानि चतुर्दश पृष्ठमर्माणि व्याख्या-तानि ॥३५॥

(पीठ के मर्म—) अब इसके बाद पीठ के मर्मों का व्याख्यान करते हैं—पृष्ठवंश के दोनों ओर प्रत्येक श्रोणि-काण्ड में कटीकतरुण नामक अस्थिमर्म है, वहाँ पर (वेध होने से मनुष्य) रक्तक्षय से पाण्डु, विवर्ण और क्षीणदेह होकर मरता है। पृष्ठवंश के दोनों ओर जघनास्थि के पार्श्वों के बाहर के भाग में (किञ्चित् निम्न) कुकुन्दर नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे के शरीर में सुन्नता और चेष्टानाश होता है। श्रोणिकाण्डों के ऊपर आशय को आच्छादन करने वाले और दोनों पार्श्वों के जोड़ने वाले नितम्ब नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे का शरीर सूख जाता है और कमजोरी से मृत्यु होती है। श्रोणिकपालों के नीचे बँधे हुए जघनपार्श्वों के मध्य में और जघन से तिरछा और ऊपर की ओर पार्श्वसंधि नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ के रक्त से भर जाने के कारण मृत्यु होती है। पृष्ठवंश के दोनों ओर स्तनमूलों की सीध में बृहती नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) रक्त के अतिस्राव की प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होने वाले उपद्रवों से मृत्यु होती है। पीठ पर पृष्ठवंश के दोनों ओर त्रिक से संबंधित अंसफलक नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बाहुओं का शोष (कृशता) और सुन्नता होती है। बाहुशिर और ग्रीवा के मध्य में अंसपीठ और कंधे को बाँधने वाले अंस नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बाहुओं की स्तब्धता (अकर्मण्य) होती है। इस प्रकार चौदह पीठ के मर्मों का व्याख्यान किया गया है ॥३५॥

वक्तव्य—कटीकतरुण—प्रतिश्रोणिकाण्डमित्यत्र 'प्रतिश्रोणि-कर्णौ' इति केचित्पठन्ति। तत्र श्रोणिकर्णौ लक्ष्यीकृत्य त्रिकसन्निधाने श्रोण्यामुपरि अस्थिमर्मणी, अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च। (डल्हण)। पृष्ठवंशं पृष्ठवंशपुच्छसंसक्तत्वेन तद्व्यतिभातस्य

नितम्बप्रदेशस्योभयतः उभयपार्श्वे इत्यर्थः । प्रतिश्रोणिकाण्डमिति प्रतिरयं भागार्थः, काण्डं शाखेति पर्यायी, श्रोण्याः सव्यापसव्ये भाग इत्यर्थः । अस्थिनी अधस्त्रिद्वे किञ्चित् साचीकृते ऊर्ध्वधोभिः संयुक्ते द्वे कपाले इत्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । कुकुन्दरे—पार्श्वयोर्वामदक्षिणसंज्ञकयोः, जघनवहिर्भागे इति कथ्याः पश्चाद् भागे, गयी तु 'पार्श्वजघनभागे' इति पठित्वा पार्श्वयोजनभागे अधोभागे नितम्बे निम्ने कुकुन्दरे इति व्याख्याति । संघिमर्मणी अर्धाङ्गुले ईषन्निम्नाकारे वैकल्यकरे चेति । (डल्हण) । कुकुन्दरौ स्फिचोरुपरि उन्नतभागौ । (चक्रपाणि, चरक, शा० ७) । जघनशब्देन कटिसामान्यमभिधीयते । स्त्रीकथ्याः पुरोभागे तावत्सुप्रसिद्धो जघनशब्दः कटिसामान्येऽपि क्वचित् प्रयुज्यमानो दृश्यते 'पीनस्तनजघनायाः' इति । किं पुनरत्र युक्तं कटिसामान्यमिति, कुतः, अविशेषेणेह स्त्रीपुंसोरुभयोरेव मर्मोपदेशात् । एवं कटिसामान्यवचनस्यास्य जघनशब्दस्य तद्वत्तदस्मिन् तात्पर्यमिति बुद्धिमारोहति कुकुन्दराधिष्ठानत्वेनाऽभिधानात् । तथा च पार्श्वजघनवहिर्भागे इति जघनयोः कटिकपालयोः पार्श्वे इति पार्श्वजघने तयोर्वहिर्भागेऽधः प्रदेशे, पृष्ठवंशमुभयतः पृष्ठवंशत्वेन विजुम्भितयोनितम्बास्त्रोरुभयपार्श्वे नातिनिम्नेऽपि तदावृत्तत्वेनानतिगंभीरे कुकुन्दरे आवर्ताकारे द्वे शुषिरे इत्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । नितम्बौ—पूर्वोक्तश्रोणिकाण्डयोरुपरि, आशयच्छादनौ आमाशयपिधायकौ, पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ पार्श्वमध्ये प्रतिबद्धौ नितम्बौ, अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (डल्हण) । इदमत्रामनन्ति—'श्रोणिगुदयोरुपर्ययो नामैः पकाशयः' इति । श्रोणिकाण्डे प्रत्यक्षिते च द्वे कपाले किञ्चित् साचीकृते इत्युच्यते । तदिदानीमूर्ध्वधोः संयुक्तयोरनयोर्मध्यगतेनान्तरेण पकाशयस्य योऽशो दृष्टिपथमारुरुक्षति तदाच्छादनी तु नितम्बावित्युपदिशन्नाह—श्रोणीति । (हाराणचन्द्र) । पार्श्वसंधि—अधोभागे यत्पार्श्वयोरन्तरं मध्यं तत्प्रतिबद्धौ, जघनपार्श्वमध्ययोरिति पश्चाद्भागपार्श्वभागयोर्यौ मध्यौ वामदक्षिणी भागौ तयोः, कथं स्थितावित्याह—तिर्यग्ध्वं चेति उपर्युपरि पशुक्रान्तां कमृद्धेः संघेरपि तिर्यग्ध्वत्वं, जघनादिति त्यपि लुप्ते पञ्चमीयम्, तेन जघनपश्चाद्भागमाश्रित्य स्थितौ पार्श्वसंधी, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (डल्हण) । अधःपार्श्वान्तरेति प्रत्यासत्त्या श्रोणिकाण्डयोरेव अन्तरं छिद्रमिति पर्यायी । तथा च अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ कुकुन्दरप्रतिबद्धाविति तात्पर्यम् । जघनपार्श्वमध्ययोः कटिकपालयोः पार्श्वे मध्ये च । तथा जघनातिर्यग्ध्वमूर्ध्वप्रदेशे पृष्ठवंशस्योभयपार्श्वे इति यावत्, सिरामर्मत्वेनोपदेशात् वर्तमानौ स्नायुसहकृतौ सिराविशेषौ पार्श्वसंधी नाम इति प्रत्येत्यम् । (हाराणचन्द्र) । बृहत्तौ—सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरे मृत्युप्रदे च । स्तनमूले लक्ष्मीकृत्य ऋजुशलाकावेधनन्यायेन पृष्ठवंशस्योभयपार्श्वे अंसफलके—पृष्ठोपरि पृष्ठवंशस्यायतत्वात् प्रदेशनियमाथ पृष्ठोपरीत्युक्तम् । त्रिकलंबं इति ग्रीवाया अंसद्वयस्य च यः संयोगः स त्रिकः, तत्र संबन्धे अंसफलके, अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च । (डल्हण) । अंसगतं हि त्रिकमंसाक्षकांसफलाग्रसन्निपातमुपदिशन्ति तदिदमुच्यते त्रिक इति । (हाराणचन्द्र) ।

पृष्ठ के जो चौदह मर्म हैं, उनके दो विभाग होते हैं । प्रथम निम्न विभाग है जिसमें कटीकतरुण, कुकुन्दर, नितम्ब और पार्श्वसंधि ये आठ याने एक एक पक्ष के चार चार मर्म आते हैं । द्वितीय ऊर्ध्वविभाग है जिसमें बृहती, अंसफलक

और अंस ये छः याने एक एक पक्ष के तीन मर्म आते हैं । निम्न विभाग के सब मर्म नितम्ब या श्रोणीप्रदेश (Gluteal region) में एकत्र हुए हैं और ऊर्ध्वविभाग के मर्म ग्रीवा और दो अंसफलक इनसे मर्यादित स्थान में एकत्र हुए हैं । अर्थात् इन दोनों के बीच के प्रदेश में (नौवें पृष्ठ कशेरु से त्रिकसंधान तक) कोई मर्म नहीं है । श्रोणीप्रदेश के मर्मों का वर्णन इतना स्वल्प और अस्पष्ट है कि प्रत्येक मर्म से श्रोणीप्रदेश के एकाध मर्यादित अंग का अर्थ निकालना कठिन है । इसलिए प्रत्येक मर्म के संबंध में डल्हण और हाराणचन्द्र की टीका ऊपर दी हुई है । श्रोणीप्रदेश में उत्तरा और अधरा नितम्बिनी नाडियाँ और धमनियाँ (Inferior or superior gluteal nerves and arteries) गुदोपस्थिका नाडी और धमनी (Internal pudendal) और गृध्रसी नाडी (Sciatic nerve) ये महत्त्व के अंग हैं । धमनियों के टूट जाने से रक्तक्षय, पाण्डु इत्यादि और नाडी के ऊपर वेध होने से चेष्टोपरम, स्पर्शज्ञान ये लक्षण होते हैं । इनके सिवाय पेशियों का वेध होने से भी चेष्टोपघात हो सकता है । ये मर्मांग कुकुन्दरकूट (Ischial Tuberosity) ऊर्वस्थिमहाशिखर (Greater trochanter) और जघनकपाल का ऊपर का किनारा इनके बीच में होता है । अर्थात् इस स्थान में वेध होने से नाडी या धमनी के अनुसार लक्षण पैदा होंगे । यदि प्रत्येक मर्म के लिए स्वतन्त्र नाम देना हो तो निम्न प्रकार से दे सकते हैं—कटीकतरुण—Sciatic notch; कुकुन्दर—Ischial tuberosity (रसयोगसागर के अनुसार Anterior superior iliac spines); नितम्ब—Ala of the ilium (रसयोगसागर के अनुसार Gluteal region) । अब पार्श्वसंधि का प्रश्न रहा । इसके वेध से लोहितपूर्णकोष्ठता से मृत्यु होती है । यहाँ पर संदर्भानुसार कोष्ठ का अर्थ श्रोणिगुहा करना चाहिए । बाहर की किसी धमनी के विच्छेद होने से श्रोणिगुहा में रक्तस्राव नहीं होगा । अर्थात् पार्श्वसंधि श्रोणिगुहागत कोई धमनी होनी चाहिए । इस दृष्टि से, जैसे कि रसयोगसागर में सूचित किया है, पार्श्वसंधि से Common iliac artery का ग्रहण कर सकते हैं या उसकी अन्य शाखा-प्रशाखा का ग्रहण कर सकते हैं ।

ऊर्ध्ववर्ग के मर्मों में बृहती से अंसफलक के लंबे किनारे के पास होने वाली धमनियों का (Subscapular and transverse cervical) ग्रहण किया जा सकता है । अंसफलक से यद्यपि पूरे फलक (Scapula) का अर्थ निकल सकता है तथापि उससे अंसप्राचीरक (spine) के ऊपर का हिस्सा लेना उचित है । इस विभाग में अध्वंसिका (Suprascapular) नाडी होती है तथा अंस की पेशियों के निवेश होते हैं, जिनके वेधन से बाहु की कृशता और सुखता हो सकती है । अंस से अंससंधान (Shoulder joint) के स्नायुओं का ग्रहण कर सकते हैं । इसी में पृष्ठच्छदा (Trapezius) पेशी के निवेश का समावेश होता है । इस स्थान में वेध होने से स्वभावतः बाहु का काम बंद हो जाता है । अष्टांगहृदय में अंस का कार्य बाहुक्रिया का ही दिया है—अंसौ बाहुक्रियाकरौ । (शा० ४) ।

अत ऊर्ध्वमूर्ध्वजत्रुगतानि व्याख्यास्यामः—तत्र कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये व्यत्यासेन, तत्र मूकता स्वरवैकृतमरसग्राहिता च; ग्रीवायामुभयतश्चतस्रः सिरा मातृकाः, तत्र सद्यो-मरणं; शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके नाम, तत्र चलमूर्धता ॥३६॥

(ग्रीवा के मर्म—) अब इसके बाद जत्रु के ऊपर के मर्मों का व्याख्यान करेंगे । कण्ठनाडी के दोनों ओर व्यत्यास से दो नीला और दो मन्या नामक चार धमनियाँ हैं । वहाँ पर (वेध होने से) गूँगापन, स्वर में विकृति और (जिह्वा के) रसज्ञान का अभाव होता है । ग्रीवा के दोनों ओर मातृका नामक चार चार सिराएँ हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है । सिर और ग्रीवा के जोड़ पर कृकाटिक नाम का मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) सिर हिलता है ॥३६॥

वक्तव्य—कण्ठनाडी—श्वास का मार्ग, जिसमें स्वर-यन्त्र और नीचे की श्वासप्रणाली इन दोनों (Larynx and trachea) का समावेश होता है । व्यत्यासेन—एक नीला और एक मन्या एक तरफ और वैसा ही दूसरी तरफ—एका नीला, एका मन्या चैकस्मिन् पार्श्वे, अन्या नीला अन्या मन्या चापरस्मिन् पार्श्वे । (डल्हण) । नीले मन्ये—सिरामर्मणी चतुरंगुले वैकल्यकारिणी च । (डल्हण) । नीला और मन्या के वेधन से होने वाले सब लक्षण वातिक (Nervous) हैं । ये वातिक लक्षण स्वरयन्त्र और जिह्वा की नाडियाँ (Nerves) खराब होने से या इनकी धमनियों का नाश होने से हो सकते हैं । गले में जिह्वा और स्वरयन्त्र की स्वरयन्त्रगा उत्तरा (Superior laryngeal), कंठरासनी (Glossopharyngeal) और जिह्वामूलीनी (Hypoglossal) ये नाडियाँ होती हैं तथा उत्तरग्रीविका (Superior thyroid) और अनुजिह्विका (Lingual) ये धमनियाँ भी होती हैं । यदि नीले और मन्ये इनके वेध से होने वाले परिणामों के ऊपर ध्यान देकर इनका अंगविनिश्चय करना हो तो इनसे उपर्युक्त नाडियों का और धमनियों का ग्रहण करना उचित है । मन्या के संबंध में चरक में निम्न वचन मिलता है—तस्य चेन्मन्ये परिशृङ्गयमाने न स्पन्देयातां, परासुरिति विधात । (इन्द्रियस्थान ४) । इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—मन्ये गलपार्श्वगते धमन्यौ । इस वचन का विचार प्रत्यक्ष शरीर की दृष्टि से करने पर मन्या से Carotid arteries का ग्रहण करना पड़ेगा और नीला से Jugular veins का ग्रहण होगा । पं० हरिप्रपन्नजी नीला और मन्या से इन्हीं अंगों का ग्रहण करते हैं । नीले और मन्ये वैकल्यकर मर्म हैं (१९वाँ श्लोक देखो); क्यारोटिड धमनी इतनी महत्त्व की है कि उसके वेध से मृत्यु होने की संभावना अधिक होती है । इससे यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से मन्या के अंगविनिश्चय में

भिन्नता होती है । मातृका—सिरामर्मणि चतुरंगुलप्रमाणानि मातृकाः । (डल्हण) । ग्रीवा के दोनों ओर क्यारोटिड धमनी और इन्टर्नल जुगुलर सिरा के अलावा कई अन्य सिराएँ होती हैं । यदि वेध के परिणाम के अनुसार इनका विचार करना हो तो मातृकाओं से Internal and external carotid arteries and internal and external jugular veins का ग्रहण करना उचित है । यदि अर्थ के ऊपर ध्यान न देकर केवल ग्रीवा के दोनों तरफ की सिराओं की संख्या का विचार करके निर्णय करना हो तो, जैसे पं० हरिप्रपन्नजी समझते हैं, वैसे मातृकाओं से ग्रीवा की उत्तान सिराओं का (Anterior, external, posterior external jugular veins और Common facial veins) ग्रहण कर सकते हैं । संक्षेप में, नीला, मन्या और मातृका की ठीक निश्चिति करना कठिन है । तथापि इनके द्वारा यह यह बताया गया है कि ग्रीवा के सामने का दोनों तरफ का भाग एक महत्त्व का मर्मस्थान है । इस स्थान को मन्यास्थान भी कहते हैं—महादेवतुर्बली वायुः सिराः सखायु-कण्ठराः । मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्याः संशोष्यायामयेद् बहिः ॥ कृकाटिका—यहाँ के वर्णन के अनुसार कृकाटिका ग्रीवा और सिर के संयोगस्थान का पीछे का भाग है । म० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशरीर में 'कृकाटिकं नाम अङ्गुलीयकारं तरुणासि स्वरयन्त्राधरावयवभूतम्' इस प्रकार वर्णन करते हैं । यह अर्थ सुश्रुतसंमत नहीं है । अवटु और कृकाटिका दोनों ही सिर के पीछे के भाग हैं । कृकाटिका Articulation between the occipital and Atlas.

कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते विधुरे नाम, तत्र बा-धिर्यं; घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिवद्धे अभ्यन्तरतः फणि नाम, तत्र गन्धाज्ञानं; भ्रूपुच्छान्तयो-रधोऽक्षोर्बाह्यतोऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा; भ्रुवोरुपरि निम्नयोरावर्तौ नाम, तत्राप्यानध्यं दृष्ट्युपघातो वा; भ्रुवोः पुच्छान्तयोरुपरि कर्ण-ललाटयोर्मध्ये शङ्खौ नाम, तत्र सद्योमरणं; शङ्खयो-रुपरि केशान्त उत्क्षेपौ नाम, तत्र सशल्यो जीवति पाकात् पतितशल्यो वा नोद्धृतशल्यः; भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी नाम, तत्रोत्क्षेपवत्; पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाशै-र्मरणं; घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तान्नि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणं; मस्तकाभ्यन्तरत उप-रिष्ठात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एव । एवमेतानि सप्तत्रिंशदूर्ध्वजत्रु-गतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥३७॥

१ भ्रुवोरन्तोपरि. २ शृङ्गाटकसंज्ञश्चतुर्धा, तत्रापि. ३ सद्यो-मरणं.

(शिर के मर्म—) कान के पीछे, नीचे की ओर आश्रित हुए विधुर नामक दो मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बधिरता होती है । नासामार्ग के दोनों ओर भीतर (नासा छत के पास श्रोत्र) छोट मर्म से बँधे हुए फण नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) गंध का ज्ञान नष्ट होता है । भ्रू-पुच्छों के अन्त के नीचे आँखों के बाहर की ओर अपांग नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) अंधापन अथवा दृष्टि की क्षीणता होती है । भौंहों (के पुच्छान्त) के ऊपर निम्न भागों में आवर्तनामक मर्म हैं, वहाँ पर भी (चोट लगने से) अंधापन और दृष्टि की कुछ क्षीणता होती है । भौंहों के पुच्छों के सिरों के ऊपर कान और माथे के बीच में शङ्ख नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है । शङ्ख के ऊपर केश समाप्त होने के स्थान पर उत्क्षेप नामक मर्म हैं, वहाँ पर (यदि कोई शल्य चुभ जाय तो) शल्य के साथ बचता है, अथवा (कुछ देर के बाद वहाँ पर) पाक (पीप) उत्पन्न होने से शल्य गिर जाने पर बचता है, (शल्य चुभते ही) शल्य को निकालने से नहीं बचता है । दोनों भौंहों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहाँ पर भी (शल्य का परिणाम) उत्क्षेपवत् होता है । शिर (की खोपड़ी) में विभाग करने वाली सीमन्त नामक पाँच संधियाँ हैं, वहाँ पर (चोट लगने से) उन्माद, भीति, चित्तनाश से मृत्यु होती है । नाक, कान, नेत्र और जिह्वा इनका सन्तर्पण करने वाली सिराओं के मध्य में शृङ्गाटक नामक सिरासन्निपात है, ये चार मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है । मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर सिरा और संधियों का सन्निपात, बालों का आवर्त (अधिपति) नामक मर्म है, वहाँ पर भी (चोट लगने से) तत्काल मृत्यु होती है । इस प्रकार ऊर्ध्वजुगुत सैतीस मर्मों का विवरण किया गया ॥३॥

वक्तव्य—विधुर—स्नायुमर्मणी किञ्चिन्निष्कारे वैकल्य-कारिणी च । (डल्हण) आगे सिरावर्णविभक्ति अध्याय में 'द्वे विधुरयोः, एवं ग्रीवायां षोडशवध्याः' करके ये सिराएँ बतलाई गई हैं । अष्टांगहृदय में विधुर धमनी मर्म बतलाया गया है और इनका स्थान ठीक कान के नीचे के निम्न स्थान में दिया है—अधस्तात्कर्णयोर्निम्ने विधुरे श्रुतिहारिणी । इस स्थान पर पश्चिमकर्णिका (Posterior auricular) नामक सिरा और धमनी होती है, जो कान के नीचे के स्थान से प्रारंभ होकर कान के पीछे से ऊपर चली जाती है । इस धमनी या सिरा का वेध होने से बधिरता होने की संभावना होती है । कान के ऊपर जोर की चोट लगने पर सिरा के साथ कान का पर्दा (Tympanum) विदीर्ण होने से या यदि चोट बहुत प्रबल हो, कर्णनाडी की खराबी होने से भी बाधिर्य उत्पन्न हो सकता है । फणे—घ्राणमार्गस्य द्वयोः पार्श्वयोरभ्यन्तरविवरद्वारसंबद्धे फणे, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च । (डल्हण) । अष्टांग-हृदय में फण का वर्णन निम्न प्रकार का है—फणादुभयतो घ्राणमार्गं श्रोत्रपथानुगौ । अन्तर्गलस्थितौ वेधाद्वन्धविज्ञानहारिणी ॥

इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—घ्राणमार्गस्योभयोः श्रोत्रपथानुगौ श्रोत्रमार्गप्राप्तौ, अन्तर्गलस्थितौ गलाभ्यन्तरे स्थितौ, फणाविव संस्थानं रूपमनयोः फणाविति नाम । यहाँ पर श्रोत्रपथ से श्रुतिसुरंगा का द्वार (Orifice of the auditory tube) अभिप्रैत है । इस विवरण से फणों का स्थान नासा में भीतर और ऊपर श्रोत्रमार्ग तक होता है । इसी स्थान को नासा-गुहा कहते हैं । इसके ऊपर के भाग में तथा उसके सामने की नासाप्राचीर में गंधनाडी (Olfactory nerve) की शाखा-प्रशाखाएँ फैली रहती हैं, जिनके द्वारा गंधग्रहण होता है । फणे—Olfactory regions of the nasal cavities । अपाङ्गौ—सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकरे च । (डल्हण) । भ्रुवोः संबंधिनोः पुच्छान्तयोर्बाह्यान्तयोरपि अक्षोश्च बहिरपङ्गौ मर्मणी । (इन्दु) । Zygomatico, temporal vessels at the outer corner or canthus of the eye । आवर्तौ—सन्धिमर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च । (डल्हण) । भ्रुवोरुपरि—भ्रुवोः पुच्छान्तयोरुपरि । (अरुणदत्त) । गण्डास्थि, पुरःकपाल और जतुकास्थि के संधिस्थान (Junction of frontal, malar and sphenoid bone) पर यह मर्म होता है । शङ्खौ—अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले (सप्तःप्राणहरे च) । (डल्हण) । शङ्खमर्म शङ्खास्थि (Temporal bone) का वह हिस्सा है, जिसको कनपटी (Temples) कहते हैं । इस प्रदेश के ऊपर अनुगंखा उत्ताना (Superficial temporal) और शङ्खास्थि के भीतरी पृष्ठभाग पर मस्तिष्कवृत्तिगा मध्यमा (Middle meningeal) नामक धमनियाँ होती हैं । शङ्खप्रदेश पर आघात होने से स्तब्धता के कारण तत्काल मृत्यु हो सकती है, किंवा भीतरी धमनी टूटने के कारण मस्तिष्क में रक्त-स्त्रावजन्य पीडन (Compression) से मृत्यु होती है । उत्क्षेपौ—स्नायुमर्मणी अर्धाङ्गुले विशल्यप्राणहरे च । (डल्हण) । इससे शङ्खस्थान की सावरण पेशी (Temporal fascia and muscle) का बोध होता है । स्थपनी—सिरामर्म अर्धाङ्गुलं विशल्यघ्नं च । (डल्हण) । इसको कूर्च भी कहते हैं—कूर्च-मखी भ्रवोर्मध्ये । (अमरकोश) । अंग्रेज़ी में इसको ग्लबेला (Glabella) कहते हैं । इस स्थान पर ललाटिका सिरा (Frontal vein), या दोनों ओर की ललाटिका सिराओं को जोड़ने वाली सिरा (Nasal arch) होती है । स्थपनी के पीछे ललाटकौटर (Frontal sinus) होते हैं । सीमन्ताः—इमानि संधिमर्माणि चतुरंगुलप्रमाणानि कालान्तरप्राणहराणि च । (डल्हण) । ये वे ही सीमन्त (Sutures of the cranium) हैं, जिनका वर्णन पाँचवें अध्याय के १४वें सूत्र में सीवनी करके किया गया है । शिर के ऊपर आघात होने से निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—शिरस्थमिहते मन्यास्तम्भादितचक्षु-र्विभ्रममोहवेष्टनचेष्टानाशकासश्वासहनुग्रहभूकगद्गत्वाक्षिनिमीलन-गण्डस्पन्दनजुम्भणलालास्त्रावस्वरहानिवदनजिह्वादीनि । (चरक, सिद्धि ९) । ये लक्षण मस्तिष्कसंवटन (Cerebral concussion), मस्तिष्कपीडन (Compression), मस्तिष्कप्रक्षोभ (Irritation) के कारण उत्पन्न होते हैं और इन्हीं से कालान्तर में मनुष्य की मृत्यु होती है । श्रद्धाटक—इमानि

सिरामर्माणि चतुरंगुलप्रमाणानि । (डल्हण) । मस्तिष्कमूल में Cavernous और Intercavernous sinus करके जो सिरासन्निपात है, वही शृङ्गाटक है । इसमें आँखों की सिराएँ सीधी मिलती हैं और नासाकर्ण की अप्रत्यक्षतया मिलती हैं । इसका आकार भी चतुष्कोण होता है । सिर के ऊपर, सिर के पीछे, हनु के ऊपर जोर का आघात होने से करोटी मूलास्थिभंग होता है, जिसमें शृङ्गाटक तथा सुषुम्ना-शीर्ष इत्यादि विदीर्ण होकर मृत्यु होती है । अष्टांगहृदय में शृङ्गाटक धमनी मर्म बतलाये हैं । अधिपतिः—मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्ठादिति मस्तकस्याभ्यन्तरोर्ध्वमिलयः, सिरासन्ध्योः सन्निपातो रोमावर्तः, बहिरस्य लक्षणमुपरिष्ठाद्रोमावर्तः, एतत् संधिमर्म अर्धांगुलप्रमाणं च । (डल्हण) । इसका मतलब यह है कि अधिपति मर्म खोपड़ी के भीतर सिराओं के सन्निपात से बना हुआ है । यह संधिमर्म है, इसका अर्थ सिरासंधिमर्म अस्थि-संधिमर्म नहीं । और इस अभ्यन्तरीय मर्म की बाहर की निशानी (Surface marking) रोमावर्त, याने जहाँ पर सिर के बालों में आवर्त दिखाई देता है, वह स्थान है । इस वर्णन के अनुसार अधिपति मर्म से आधुनिक शारीर वर्णन की दृष्टि से मस्तिष्कवृत्ति में पीछे की ओर मिलने वाले सिरासरित् सन्निपात (Confluence of sinuses या Torcular Herophili) का बोध होता है । म० म० गणनाथ सेनजी प्रत्यक्षशारीर के सिराविभाग में अधिपति का यही अर्थ देते हैं—महासिरावर्तों नाम पूर्वोक्तानां पञ्चानामपि सिरासरितां संधिसन्निपातः पश्चिमकपालस्याभ्यन्तरतलेन्द्रस्यः । तमधिपतिसंज्ञं सद्योमारकं मर्मेति वर्णयन्ति प्राञ्चः ॥ परंतु अस्थि-विभाग में पश्चिमकपाल और पार्श्वकपालों के संधिस्थान (Posterior fontanelle) को अधिपति मर्म बताते हैं—पश्चिममध्यसीमन्तयोस्तु संधिस्थलं शिवरन्ध्रमधिपतिरन्ध्रं वा नाम तदाल्यमर्मधारणात् ॥ यद्यपि ये दोनों स्थान बहुत समीप हैं, तथापि शिवरन्ध्र में सिराओं के संधियों का सन्निपात न होने से उसको अधिपति मर्म मानना उचित नहीं है । इस मर्म का स्थान कुछ नीचा गुद्दी (अवटु) के पास भीतर होता है । इसके सिवाय शिवरन्ध्र का ग्रहण पाँच सीमन्तमर्मों में हो जाता है । शिवरन्ध्र की अपेक्षा ब्रह्मरन्ध्र (Anterior-fontanelle) अधिक महत्त्व का होने पर भी उसका उल्लेख मर्मों में नहीं, इसका कारण यह है कि ये रन्ध्र सीमन्तों में आ जाते हैं । इसलिए अधिपति मर्म से शिवरन्ध्र न समझकर महासिरावर्त ही समझना उचित है । इस तरह सिर में कुल तेईस मर्म होते हैं । इन मर्मों से सिर का कोई हिस्सा नहीं बचा है । इनके निमित्त संपूर्ण सिर का वर्णन मिलता है । जैसे कि चरक के त्रिमर्मीय अध्याय में कहा है, वैसे ही संपूर्ण शिर एक मर्म कहने से भी सिर का वही एक महत्त्व रहता जो यहाँ पर तेईस मर्मों के वर्णन से रहता है । इसलिए इस अध्याय के प्रथम सूत्र के वक्तव्य में लिखा है कि मर्मों के वर्णन के फायदे शरीररक्षा और शस्त्रकर्म की दृष्टि से जैसे होते हैं, वैसे ही शारीर अंगविनिश्चय की दृष्टि से भी होते हैं ।

भवन्ति चात्र—

ऊर्ध्वः शिरांसि विटपे च सकक्षपाश्वे
एकैकमङ्गुलमितं स्तनपूर्वमूलम् ।
विद्व्यङ्गुलद्वयमितं मणिबन्धगुल्फं
श्रीण्येव जानु सपरं सह कूर्पराभ्याम् ॥३८॥
हृद्वस्ति कूर्चगुदनाभि वदन्ति मूर्ध्नि
चत्वारि पञ्च च गले दश यानि च द्वे ।
तानि स्वपाणितलकुञ्चितसंमितानि
शेषाण्यवेहि परिविस्तरतोऽङ्गुलार्धम् ॥३९॥

(मर्मों के परिमाण—) ऊर्ध्व, कूर्चशिर, विटप, कक्ष-धर ये (आठ मर्म) एक एक अङ्गुलपरिमित; स्तनमूल, मणिबन्ध और गुल्फ ये (छः मर्म) दो अङ्गुलपरिमित; दो कूर्पर और दो जानु तीन अङ्गुलपरिमित जानने चाहिएँ ॥३८॥ हृदय, वस्ति, कूर्च, गुद, नाभि, सिर के चार (शृङ्गाटक) और पाँच (सीमन्त) तथा गले के दस और दो (दो मन्था, दो नीला और आठ मातृका, ये उन्तीस) मर्म मुष्टिपरिमित होते हैं । शेष (छप्पन) मर्मों को अर्धाङ्गुलपरिमित समझना चाहिए ॥३९॥

वक्तव्य—शिरांसि—कूर्चशिरांसि । कक्षपार्श्व—कक्षधरे इत्यर्थः । सपरम्—द्वितीयजानुसहितं जानु । स्वपाणितलकुञ्चित-संमितानि—चतुरंगुलप्रमाणाणीत्यर्थः । (डल्हण) । मुष्टि-प्रमाणानि । (हाराणचंद्र) । कई आचार्य शेष छप्पन मर्मों का प्रमाण तिल या चावल के समान बताते हैं—पञ्चाशत् पदं च मर्माणि तिलव्रीहिसमान्यपि । इष्टानि मर्माण्यन्येषाम् । (अष्टांगहृदय) ।

एतत्प्रमाणमभिधीय वदन्ति तज्ज्ञाः
शस्त्रेण कर्मकरणं परिहृत्य कार्यम् ।
पार्श्वभिघातितमपीह निहन्ति मर्म
तस्माद्भि मर्मसदनं परिवर्जनीयम् ॥४०॥

(प्रमाण कथन का प्रयोजन—) इन प्रमाणों को ध्यान में रख करके (मर्मस्थानों को) छोड़कर शस्त्र के द्वारा कर्म करना चाहिए, ऐसा शल्यचिकित्सक कहते हैं । (चूँकि) आस-पास चोट लगने पर भी मर्मघात करता है, इसलिए मर्मस्थान को (शस्त्रकर्म के समय) छोड़ना (बचाये रखना) चाहिए ॥४०॥

छिन्नेषु पाणिचरणेषु सिरा नराणां
सङ्कोचमीयुरसृगल्पमतो निरेति ।
प्राप्यामितव्यसनमुग्रमतो मनुष्याः
संछिन्नशस्त्रतद्वन्निधनं न यान्ति ॥४१॥

(शास्त्रा मर्मों का गौणत्व—) मनुष्यों के हाथ-पाँवों के छिन्न हो जाने पर (छेदस्थान की) सिराएँ सिकुड़ जाती हैं; अतः अधिक रक्त नहीं निकलता । इसलिए (हस्तपादच्छेदन रूप) कठिन विपत्ति को प्राप्त हो करके

भी, जिसकी शाखाएँ कट गई हैं ऐसे वृक्षों के समान मनुष्य मृत्यु को प्राप्त नहीं होते ॥४१॥

क्षिप्रेषु तत्र सतलेषु हतेषु रक्तं
गच्छत्यतीव पवनश्च रुजं करोति ।

एवं विनाशमुपयान्ति हि तत्र विद्धा
वृक्षा इवायुधविघातनिकृत्तमूलाः ॥४२॥

(क्षिप्र और तलहृदय का महत्त्व—) हाथ-पैरों में क्षिप्र और तलहृदय विद्ध होने पर रक्त अत्यधिक राशि में निकलता है और वायु अधिक पीड़ा करती है। इस प्रकार जैसे शत्रु (कुल्हाड़ी) से मूल कटे हुए वृक्ष मर जाते हैं, वैसे ही इन मर्मों पर विद्ध हुए (मनुष्य पीड़ा और रक्त-स्त्रावाधिक्य के कारण) मर जाते हैं ॥४२॥

वक्तव्य—मर्माघात से मृत्यु होने के कारणों का विचार पीछे २४वें सूत्र के वक्तव्य में किया जा चुका है। रक्तस्त्राव मृत्यु का एक प्रधान कारण है, इसका उल्लेख यहाँ पर किया गया है। अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है कि छेद, भेद, वेधादि से यदि रक्त अत्यधिक राशि में निकले तो, वेध का स्थान चाहे मर्म हो या न हो, मृत्यु हो जाती है और मर्मस्थान पर वेध होने से भी यदि रक्तस्त्राव अधिक न हो तो मनुष्य की मृत्यु नहीं होती—अमर्मविद्धोऽपि नरश्छेदभेदादिपीडितः । अतिनिष्ठतरक्तश्च सद्यस्त्यजति जीवितम् । अतोऽन्यथा जीवति तु विद्धः शरशतैरपि ॥ (शारीर ७) । इस पर इन्दु लिखते हैं—न केवलं मर्मविद्ध एव जीवितं तजति यावद् मर्मविद्धोऽपि रक्तस्यातिष्ठितेः सद्य एव जीवितं जहाति । अतोऽन्यथा यथोक्तवैपरीत्यं मर्मव्यधे रक्तास्तुतौ च शरशतैरपि विद्धो जीवति । एवं विनाशमायान्ति—रक्तस्त्राव से मर जाते हैं। रक्तस्त्राव के कारण होने वाले लक्षणों का विवरण सूत्रस्थान के १४वें अध्याय के ३०वें सूत्र में, तथा उसके वक्तव्य में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८४ देखो) किया गया है। वहाँ के लक्षण मध्यम रक्तस्त्राव के हैं। जब रक्तस्त्राव अधिक होता है, तब मृत्यु जल्दी होती है। इसके लक्षण अष्टांगसंग्रह में बहुत सुन्दर दिये हैं और आधुनिक लक्षणों के साथ ठीक ठीक मिलते हैं—विक्षिप्यते भृशं सीदन् शून्यो अमति वेपते । ऊर्ध्वं श्वसिति कृच्छ्रेण सप्तगात्रो मुहुर्मुहुः ॥ हृदयं दह्यते चास्य नैकस्थानेऽवतिष्ठते । मर्मोपघातान्मरणमेतैर्लिङ्गैः समश्नुते ॥ (शारीर ७) । रक्तस्त्राव के कारण शरीर में विष्णुपदामृत (Oxygen) की कमी होती है, जिसकी पूर्ति करने के लिए रोगी बेचैनी के साथ झूँट उठता शरीर को झुमाता है (विक्षिप्यते भृशं, Tossing) और बड़े जोर के साथ, और तेजी से साँस (ऊर्ध्वं श्वसिति gasps for breath) लेता है। अन्त में अवसाद, संन्यास और आक्षेप के साथ मर जाता है।

क्षिप्र और तलहृदय मर्मों का महत्त्व रक्तस्त्राव की दृष्टि से ही होता है। इन मर्मों की सिराएँ तथा धमनियाँ अत्यन्त निगूढ़ होती हैं, जिसके कारण उनसे होने वाले

रक्तस्त्राव को रोकना बहुत कठिन समस्या होती है। आधुनिक काल में प्रत्यक्ष शारीर-विज्ञान में तथा सांगोपांग शल्यचिकित्सा में आश्चर्यजनक उन्नति होने पर भी इन स्थानों के रक्तस्त्राव को बंद करने में कठिनाई मालूम होती है—Wounds of the volar arches are always difficult to deal with. Wounds of the planter arch are always serious on account of the depth of the vessel. Grey's Anatomy. अब इसके बाद क्षिप्र-तलहृदय मर्मवेध की चिकित्सा वर्णन करते हैं—

तस्मात्तयोरभिहतस्य तु पाणिपादं
छेत्तव्यमाशु मणिबन्धनगुल्फदेशे ॥४३॥

(क्षिप्रतलहृदय मर्मवेध चिकित्सा—) इसलिए इन मर्मों पर अभिघात हुए (मनुष्य) के हाथ, पाँव, मणिबंध और गुल्फदेश में तत्काल काटकर उसको बचाना चाहिए ॥४३॥

वक्तव्य—मणिबन्धनगुल्फदेश—हाथ के मर्म का वेध होने पर मणिबंध प्रदेश में और पैर के मर्म में चोट होने पर गुल्फदेश में। छेत्तव्यम्—पीछे ४१वें श्लोक में यह बताया जा चुका है कि हाथ-पैर कट जाने पर भी मृत्यु नहीं होती, क्योंकि वहाँ की रक्तवाहिनियाँ सिकुड़ जाने से प्राणधारक रक्त का नाश बहुत नहीं होता। रक्तवाहिनियों के संकोच के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि, उनमें कट जाने पर संकोच (Contraction) करने का गुण होता है और रक्तस्त्राव रोकने के नैसर्गिक उपायों में से यह एक उपाय है (४१वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। परन्तु जब बड़ी बड़ी रक्तवाहिनियाँ कट जाती हैं, तब नैसर्गिक उपायों के ऊपर रक्तस्त्राव बंद होने के लिए निर्भर रहना उचित नहीं होता और तुरन्त कृत्रिम उपायों के द्वारा स्त्राव को रोकना पड़ता है। इन उपायों का विवरण सूत्रस्थान के चौदहवें अध्याय के ३६वें सूत्र और उसके वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८५) में किया गया है। हाथ-पैर पूर्णतया कट जाने पर रक्तस्त्राव बंद होने के लिए नैसर्गिक साधनों पर विश्वास न करके तुरन्त कृत्रिम साधनों द्वारा रक्तप्रवाह को रोकना चाहिए और इसमें सफलता मिलने के कारण रक्तस्त्राव से ब्रणी की मृत्यु नहीं होती। तलहृदय मर्म में चोट लगने पर जब रक्तप्रवाह शुरू होता है, तब वे धमनियाँ अत्यन्त निगूढ़ होने के कारण उनसे होने वाला रक्त का स्त्राव कृत्रिम उपायों द्वारा रोकना अत्यन्त कठिन होता है। इसलिए इस श्लोक में मणिबन्ध या गुल्फदेश में छेदन (Amputation at the wrist or ankle joint) करने का उपदेश दिया है। वहाँ पर छेदन करने से कृत्रिम उपायों द्वारा रक्तस्त्राव बंद करना बहुत सहल होता है और विद्ध की जान बच जाती है। इसलिए इस श्लोकार्थ का अभिप्राय ठीक ध्यान में आने के लिए निम्न (स्वकृत) श्लोकार्थ से उसकी पूर्ति की जाती है—

एवं भवेच्च सुगमं विविधैरुपायैरास्थापनमसुविधारकशोणितस्य ।
मर्माघात, रक्तस्त्राव और अंगदुष्टि के लिए छेदन (Amputation) करने का उपाय प्राचीन है—परोऽप्यपर्व

हितकृद् यथौषधं स्वदेहजोऽप्यामयवत्सुतोऽहितः । छिन्नात्तदङ्गं यदुतात्मनोऽहितं शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात् ॥ (श्रीमद्भागवत ७-५-३७) । आधुनिक शल्यचिकित्सा में भी यह उपाय संमत हुआ है—The actual removal of a limb may be required as an immediate urgent necessity in order to save life from shock, haemorrhage, or infection. *Manual of Surgery by Rose and Carless*. प्राचीन और अर्वाचीन शल्यशास्त्र संमत होने पर भी अंगच्छेदन का उपाय मामूली नहीं है । वैद्य या डाक्टर के ऊपर इसकी बड़ी भारी जिम्मेदारी होती है और व्रणी के लिए एक स्थायी वैकल्य उत्पन्न होता है । इसलिए अंगच्छेदन का उपाय आत्ययिक अवस्थाओं में बहुत सोच विचार करके काम में लाना चाहिए । यहाँ पर सब स्थानों के रक्तस्राव का विचार न करके तलहृदयगत रक्तस्राव का विचार साधारण उपायों की दृष्टि से किया जायगा । हथेलियों और तलुओं की चोट एक बहुत साधारण घटना है । इसकी चिकित्सा का ज्ञान बहुत आवश्यक है । इसलिए यहाँ पर उसकी विधि बतलाई जाती है—

हाथ या पैर के तलहृदय से रक्तस्राव होने पर व्रणमुख को कुछ चौड़ा करके धमनीसंदंश से टूटी हुई धमनी के दोनों सिरे पकड़कर ताँत से बाँध देने चाहिए । यदि यह न हो सके तो धमनीपीडनसंदंश (Forcible pressure forceps) से दोनों सिरे दबाकर संदंशों को वैसे ही व्रण में रखकर पट्ट बाँधना चाहिए । यदि संदंश से स्राव का मुख पकड़ने में कठिनाई हो तो व्रणमुख पर स्वच्छ कवलीका की मोटी तह बनाकर (Pad of sterilized gauze) और मुट्ठी बाँधकर पट्ट लगाना चाहिए और रोगी को बिस्तरे पर हाथ या पैर ऊँचा करके लिटाये रखना चाहिए । यदि इससे भी रक्त स्रग्मन न हो सके तो बाहु या ऊरु धमनी के ऊपर रज्जुबंधन (Tourniquet) करके या उन धमनियों को खोलकर उनके ऊपर टाँका (Ligature) लगाके रक्तस्राव रोकना चाहिए । आखिरी दो उपायों से रक्तस्राव बंद हो जाता है । आधुनिक काल में रक्तस्रग्मन, शल्यकर्म और जीवाणुनाशन के साधनों में आश्चर्यजनक उन्नति होने के कारण हाथ-पैरों के चोट में उनका छेदन (Amputation) करने के भयावह उपाय को अंगीकृत करने का प्रसंग बहुत कम आता है ।

मर्माणि शल्यविषयार्थमुदाहरन्ति

यस्माच्च मर्मसु हता न भवन्ति सद्यः ।

जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचित्

ते प्राप्नुवन्ति विकलत्वमसंशयं हि ॥४४॥

(शल्यतन्त्र में मर्मों का महत्त्व—) यतः मर्मों पर आघात (या वेध) होने से तत्काल (मनुष्यों का) अस्तित्व नष्ट होता है और वैद्य की कुशलता के कारण उनमें से कोई बच भी जायँ तो भी वे विकलता को निःसंशय प्राप्त होते हैं । इसलिए (शल्यतान्त्रिक) मर्मों को शल्य-विषयार्थ कहते हैं ॥४४॥

वक्तव्य—शल्यविषयार्थम्—संपूर्ण आयुर्वेद में शल्य-तन्त्र का प्राधान्य शल्यक्षारादि प्रणिधान से तत्काल काम करने के कारण होता है—अष्टासुषि चायुर्वेदतन्त्रेऽप्येतदेवाधिकम-भिमतमाशुक्रियाकरणाद्यन्त्रशल्यक्षारादिप्रणिधानात् । (सूत्रस्थान १) । यदि यन्त्र, शल्य, क्षार और अग्नि का प्रयोग करते समय मर्मों का ध्यान न किया जाय तो तत्काल उपाय होने के बदले तत्काल अपाय हो जायगा । अर्थात् शल्यतन्त्र का श्रेष्ठत्व जिस क्रिया के ऊपर अधिष्ठित है, वही क्रिया मर्म विज्ञान के सिवा हानिकारक होती है । इसलिए मर्मों का ज्ञान आधा शल्यशास्त्र कहलाता है ।

संभिन्नजर्जरितकोष्ठशिरःकपाला

जीवन्ति शस्त्रवि(नि)हतैश्च शरीरदेशैः ।

छिन्नैश्च सक्थिभुजपादकरैरेशेषै-

र्येषां न मर्मपतिता विविधाः प्रहाराः ॥४५॥

(मर्मप्रहार का महत्त्व—) जिनके मर्मों पर विविध प्रहार नहीं हुए हैं, (परंतु इतस्ततः) प्रहारों के कारण जिनके कोष्ठ और शिरःकपाल जर्जरित हुए हैं, ऐसे मनुष्य शस्त्रों के द्वारा विद्ध हुए अपने शरीर अंगों के साथ तथा पूर्णतया कटे हुए अपने सक्थि, पाद, बाहु और हाथों के साथ जिन्हे रहते हैं ॥४५॥

सोममारुततेजांसि रजःसत्त्वतमांसि च ।

मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते ॥

मर्मस्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः ॥४६॥

(मर्माघात से मृत्यु की उपपत्ति—) सोम (जल या कफ), वायु, तेज और सत्त्व, रज, तम तथा जीवात्मा प्रायः मर्मों में (विशेषतया) अवस्थान करते हैं । इसलिए मर्मों पर वेध होने से (इनके चले जाने के कारण) प्राणी जीवित नहीं रहते ॥४६॥

वक्तव्य—प्रायशः—मर्मों पर आघात होने से कई बार मृत्यु होती है, यह अनुभवसिद्ध घटना है । इस घटना के कार्य-कारण संबंध का दिग्दर्शन यहाँ पर प्राचीन कल्पना के अनुसार और अनुमान प्रमाण के आधार पर किया गया है । पाश्चात्य वैद्यक में इस प्रकार की कल्पना न होने के कारण दोनों की तुलना नहीं हो सकती । आधुनिक कल्पना के अनुसार मृत्यु के जो कारण होते हैं, उनका विचार पीछे २३वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । ये भौतिक कारण आयुर्वेद में भी मिलते हैं । यहाँ दार्शनिक दृष्टि से (Meta physical) मृत्यु के कारण बतलाये गये हैं । जब शरीर को चैतन्य सत्त्वादि द्वारा प्राप्त होता है, इसलिए ये प्राण कहलाते हैं । इनका उल्लेख चौथे अध्याय के दूसरे सूत्र में किया गया है । ये प्राण सर्वशरीर-व्यापी हैं, किसी एक स्थान पर स्थित नहीं होते । परंतु मर्मों पर आघात होने से प्राणयुक्त शरीर प्राणरहित होता है । इससे यह अनुमान निकलता है कि यद्यपि प्राण सर्व-

व्यापी हैं तथापि इनका विशेष स्थान मर्मों में होता है और वह स्थान छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण वे शरीर से चल देते हैं और शरीर निष्पान हो जाता है ।

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्मनोबुद्धिविपर्ययः ।
रुजश्च विविधास्तीव्रा भवन्त्याशुहरे हते ॥४७॥
हते कालान्तरघ्ने तु ध्रुवो धातुक्षयो नृणाम् ।
ततो धातुक्षयाज्जन्तुर्वेदनाभिश्च नश्यति ॥४८॥
हते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैपुणात् ।
शरीरं क्रियया युक्तं विकलत्वमवाप्नुयात् ॥४९॥
विशल्यघ्नेषु विज्ञेयं पूर्वोक्तं यच्च कारणम् ॥५०॥
रुजाकराणि मर्माणि क्षतानि विविधा रुजः ।
कुर्वन्त्यन्ते च वैकल्यं कुवैद्यवशगो यदि ॥५१॥

(पञ्चविध मर्माघात के लक्षण—) सद्यःप्राणहर मर्म पर अभिघात होने से इन्द्रियों का स्वविषयग्रहण में असा-
मर्थ्य (बेहोशी), मन और बुद्धि के कार्य में वैपरीत्य,
और तरह तरह की तीव्र वेदनाएँ (ये लक्षण) होते
हैं ॥४७॥ कालान्तर प्राणहर मर्म पर अभिघात होने से
मनुष्यों का धातुक्षय निश्चित से होता है और पश्चात् धातु-
क्षयजनित वेदनाओं के कारण मनुष्य मर जाता है ॥४८॥
वैकल्यकर मर्म पर अभिघात होने से केवल वैद्य की
कुशलता से ही शरीर कार्यक्षम होकर विकलता को प्राप्त
होता है ॥४९॥ विशल्यघ्न मर्मों में जो कारण पहले बताया
गया है, वही जानना चाहिए ॥५०॥ पीडाकर मर्म (आघात
होने पर) विविध प्रकार की पीड़ाएँ करते हैं और यदि
किसी खराब वैद्य के हाथ में हों तो अन्त में वैकल्य
(भी) करते हैं ॥५१॥

वक्तव्य—असंप्राप्तिः—इन्द्रियार्थानामसम्यक्संबन्धः, इन्द्रि-
यार्थानामग्रहणमित्यर्थः ।

वेदना—लक्षण—चिकित्सति मिषक् सर्वास्त्रिकाला वेदना इति ।
(चरक, शरीर ९) । अर्थात् पर्याय से धातुक्षयजनित
विविध रोगों से ।

वैद्यनैपुणात्—वैकल्यकर मर्मों पर वेध होने से वैकल्य
तब प्राप्त होता है, जब उसकी चिकित्सा उत्तम वैद्य के हाथों
से की जाती है, वरना उससे मृत्यु भी हो सकती है ।

कुवैद्यवशगो यदि—पीडाकर मर्म विद्ध होने पर यदि
कुवैद्यों के हाथों में सुपुर्द किये जायें तो वैकल्य प्राप्त
होता है ।

मर्माघात के सामान्य लक्षण सूत्रस्थान के पञ्चीश्वरों
अध्याय के 'श्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो' इन दो श्लोकों में
वर्णन किये गये हैं ।

अष्टाङ्गसंग्रह में मर्मवेध का सामान्य लक्षण निम्न प्रकार
से वर्णित है—

वेदप्रसृतिर्गुस्ता संमोहः शीतकामिता । स्वेदो मूर्च्छा वमिः
आसो मर्मविद्वस लक्षणम् ॥ (शरीर ७) ।

अष्टाङ्गहृदय में प्रत्येक प्रकार के मर्मवेध के लक्षण निम्न
प्रकार से वर्णित हैं—

विद्धेऽजस्रमसृक्तावो मांसधावनवत्तनुः । पाण्डुत्वमिन्द्रियाज्ञानं
मरणं चाशुमांसजे ॥ मज्जान्वितोऽच्छो विच्छिन्नस्त्रावो रुक् चास्थि-
मर्मणि ॥ आयामाक्षेपकस्तम्भास्नावजेऽभ्यधिकं रुजा । यानस्थाना-
सनाशक्तिर्वैकल्यमयवांतकः ॥ रक्तं सशब्दफेनोष्णं धमनीसे
विचेतसः । सिरामर्मव्यथे सांद्रमजस्रं बहसृक्सवेत् । तत्क्षयातृड-
भ्रमश्वासमोहहिध्माभिरन्तकः ॥ वस्तुशुक्लैरिवाकीर्णं रुद्धे च
कुणिखजता । बलचेष्टाक्षयः शोषः पर्वशोफश्च संधिजे ॥
(शरीर ४) ।

ये लक्षण आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक के रक्तस्राव, मूर्च्छा
(Syncope) और स्तब्धता (Shock) इनके साथ (पीछे
२३वें सूत्र की टिप्पणी देखो) मिलते हैं ।

छेदभेदाभिघातेभ्यो दहनादारणादपि ।
उपघातं विजानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम् ॥५२॥

(मर्मसमीप घात के लक्षण—) छेदन, भेदन, अभिघात,
दहन और दारण से मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुआ
आघात मर्माघात के समान लक्षणों से युक्त जानना
चाहिए ॥५२॥

वक्तव्य—उपघातं समीपघातम् । इस श्लोक का तात्पर्य
यह है कि मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुए आघात या
वेध के परिणाम प्रत्यक्ष मर्म पर हुए आघात के समान
होते हैं ।

मर्माभिघातस्तु न कश्चिदस्ति
योऽल्पात्ययो वाऽपि निरत्ययो वा ।

प्रायेण मर्मस्वभिताडितास्तु
वैकल्यमृच्छन्त्यथवा म्रियन्ते ॥५३॥

मर्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा
मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम् ।

प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति
नरस्य यत्नैरपि साध्यमानाः ॥५४॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने प्रत्येकमर्मनिर्देशशरीरं
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

(मर्माघात में प्रयत्न पराकाष्ठा की आवश्यकता—)
मर्म का कोई भी अभिघात ऐसा नहीं होता है, जिससे
थोड़ी सी ही हानि होती हो या बिल्कुल न होती हो ।
प्रायः मर्मों पर अभिघातित हुए (मनुष्य) विकल होते हैं
या मर जाते हैं ॥५३॥ मनुष्यों के जो विविध रोग मर्मों का
आश्रय करके शरीर में होते हैं, वे वैद्य से (बहुत) प्रयत्नों
द्वारा चिकित्सित होते हुए भी प्रायः अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य
होते हैं ॥५४॥

वर्णक्रमानुसार मर्मा का कोष्ठक

नाम,	संख्या	स्थान	प्रकार	परिणाम	अंग्रेजी शारीरिक पर्याय
अंस	२	पृष्ठ	खायु	वैकल्यकर	Coraco-humoral, gleno-humoral ligaments, Trapezius muscle
अंसफलक	२	पृष्ठ	अस्थि	वैकल्यकर	Spine of the scapula
अधिपति	१	शिर	संधि	सद्यःप्राणहर	Torcular herophilia
अपलाप	२	छाती	सिरा	का० प्राणहर	Lateral thoracic and subscapular vessels.
अपस्तम्भ	२	छाती	सिरा	का० प्राणहर	Two bronchii
अपाङ्ग	२	शिर	सिरा	वैकल्यकर	Zygomatico-temporal vessels
आणी	२	ऊर्ध्वशाखा	खायु	वैकल्यकर	Tendon of biceps
आणी	२	अधःशाखा	खायु	वैकल्यकर	Tendon of quadriceps femoris
आवर्त	२	शिर	संधि	वैकल्यकर	Junction of the frontal. malar and sphenoid bone
इन्द्रवस्ति	२	ऊर्ध्वशाखा	मांस	का० प्राणहर	Cubital fossa
इन्द्रवस्ति	२	अधःशाखा	मांस	का० प्राणहर	Calf muscles
उत्क्षेप	२	शिर	खायु	विशल्यज्ञ	Temporal muscle and fascia
ऊर्वी	२	ऊर्ध्वशाखा	सिरा	वैकल्यकर	Brachial artery, Basilic vein
ऊर्वी	२	अधःशाखा	सिरा	वैकल्यकर	Femoral vessels.
कक्षाधर	२	ऊर्ध्वशाखा	खायु	वैकल्यकर	Brachial plexus.
कटीकतरुण	२	पृष्ठ	अस्थि	का० प्राणहर	Sciatic notch
कुकुन्दर	२	पृष्ठ	संधि	वैकल्यकर	Ischial tuberosity
कूर्च	२	ऊर्ध्वशाखा	खायु	वैकल्यकर	Carno-metacarpal and intercarpal ligaments
कूर्च	२	अधःशाखा	खायु	वैकल्यकर	Tarso-metatarsal and intertarsal ligaments
कूर्चशिर	२	ऊर्ध्वशाखा	खायु	पीडाकर	Lateral ligaments of the wrist joint
कूर्चशिर	२	अधःशाखा	खायु	पीडाकर	Lateral ligaments of the ankle joint
कूर्पर	२	ऊर्ध्वशाखा	संधि	वैकल्यकर	Elbow joint
कृकाटिका	२	श्रीवा	संधि	वैकल्यकर	Atlanto-occipital articulation
क्षिप्र	२	ऊर्ध्वशाखा	खायु	का० प्राणहर	First intermeta carpul ligament
क्षिप्र	२	अधःशाखा	खायु	का० प्राणहर	First intermeta-tarsal ligament
गुद	१	कोष्ठ	मांस	सद्यःप्राणहर	Anal canal and anus
गुल्फ	२	अधःशाखा	संधि	पीडाकर	Ankle joint
जानु	२	अधःशाखा	संधि	वैकल्यकर	Knee joint
तलहृदय	२	ऊर्ध्वशाखा	मांस	का० प्राणहर	Palmer aponeurosis
तलहृदय	२	अधःशाखा	मांस	का० प्राणहर	Long planter ligament
नाभि	१	कोष्ठ	सिरा	सद्यःप्राणहर	Umbilicus
नितम्ब	२	पृष्ठ	अस्थि	का० प्राणहर	Ala of the ileum
नीले	२	श्रीवा	सिरा	वैकल्यकर	Blood vessels of the neck
पार्श्वसंधि	२	पृष्ठ	सिरा	का० प्राणहर	Common iliac vessels
फण	२	शिर	सिरा	वैकल्यकर	Olfactory region of the nose
वस्ति	१	कोष्ठ	खायु	सद्यःप्राणहर	Urinary bladder
बृहती	२	पृष्ठ	सिरा	का० प्राणहर	Subscapular and transverse cervical arteries
मन्ये	२	श्रीवा	सिरा	वैकल्यकर	Blood vessels of the neck
मातृका	८	श्रीवा	सिरा	सद्यःप्राणहर	Blood vessels of the neck
लोहिताक्ष	२	ऊर्ध्वशाखा	सिरा	वैकल्यकर	Axillary vessels
लोहिताक्ष	२	अधःशाखा	सिरा	वैकल्यकर	Femoral vessels
विटप	२	कोष्ठ	खायु	वैकल्यकर	Inguinal canal
विषुर	२	शिर	खायु, सिरा	वैकल्यकर	Posterior auricular vessels
शङ्ख	२	शिर	अस्थि	सद्यःप्राणहर	Temples

शृंगाटक	४	शिर	सिरा	सद्यःप्राणहर	Cavernous and inter-cavernous sinuses
सीमन्त	५	शिर	संधि	का० प्राणहर	Cranial sutures
स्तनमूल	२	छाती	सिरा	का० प्राणहर	Internal mammary vessels
स्तनरोहित	२	छाती	मांस	का० प्राणहर	Lower portion of Pectoralis major
स्थपनी	१	शिर	सिरा	विशल्यन्न	Nasal arch of the frontal vein.
हृदय	१	छाती	सिरा	सद्यःप्राणहर	Heart

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने प्रत्येकमर्मनिर्देश-
शारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातः सिरावर्णविभक्तिं नाम शारीरं व्याख्या-
स्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके बाद सिरावर्णविभक्ति नामक शरीर का
व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने
किया था ॥१॥

वक्तव्य—सिरावर्णविभक्तिम्—सिराणां वातादिवहानां
तद्वर्णानां चारुणनीलशुक्लोहितानां विभक्तिर्विभागः समुदायात्
पृथक्करणं यस्मिन् शरीरे तत्तथाविधम् ॥ वर्ण का अर्थ गुण-
वर्णन, ऐसा भी होता है । हाराणचन्द्र के सुश्रुत में
'सिरावर्णनविभक्ति' ऐसा पाठ है ।

सप्त सिराशतानि भवन्ति; याभिरिदं शरीरमा-
राम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिः-
पक्षिह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः;
द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतानाः; तासां
नाभिर्मूलं, ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥२॥

भवतश्चात्र—

यावत्यस्तु सिराः काये संभवन्ति शरीरिणाम् ।
नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः ॥३॥
नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिव्युपाश्रिता ।
सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥४॥

सात सौ सिराएँ होती हैं । जैसे (बड़ी बड़ी) जल-
हारिणियों (नालियों) द्वारा उपवन का और (छोटी
छोटी) क्यारियों द्वारा खेत का उपस्नेहन और परिपोषण
होता है, वैसे ही इन सिराओं द्वारा आकुञ्चन एवं प्रसारण
आदि कर्मों से इस शरीर का उपस्नेहन और परिपालन
होता है । वृक्षों के पत्तों की सेवनी की तरह इनके प्रतान
होते हैं । इन सिराओं का मूल नाभि है और वहाँ से ऊपर-
नीचे और आस-पास ये फैलती हैं ॥२॥ यहाँ पर दो श्लोक
हैं—प्राणियों के शरीर में जितनी सिराएँ उत्पन्न होती हैं,
वे सब नाभि से संबंध रखती हुई चारों ओर फैलती

हैं ॥३॥ प्राणियों के प्राण नाभि में स्थित होते हैं और प्राणों
पर नाभि आश्रित है । जैसे, पहिये का मध्य अरों से घिरा
हुआ रहता है, वैसे ही सिराओं से नाभि आवृत (घिरी
हुई) रहती है ॥४॥

वक्तव्य—दूसरे सूत्र में तथा उपसंहारात्मक नीचे
के दो श्लोकों में सिराओं की रचना तथा कार्य की दृष्टि से
संपूर्ण वर्णन संक्षेप में दिया गया है । यहाँ पर सिरा शब्द
रक्तवाहिनी (Blood vessel) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।
इसमें अर्थानुरोध से रसवाहिनी (Lymphatic vessel)
का भी समावेश होता है । आराम इव जलहारिणीभिः केदार
इव कुल्याभिः—पुष्प, फल, वृक्षयुक्त संपूर्ण क्षेत्र विशेष
आराम या बगीचा कहलाता है । बगीचे के हर एक हिस्से
में बड़ी बड़ी पक्की नालियों द्वारा कुएँ का पानी पहुँचाया
जाता है, परंतु इन नालियों से बगीचे के किसी भी वृक्ष
या पौधे का उपस्नेहन या पोषण नहीं होता । इसके लिए
नजदीक की पक्की नाली से पौधे तक छोटी कच्ची नाली
या क्यारी बनाई जाती है, जो पौधे का उपस्नेहन से पोषण
करती है । शरीर में भी बगीचे के समान शरीर के हर एक
हिस्से में रक्त पहुँचाने वाली बड़ी बड़ी पक्की नालियाँ होती
हैं और इन पक्की नालियों से छोटी छोटी कच्ची नालियाँ हर
एक धातु के पास जाकर उसका पोषण करती हैं । इसलिए
'एतद् दृष्टान्तद्वयं स्थूलसूक्ष्मसिराप्रापणार्थम्' यह डल्हणाचार्य का
वचन बहुत यथार्थ है । अब यहाँ पर आराम का जो दृष्टान्त
दिया है वह एकदेशीय है, इसलिए कि कूप से पक्की नालियों
द्वारा बाहर गया हुआ पानी फिर से कूप में वापस नहीं
आता, परन्तु शरीर में मूलस्थान से नालियों द्वारा बाहर
निकला हुआ रक्त फिर से दूसरी नालियों द्वारा मूलस्थान में
वापस आता है । इसलिए बगीचे के समान शरीर में एक
प्रकार की रक्त को ले जाने वाली नालियों से काम नहीं
बनता; रक्त को ले जाने वाली और वापस ले आने वाली
नालियों की आवश्यकता होती है । वापस लाने वाली
नालियों के भी दो प्रकार होते हैं—एक प्रकार में रक्त
होता है और दूसरे प्रकार में लसिका होती है । इस तरह
शरीर में चार प्रकार की नालियाँ होती हैं—एक मूलस्थान
से रक्त ले जाने वाली, जिसको आधुनिक परिभाषा में
धमनी (Artery) कहते हैं; दूसरी रक्त वापस ले जाने
वाली, जिसको आधुनिक परिभाषा में सिरा (Vein) कहते
हैं; तीसरी सिरा और धमनी को जोड़ने वाली सूक्ष्म,
जिसको केशिका (Capillary) कहते हैं; और चौथी
लसिका को ले आने वाली, जिसको लसिकावाहिनी
(Lymphatic vessels) कहते हैं । सिरा में यहाँ पर इन
चारों का समावेश होता है । उपलब्धते—बगीचे में जो

पक्षी और बड़ी बड़ी नालियाँ होती हैं उनके द्वारा यद्यपि बगीचे के हर एक हिस्से में पानी फैलता है तथापि उनसे बगीचे के किसी पेड़ या पौधे को पानी का एक भी बूँद नहीं मिलता, क्योंकि उनकी दीवाल में से पानी बाहर नहीं जा सकता। पेड़ों का पोषण पक्षी नालियों से स्थान स्थान पर जो छोटी नालियाँ या क्यारियाँ बनाई जाती हैं, उनसे होता है। इसका कारण यह है कि उनकी दीवाल कच्ची होने के कारण पानी उनसे रिसकर चारों ओर फैलकर समीपवर्ती वनस्पतियों को मिलता है। शरीर में भी ऐसी ही व्यवस्था है। ऊपर जो चार प्रकार की नालियाँ वर्णन की गई हैं, उनमें दो नालियाँ (सिरा और लसिका-वाहिनी) अशुद्ध रक्त तथा लसिका का वाहन करती हैं, अतः उनके रक्तलसिका से शरीरपोषण का सवाल ही नहीं उठता। बाकी जो दो नालियाँ हैं, उनमें शुद्ध रक्त बहता है। अतः धातुपोषण के साथ इनका घनिष्ठ संबंध होता है। इनमें धमनियाँ बगीचे की पक्षी नालियों के समान हैं, जो शरीर के हर एक हिस्से में शुद्ध रक्त की रसीद पहुँचाने का काम किया करती हैं। इनकी दीवाल काफी मोटी (आगे आकुञ्चन-प्रसारणादि की टिप्पणी देखो) होती है, जिसमें से होकर रक्त बाहर नहीं जा सकता। दूसरी वाहिनी (केशिकाएँ) शरीरपोषण के काम में आती हैं। इन केशिकाओं की दीवाल अत्यन्त पतली, एकहरी, चपटी अन्तःस्तर सेलों की (Single layer of flattened endothelial cells) बनती है। इन केशिकाओं में से जब रक्त बहता है, तब दीवाल पतली होने के कारण रक्त का कुछ भाग रिसकर आस-पास की धातुओं में फैलकर उनका पोषण करता है। उपस्नेहन का यही अर्थ है और यह कार्य केशिकाओं की दीवाल से रक्त के निःस्रवण (Exudation) से होता है। सिराओं की दीवाल भी धमनी प्राचीर से कम होने पर भी काफी मोटी होती है, जिसके कारण उससे रक्त का निःस्रवण नहीं हो सकता। निदान अध्याय १ श्लोक १७ की टिप्पणी भी देखो। आकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः—इन क्रियाओं के द्वारा सिराओं की बनावट बताई गई है तथा उपस्नेहन का कारण प्रदर्शित किया गया है। धमनी, सिरा और केशिका इनकी दीवाल की मोटाई यद्यपि भिन्न भिन्न होती है तथापि प्रत्येक की दीवाल में लचकीले तन्तु (Elastic fibers) होते हैं, जिनके कारण इन नालियों में संकोच-विकास तथा स्थिति-स्थापकता का गुण आ जाता है। केशिकाओं की पतली पतली दीवारों में से रक्त का कुछ तरल भाग चूकर बाहर निकलता है और आस-पास की धातुओं का पोषण करता है क्योंकि इस तरल भाग में सेलों के लिए आवश्यक सब चीज उपस्थित रहती हैं। केशिकाओं की दीवारों में से लसिकानिःस्रवण होने के लिए जैसे उनकी प्रवेक्ष्यता (Permeability) कारण होती है, वैसे ही रक्त का भार भी कारण होता है। यह रक्त का भार जैसे हृदय-संकोच के ऊपर निर्भर होता है, वैसा ही वाहिनियों की स्थिति-स्थापकता के ऊपर निर्भर होता है। संक्षेप में, सिराओं की

संकोच-विकासशीलता और स्थितिस्थापकता उपस्नेहन के लिए आवश्यक होती है। द्रुमपत्रसेवनीनामिव प्रतानाः— वृक्षों के पत्तों का यह दृष्टान्त बहुत समर्पक है। पत्रसेवनी प्रतानों का यदि यथार्थ चित्र देखना हो तो पानी में थोड़ी देर तक सड़ने के पश्चात् सूखे हुए पत्र को देखना चाहिए। इस प्रकार के जालीदार पत्र कई बार देखने में आते हैं। सीवन से यहाँ पर पत्रों के मध्य में होने वाली मोटी सिरा तथा उसकी मोटी शाखाएँ अभिप्रेत हैं। इन सीवनियों से छोटी छोटी शाखाएँ निकलती हैं। उनसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतर इस तरह उत्तरोत्तर सूक्ष्म प्रशाखाएँ निकलकर संपूर्ण पत्र प्रतानों से व्याप्त होता है। शरीर में भी रक्त-वाहिनियों की यही स्थिति रहती है और उनके प्रतान यहाँ तक सूक्ष्म होते हैं कि वे चर्मचक्षु से नहीं दिखाई देते। प्रतानों से यहाँ पर धमनिकाओं और केशिकाओं (Arterioles and capillaries) का बोध होता है। केशिकाओं की साधारण मोटाई $\frac{1}{1000}$ इंच के लगभग होती है। नाभिमूलम्—यह मूल यावत्काल प्राणियों का अवस्थान माता के शरीर में होता है, तावत्काल होता है। जन्म के पश्चात् नाभि-संबद्ध सिराएँ सिकुड़ जाती हैं। अतः जन्मोत्तरकाल में सिराओं का मूल नाभि न होकर हृदय होता है। अर्थात् सुश्रुत का वर्णन गर्भकालीन है। अष्टांग-हृदय और अष्टांगसंग्रह में इन सिराओं का मूल हृदय बताया है, अर्थात् वाग्भट का वर्णन जन्मोत्तरकालीन है—दशमूलसिरा हृत्पास्ताः सर्वे सर्वतो वपुः। रसात्मकं वह्न्योजो तन्निबद्धं हि चेष्टितम्। स्थूलमूलाः सुसूक्ष्माः पत्ररेखाप्रतानवत्। भिद्यन्ते तास्ततः सप्तशतान्यासां भवन्ति तु॥ (अष्टांगहृदय ३)। दशमूलसिरा हृदयप्रतिबद्धाः सर्वाङ्गप्रत्यङ्गो नयन्ति। तास्तु ब्रह्मलमंगुलमर्धाङ्गुलं यवं यवार्धं च गत्वा द्रुमपत्रसेवनीप्रतान-वद्विद्यमानाः सप्तशतानि भवन्ति। (अष्टांगसंग्रह)। ऊर्ध्व-मथस्तिर्यक् च—संपूर्ण शरीर में। संभवन्ति शरीरिणाम्—इससे भी यह स्पष्ट होता है कि गर्भाशय में जब जीवात्मा का शरीर उत्पन्न होता है, उस काल की दृष्टि से नाभि सिराओं का मूल माना गया है और एक दृष्टि से यह कथन ठीक भी है क्योंकि नाभि की सिरा या नाडी से ही गर्भ का पोषण होता है और गर्भ शरीर की प्रत्येक सिरा का संबंध नाभि सिरा के साथ रहता है, जिसमें शरीरपोषक रक्त बहता है। नाभि शरीर की उत्पत्ति के समय याने प्रारंभ में सिराओं का उत्पत्तिस्थान होने के कारण जन्म के पश्चात् भी वह सिरा-प्रभव ही माना जाता है। इसलिए नाभिमर्म के वर्णन में नाभि (छठे अध्याय के ३३वें सूत्र में देखो) सिराप्रभवा बतलाई है। इसका अर्थ है जिससे शरीरोत्पत्ति के समय में सिराओं का संभव होता है, ऐसी। प्राणाः—नाभिमर्म होने के कारण पिछले अध्याय के ४५वें श्लोक के आधार पर प्राणों से सोममास्तादि का ग्रहण हो सकता है, परंतु यहाँ पर प्राणों का अधिष्ठान प्राणरूप रक्त का ग्रहण करना ही उचित है—प्राणः प्राणभृतां रक्तम्। (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ३३)। तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा। युनक्ति प्राणिनं, प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते॥ (चरक, सूत्र २४)।

माता के शरीर से आया हुआ पोषक रक्त अपरा में, अपरा से नाडी में, नाडी से नाभि में और नाभि से गर्भशरीर में (३ अध्याय का ३९वाँ सूत्र देखो) प्रवेश करता है। जब किसी कारण से नाभिनाडी का पीड़न होता है, तब प्राणरूप रक्त के प्रवाह में बाधा उत्पन्न होने के कारण गर्भ की मृत्यु हो जाती है। चक्रनाभिरिवारकैः—यह एक कल्पनासृष्टि है, वास्तविक स्थिति नहीं है। नाभि में प्रविष्ट हुई सिरा से संपूर्ण शरीर का पोषण होता है और संपूर्ण शरीर का पोषण होने के लिए सिराओं का संपूर्ण शरीर में फैलना आवश्यक है। यह कार्य किस प्रकार से हो सकता है, इसकी कल्पना दृष्टिगम्य करने के लिए आरों का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे, पहिये के घेरे को सहारा देने के लिए नाभि के चारों ओर उससे निकले हुए अनेक आरे होते हैं, वैसे ही शरीर का पोषण करने के लिए नाभि से चारों ओर उससे निकली हुई अनेक सिराएँ होती हैं; यही इस दृष्टान्त का तात्पर्य है। पहिये में आरों की संख्या बहुत होती है और जितनी संख्या अधिक होगी, उतनी अधिक मजबूती घेरे में आ जाती है। इन आरों की संख्या की महत्तम मर्यादा नियत होने की आवश्यकता नहीं होती; आठ, दस, बारह, पंद्रह जितने चाहें उतने आरे रख सकते हैं। परंतु अल्पतम मर्यादा नियत होना आवश्यक होता है। पहिये के घेरे का सहारा न एक आरे से हो सकता है, न दो आरों से हो सकता है। कम से कम इनकी संख्या तीन होना आवश्यक होता है। जहाँ पर अधिक भार सहन करने का सवाल नहीं आता, वहाँ पर तीन आरों से काम भली भाँति निकल आता है। बच्चों के खिलौने की मोटर-रेलगाड़ी के पहियों में अकसर तीन ही आरे होते हैं। गर्भ के नाभिचक्र के भी तीन आरे होते हैं। एक आरा ऊपर की ओर होता है और दो नीचे की ओर होते हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार ऊपर का आरा संवाहिनी सिरा (Umbilical vein) और नीचे के आरे दक्षिण और वाम संवाहिनी धमनियाँ (Left and right umbilical arteries) कहलाते हैं। ये तीनों आरे तीन दिशा से आकर नाभि में मिलते हैं और तीनों नाभि के बाहर आकर नाभिनाडी के घटक बनते हैं। अपरा के गार्भिक पृष्ठभाग पर सिराओं की रचना 'चक्रनाभिरिवारकैः' के समान होती है, इसलिए कुछ लोग यह वर्णन अपरा के लिए लागू करते हैं। परंतु यह अपरा का वर्णन न होकर नाभि का ही वर्णन है और उसको भी ठीक लागू हो सकता है, यह उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट मालूम होगा। तीसरे सूत्र में सिराओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। चौथे और पाँचवें श्लोक में नाभि का महत्त्व और वर्णन किया गया है। अब इसके बाद सिराओं का विभागशः वर्णन किया जाता है।

तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत्; तासां वात-
वाहिन्यो दश, पित्तवाहिन्यो दश, कफवाहिन्यो दश,
दश रक्तवाहिन्यः । तासां तु वातवाहिनीनां वात-

स्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति, तावत्य एव
पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च कफ-
स्थाने, रक्तवाहिन्यश्च यकृतह्रिदोः, एवमेतानि सप्त
सिराशतानि ॥५॥

(मूलसिरा और दोषवह सिराओं की संख्या—) इन (सात सौ सिराओं) की मूल सिराएँ चालीस हैं। इन (चालीस सिराओं) में वातवहन करने वाली दस, पित्त-
वहन करने वाली दस, कफवहन करने वाली दस, रक्तवहन करने वाली दस (होती हैं)। वातस्थान में होने वाली इन वातवह सिराओं की एक सौ पचहत्तर सिराएँ होती हैं; पित्तस्थान में पित्तवाहिनी सिराएँ, कफस्थान में कफवाहिनी सिराएँ, यकृत और ह्रिदा में रक्तवाहिनी सिराएँ उतनी ही (होती हैं)। इस प्रकार ये सात सिराशत (हो जाते हैं) ॥५॥

वक्तव्य—मूलसिरा—इससे वातादि विभाग की मूल सिराएँ अभिप्रेत हैं। मूल जो नाभि या हृदय, इससे चालीस सिराएँ उत्पन्न होती हैं; ऐसा इसका अभिप्राय नहीं है। वातस्थानगतानाम्—निदान के प्रथम अध्याय के १२-१८ तक के श्लोकों में वायु के स्थान दिये हैं, उन स्थानों में होने वाली सिराओं की—एकाशयकटीसक्थिश्रोत्राऽस्थिस्पर्शनेन्द्रियम् । स्थानं वातस्य । (अष्टांगहृदय, सूत्र १२)। पित्तस्थान, कफ-
स्थान—पित्त और कफ के स्थान सूत्रस्थान के व्रणप्रश्न नामक एक बीसवें अध्याय के छठे और बारहवें सूत्र में वर्णन किये हैं—नाभिरामाशयः स्वेदो लसिका रुधिरं रसः । द्रुक्स्पर्शनं च पित्तस्य ॥ उरःकाण्ठशिरःक्षोमपर्वान्यामाशयो रसः । मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः ॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र १२)।

तत्र वातवाहिन्यः सिरा एकस्मिन् सक्थिन् पञ्च-
विंशतिः, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ । विशेष-
तस्तु कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्; तासां गुदमेढ्राश्रिताः
श्रोण्यामष्टौ, द्वे द्वे पार्श्वयोः, षट् पृष्ठे, तावत्य एव
चोदरे, दश वक्षसि । एकचत्वारिंशज्जत्रुण ऊर्ध्वं,
तासां चतुर्दश ग्रीवायां, कर्णयोश्चतस्रः, नव
जिह्वायां, षट् नासिकायां, अष्टौ नेत्रयोः, एवमेतत्
पञ्चसप्ततिशतं वातवहानां सिराणां व्याख्यातं
भवति । एष एव विभागः शेषाणामपि । विशेष-
तस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्दश, कर्णयोर्द्वे; एवं रक्त-
वहाः कफवहाश्च । एवमेतानि सप्त सिराशतानि
सविभागानि व्याख्यातानि ॥६॥

(दोषवह सिराओं का पृथक् पृथक् स्थान—) इनमें एक टाँग में वातवाही सिराएँ पचीस होती हैं। इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं का भी व्याख्यान हो जाता है। कोष्ठ में विशेषतः चौतीस (सिराएँ होती हैं)। इनमें

गुदा, शिश्न और श्रोणि में आठ, पार्श्वों में दो दो, पीठ में छः, उदर में उतनी ही (छः), छाती में दस । जंतु के ऊपर एकतालीस (सिराएँ होती हैं) । उनमें ग्रीवा में चौदह, कानों में चार, जिह्वा में नौ, नासा में छः, दोनों आँखों में आठ; इस प्रकार (शाखा, कोष्ठ, और सिर में मिलाकर) एक सौ पचहत्तर वातवाही सिराओं का व्याख्यान हो जाता है । शेष (पित्त, कफ और रक्तवाही सिराओं) का यही विभाग होता है । विशेषतया (भेद इतना ही है कि) पित्तवाहिनी सिराएँ आँखों में दस और कानों में दो हैं । इसी प्रकार रक्तवह और कफवह सिराएँ होती हैं । इस प्रकार विभागशः सात सौ सिराएँ वर्णन की गई हैं ॥६॥

वक्तव्य—एष एव विभागः शेषाणामपि विशेषतस्तु—
इस सूत्र में एक सौ पचहत्तर वातवाही सिराओं का प्रत्यङ्ग विभाग वर्णन किया है । उसी के अनुसार पित्त, कफ और रक्त इनका वहन करने वाली सिराओं का प्रत्यङ्ग होता है । भेद केवल इतना ही है कि जहाँ नेत्रों में वातवाही आठ हैं, वहाँ पित्तवाहिनी, कफवाहिनी और रक्तवाहिनी दस हैं; और जहाँ कानों में वातवाहिनी चार हैं, वहाँ पित्त कफ-रक्तवाहिनियाँ दो दो हैं ।

भवन्ति चात्र—

**क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम् ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन् ॥७॥**

(वातवह सिराओं का प्राकृत कर्म—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ वात (शारीरिक) क्रियाओं को अप्रतिहत रूप से बुद्धि के कर्मों के व्यवसायात्मक रूप से और (तन्त्र-यन्त्र धारण के लिए आवश्यक) अन्य गुणों को भी (उसी तरह अप्रतिहत रूप से) करता है ॥७॥

वक्तव्य—क्रियाणाम्—कायक्रियाणां प्रसारणाकुञ्चनादीनां, वाक्क्रियाणां भाषितादीनाम् । (डल्हण) । अर्थात् इन क्रियाओं में हस्तपादादि अवयवों के आकुञ्चन-प्रसारणादि ऐच्छिक कर्म (Voluntary actions), तथा हृदयान्त्रादि अवयवों के प्रसारणाकुञ्चनादि अनैच्छिक कर्म (Involuntary) समाविष्ट होते हैं । बुद्धिकर्मणाम्—बुद्धि का स्वाभाविक कार्य व्यवसाय याने सारासार विचार करके निर्णय करना है । यह कार्य तब ठीक हो सकता है, जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और मन भी अपना काम ठीक करें । संक्षेप में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इनके कर्मों का समावेश बुद्धि-कर्मों में होता है । अमोहम्—ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान का ठीक ठीक उपयोग करना अमोह है । इससे Clearness का अर्थ निकलता है । हाराणचन्द्र 'बुद्धिकर्मणां बुद्धिकर्मेन्द्रियाणाममोहं दुःखाभावम्' ऐसा अर्थ करते हैं । परंतु 'क्रियाणाम्' पद से कर्मेन्द्रियों का ग्रहण होने के कारण फिर से उनका ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है । अमोह से 'दुःखाभाव' का अर्थ भी ठीक मालूम नहीं होता, क्योंकि यहाँ पर वायु के स्वाभाविक (Physiological) कर्मों का निर्देश हो रहा है । बुद्धि की इन्द्रियों द्वारा अर्थों का

ठीक ग्रहण होना, मन के द्वारा अर्थग्रहण में सहायता और उसका व्याकरण तथा बुद्धि के द्वारा उसका व्यवसाय ये इनके मोहविरहित कार्य हैं । जब ये कार्य ठीक नहीं होंगे, तब मोहयुक्त कार्य होंगे । इसमें दुःख का कोई संबंध नहीं है । (व्यवसाय और व्याकरण शब्दों के अर्थ के लिए प्रथम अध्याय के ३ सूत्र का वक्तव्य देखो) । अन्यान् गुणांश्चापि—वायु के जो अन्य गुण होते हैं, उनको भी करने वाला । इन गुणों का वर्णन निदानस्थान के नौवें श्लोक के वक्तव्य में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३१८) 'वायुस्तन्वयन्धरः' इस चरक वचन से किया गया है । इस श्लोक के तथा १४ तक के श्लोकों के अर्थ के लिए आगे सोलहवें श्लोक का वक्तव्य भी देखो ।

यदा तु कुपितो वायुः स्वाः सिराः प्रतिपद्यते ।

तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते वातसंभवाः ॥८॥

(कुपित वातवह सिराओं के कर्म—) जब कुपित हुआ वात अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के (अस्य) विविध वातजन्य रोग उत्पन्न होते हैं ॥८॥

भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम् ।

संसर्पत्स्वाः सिराः पित्तं कुर्याच्चान्यान्युणानपि ॥९॥

(प्राकृत पित्तवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ पित्त (शरीर में) कान्ति, अन्न में रुचि, जठराग्नि की प्रखरता, नीरोगता तथा अन्य गुणों को भी करता है ॥९॥

यदा प्रकुपितं पित्तं सेवते खवहाः सिराः ।

तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसंभवाः ॥१०॥

(कुपित पित्तवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ पित्त अपनी सिराओं का आश्रय करता है, तब शरीर के विविध पित्तजन्य विकार उत्पन्न होते हैं ॥१०॥

स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमुदीर्णताम् ।

करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः सिराश्चरन् ॥११॥

(प्राकृत कफवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ कफ अंगों में चिकनाई, संधियों की स्थिरता, शक्ति, उत्साहशीलता तथा अन्य गुणों को करता है ॥११॥

यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाः सिराः प्रतिपद्यते ।

तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसंभवाः ॥१२॥

(कुपित कफवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ कफ अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के विविध कफजन्य विकार होते हैं ॥१२॥

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम् ।

स्वाः सिराः संचरदक्तं कुर्याच्चान्यान्युणानपि ॥१३॥

(प्राकृत रक्तवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ रक्त धातुओं का पोषण, (शरीर का)

वर्णं, स्पर्शज्ञान और अन्य गुणों को निःसंशय करता है ॥१३॥

यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः ।

तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसंभवाः ॥१४॥

(कुपित रक्तवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ पित्त अपनी सिराओं में आता है, तब शरीर के विविध रक्तज रोग उत्पन्न होते हैं ॥१४॥

न हि वातं सिराः काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा ।

श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१५॥

प्रदुष्टानां हि दोषाणां मूर्च्छितानां प्रधानताम् ।

ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१६॥

(सिराओं का सर्ववहत्व—) कोई भी सिराएँ केवल वात, पित्त अथवा कफ का वहन नहीं करतीं; अतः सिराएँ सर्ववह कहलाती हैं ॥१५॥ कुपित हुए, (स्वप्रमाण से) बढ़े हुए (शरीर में) संचार करने वाले दोषों का अपना वास्तविक मार्ग छोड़कर दूसरे के मार्ग में जाना निश्चित होता है । इसलिए सिराएँ सर्ववह कहलाती हैं ॥१६॥

वक्तव्य—ऊपर पाँचवें सूत्र में शरीरगत सात सौ सिराओं के वातादिवह करके चार प्रकार बताये गये हैं, तथा उसके पश्चात् के श्लोकों में प्रत्येक प्रकार की सिराओं के पृथक् पृथक् कर्म भी वर्णन किये गये हैं । इससे यह कल्पना हो जाती है कि शरीर में वातवह, पित्तवह, श्लेष्मवह और रक्तवह चार स्वतन्त्र सिरासमूह होते हैं और प्रत्येक समूह अपना कार्य स्वतन्त्रतया करता है । इस कल्पना को दूर करने के लिए पंद्रहवें और सोलहवें श्लोक में सिराओं का सर्ववहत्व सकारण सिद्ध किया गया है । पाश्चात्य वैद्यक में शरीरपोषण की दृष्टि से रक्त को जो महत्त्व है, वह आयुर्वेद में रस को महत्त्व है । पाश्चात्य परिभाषा में रक्त-परिभ्रमण कहते (Blood circulation) हैं, आयुर्वेद में रस संवहन कहते हैं—कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ॥ आयुर्वेद की यह कल्पना भी ठीक है । धातुओं के लिए पोषकद्रव्य रस में ही होते हैं, जिनको ग्रहण करके धातुओं का पोषण होता है । रस में लाल कण (Red Blood corpuscles) मिलाने पर रक्त बनता है । ये लाल कण प्राणवायु का ग्रहण करके पोषक द्रव्यों के साम्बन्धीकरण में सहायता करते हैं । यह कार्य आयुर्वेद के अनुसार पित्त का है, इसलिए कभी कभी रक्त एक स्वतन्त्र दोष गिना जाता है और उसके गुणकर्म पित्त के समान माने जाते हैं । सूत्रस्थान के २३वें अध्याय में तथा यहाँ पर भी रक्त का उल्लेख स्वतन्त्र दोष के तौर पर किया गया है—नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मास्तात् । शोणितादपि वा निलं देहं पतैस्तु धार्यते ॥ (सूत्र २३) । शरीर की सात सौ सिराएँ आराम की जलहारिणियों के समान रसहारिणियाँ (द्वितीय सूत्र) हैं और उन्हीं के द्वारा संपूर्ण शरीर का पोषण होता है, इस बात को कदापि भी न भूलना चाहिए । इसके पश्चात् यह बताया है कि

इनमें कुछ वातवह हैं, कुछ पित्तवह हैं, कुछ कफवह हैं और कुछ रक्तवह हैं । अन्त में यह बताया है कि सब सिराएँ सर्ववह हैं । वातादिवह सिराएँ केवल अपने याने तत्तत् दोषस्थान में ही होती हैं, परंतु दोष सर्वशरीर-व्यापी होते हैं—दोषधातुमलमूलो हि देहः । (अष्टांगसंग्रह) । ते व्यापिनः । (अष्टांगहृदय) । इसलिए अन्य स्थान में वे अन्यो की सिराओं में से बहते हैं, यह सिद्ध है । इससे भी सिराओं का सर्ववहत्व निश्चित है । इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि शरीर में सिराओं के द्वारा पोषक रस बहता है और उस पोषक रस रूप वाहन पर आरुढ़ होकर वातादि दोष संपूर्ण शरीर में भ्रमण करके अपना अपना कार्य किया करते हैं । संक्षेप में, वातादि दोषों का कार्य आधुनिक परिभाषा में जिनको Blood vessels कहते हैं उन्हीं के द्वारा होता है, यह निश्चित है । अब वातादिवह सिराओं के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिन स्थानों में वातादि दोषों की उत्पत्ति होती है, उन स्थानों की सिराओं में उन दोषों की अधिकता होती है और 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय से किवा 'उत्कर्षापकर्षातु ग्रहणम्' इस दृष्टि से वे सिराएँ वातादिवह कहलाती हैं; अर्थात् इन सिराओं में भी अन्य दोष न्यून मात्रा में उपस्थित रहते हैं । इस दृष्टि से प्राकृत और विकृत वातादिवह सिराओं का वर्णन केवल प्राकृत और विकृत वातादि दोषों के गुणों का ही वर्णन है । भेद इतना ही है कि वातादि दोष किसके ऊपर आरुढ़ होकर कार्य करते हैं, इसका स्पष्टीकरण यहाँ पर हो जाता है । अब सातवें श्लोक में वातवह सिराओं का वर्णन देखकर आधुनिक शारीरकार्य विज्ञान (Physiology) के साथ उस श्लोक का अर्थ मिलाने की दृष्टि से वातवह सिराओं को कुछ लोग Nerves कहते हैं, परंतु वे नर्वस नहीं हैं; रक्तवह सिराएँ हैं । आयुर्वेद में (तान्त्रिक या वैदिक ग्रंथों का यहाँ विचार नहीं है) मस्तिष्कसंस्थान का वर्णन अंग-विनिश्चय (Anatomically) की दृष्टि से कहीं भी नहीं मिलता । मस्तिष्क का जो वर्णन मिलता है (चौथे अध्याय के ३३वें श्लोक का वक्तव्य देखो), वह अत्यंत अल्प और गौरवरूप से मिलता है । परंतु मस्तिष्कसंस्थान के सब कार्यों का विवरण मिलता है और वे कार्य रक्त या रस की वाहिनियों द्वारा उनके साथ परिभ्रमण करने वाले वायु के कारण होते हैं, ऐसा माना गया है । एक दृष्टि से यह कल्पना ठीक भी है । जैसे, एक स्थान पर अधिक देर तक निश्चल बैठने से पैरों में झुनझुनी पैदा होती है । यह लक्षण नर्वस (Nervous) है, परंतु पैरों की नर्वस को रक्त न मिलने के कारण उत्पन्न हुआ है । आयुर्वेद आधुनिक नर्वस सिस्टम (मस्तिष्कसंस्थान) के कार्यों का विवरण वात-दोष से रक्त ही के द्वारा करता है । इसलिए कार्य की दृष्टि से नर्व मालूम होने पर भी उसको नर्व मानने की आवश्यकता नहीं है । जैसे—यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः । तदाक्षिपत्याशु सुडुसुडुहं सुडुश्वरः ॥ सुडुसुडु-स्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः ॥ यहाँ पर धमनी शब्द

नर्व(नाडी)वाचक मालूम होता है, परंतु वास्तव में आयुर्वेद की कल्पना के अनुसार वह सचमुच धमनी(Artery)-वाचक है। इसका कुछ अधिक विवरण आगे धमनी-व्याकरण अध्याय के दूसरे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है।

तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च, शीता गौर्यः स्थिराः कफात्।
असृग्बहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः ॥१७॥

(वातादिवह सिराओं के लक्षण—) इन (चतुर्विध सिराओं) में वातवह सिराएँ अरुण (किञ्चित् रक्तवर्ण) और वायु से भरी हुई होती हैं; पित्त से उष्ण और नील वर्ण होती हैं; कफ से गौरवर्ण, शीतल और स्थिर होती हैं; और रक्तवह सिराएँ रक्तवर्ण, न बहुत शीतल न उष्ण होती हैं ॥१७॥

वक्तव्य—यहाँ पर शरीरगत सिराओं के जो चार प्रकार वर्णन किये हैं, उनके लिए आधुनिक पारिभाषिक पर्यायशब्द निम्न प्रकार से दे सकते हैं। अरुणा सिरा—तत्र इयावारुणाः प्रस्यन्दिन्यः सूक्ष्माः क्षणपूर्णरिक्ता वातरक्तं वहन्ति। (अष्टांगसंग्रह)। रोहिणी सिरा—समा गूढाः लिग्ना रोहिण्यः शुद्धरक्तम्। (अष्टांगसंग्रह)। ये दोनों प्रकार धमनी या शुद्धरक्तवाहिनी (Artery) के पर्याय हैं। पित्तवह नीला सिरा वास्तविक सिरा (Vein) का पर्याय हैं और कफवह सिराओं को लसिकावाहिनी (Lymphatics) का पर्याय समझ सकते हैं। सिराओं से नर्व या नाड़ी का बोध कदापि भी नहीं हो सकता, इसका विवरण पीछे किया गया है। परंतु जो केवल अर्थ के अनुसार ही अंगविनिश्चय करना चाहते हैं, शारीरिकदृष्ट्या नहीं, वे सिराओं का अर्थ स्थान स्थान नर्व भी कर लेते हैं। पं० गंगाधर शास्त्री अरुण सिराओं से स्वतन्त्र नाडियाँ (Sympathetic nerve fibres which carry on all the involuntary vital functions) समझते हैं।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि न विध्येद्याः सिरा भिषक्।
वैकल्यं मरणं चापि व्यधात्तासां ध्रुवं भवेत् ॥१८॥
सिराशतानि चत्वारि विधाच्छाखासु बुद्धिमान्।
षट्त्रिंशच्च शतं कोष्ठे चतुःषष्टिं च मूर्धनि ॥१९॥
शाखासु षोडश सिराः कोष्ठे द्वात्रिंशदेव तु।
पञ्चाशज्जत्रुणश्चोर्ध्वमन्यध्याः परिकीर्तिताः ॥२०॥

(अन्यध्या सिराविभाग—) अब इसके बाद जिन सिराओं का वेध वैद्य को न करना चाहिए, उनको कहेंगे। उनके वेध से वैकल्य तथा मृत्यु निश्चय से हो जाती है ॥१८॥

(प्रत्यंगसिरापरिगणन—) बुद्धिमान् वैद्य शाखाओं में चार सौ सिराओं को, कोष्ठ में एक सौ छत्तीस सिराओं को, और जत्रूर्ध्व में एक सौ चौसठ सिराओं को समझे ॥१९॥

(अन्यध्या सिरापरिगणन—) इनमें से शाखाओं में न वेधने योग्य सोलह सिराएँ, कोष्ठ में बत्तीस और जत्रूर्ध्व में पचास होती हैं ॥२०॥

तत्र सिराशतमेकस्मिन् सक्थिन् भवति; तासां जालधरा त्वेका, तिस्रश्चाभ्यन्तराः—तत्रोर्वीसंज्ञे द्वे, लोहिताक्षसंज्ञा चैका, एतास्त्वव्यध्याः, एतेनेतर-सक्थि वाहू च व्याख्यातौ; एवमशस्त्रकृत्याः षोडश शाखासु ॥२१॥

(शाखागत अवेध्य सिराएँ—) शाखागत चार सौ सिराओं में से (तत्र) एक टाँग में सौ सिराएँ होती हैं; इनमें बाहर की जालधरा एक और अंदर की तीन—ऊर्वी नामक दो सिराएँ और लोहिताक्ष संज्ञक एक—अवेध्य होती हैं। इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं का भी व्याख्यान हो गया। इस तरह (चारों) शाखाओं में सोलह सिराएँ अवेध्य हो गई हैं ॥२१॥

वक्तव्य—जालधरा—टाँग में इससे दीर्घोत्ताना सिरा (Great sapheneus) का बोध होता है, और बाहु में बहिर्बाहुका सिरा (Cephalic vein) का बोध होता है। ऊर्वी और लोहिताक्ष—टाँग में इनसे Femoral artery and vein तथा बाहु में Brachial artery, Basilic vein और Axillary artery and vein का बोध होता है।

द्वात्रिंशच्छ्रोण्यां, तासामष्टावशस्त्रकृत्याः—द्वे द्वे विटपयोः, कटीकतरुणयोश्च ॥२२॥

(श्रोणिप्रदेश की अवेध्य सिराएँ—) श्रोणिप्रदेश में बत्तीस सिराएँ होती हैं। इनमें से आठ अवेध्य हैं—विटपों की दो दो और कटीक तरुणों की दो दो ॥२२॥

वक्तव्य—विटप—इससे वृषणरज्जु (Spermatic cord) गत सिराओं का बोध होता है। कटीकतरुण—इससे Gluteal arteries and veins का ग्रहण होता है।

अष्टावष्टावेकैकस्मिन् पार्श्वे, तासामेकैकामूर्ध्वगां परिहरेत्, पार्श्वसन्धिगते च द्वे ॥२३॥

(पार्श्वों की अवेध्य सिराएँ—) एक एक पार्श्व में आठ आठ सिराएँ होती हैं। इनमें से एक एक ऊपर जाने वाली को और पार्श्वसंधिगत दो सिराओं को भी (शस्त्रकर्म से) बचाना चाहिए ॥२३॥

चतस्रो विंशतिश्च पृष्ठे पृष्ठवंशमुभयतः, तासामूर्ध्वगामिन्यौ द्वे द्वे परिहरेद्बृहती सिरे ॥२४॥

(पृष्ठ की अवेध्य सिराएँ—) पृष्ठवंश के दोनों ओर पीठ में चौबीस सिराएँ हैं। इनमें से ऊपर की ओर जाने वाली बृहती नामक सिराओं का परिहार करे ॥२४॥

वक्तव्य—बृहती—इससे Subscapular artery का ग्रहण करना चाहिए।

तावत्य एवोदरे, तासां मेद्वोपरि रोमराजी-मुभयतो द्वे द्वे परिहरेत् ॥२५॥

(उदर की अवेध्य सिराएँ—) उतनी ही (चौबीस) सिराएँ उदर में हैं । उनमें से मेढ़ के ऊपर की रोमराजि के दोनों ओर की दो दो सिराओं का परिहार करे ॥२५॥

वक्तव्य—यहाँ पर शिश्न के ऊपर की जो अवेध्य सिराएँ हैं, उनसे Inferior epigastric vessels का ग्रहण करना चाहिए ।

चत्वारिंशद्वक्षसि, तासां चतुर्दशशस्त्रकृत्याः—
हृदये द्वे, द्वे द्वे स्तनमूले, स्तनरोहितापलापस्तम्भेषु-
भयतोऽष्टौ; एवं द्वात्रिंशदशशस्त्रकृत्याः पृष्ठोदरोरःसु
भवन्ति ॥२६॥

(छाती की अवेध्य सिराएँ—) छाती में चालीस सिराएँ होती हैं; इनमें से चौदह अवेध्य हैं—हृदय में दो; स्तनमूल में दो दो; स्तनरोहित, अपलाप, अपस्तम्भ इनके दोनों ओर आठ; इस प्रकार पीठ, उदर और छाती में बत्तीस अवेध्य सिराएँ होती हैं ॥२६॥

वक्तव्य—स्तनरोहित इत्यादि—स्तनरोहितयोर्द्वे द्वे, अप-
लापयोर्द्वे द्वे, अपस्तम्भयोर्द्वे द्वे, एवमष्टावित्यर्थः । (इल्लहण) ।
छाती की सिराओं से Internal mammary, Inter-
costals lateral thoracic arteries and their
branches का ग्रहण करना चाहिए । हृदय की सिराओं
से हृदयसंबंधित सिराओं को न समझकर हृदयप्रदेशवर्ती
सिराओं का ग्रहण करना चाहिए ।

चतुःषष्टिसिराशतं जत्रुण ऊर्ध्वं भवति; तत्र
षट्पञ्चाशच्छिरोधरायां, तासामष्टौ चतस्रश्च मर्म-
संज्ञाः परिहरेत्, द्वे कृकाटिकयोः, द्वे विधुरयोः,
एवं ग्रीवायां षोडशाव्यध्याः ॥२७॥

(ग्रीवा की अवेध्य सिराएँ—) जत्रु के ऊपर एक सौ
चौसठ सिराएँ होती हैं । इनमें से ग्रीवा में छप्पन सिराएँ
होती हैं । उनमें से मर्मसंज्ञक बारह सिराएँ, दो कृकाटिक
की, और दो विधुर की, इस प्रकार सोलह सिराएँ अवेध्य
होती हैं ॥२७॥

वक्तव्य—मर्मसंज्ञाः—इससे Internal and exter-
nal carotid arteries and jugular veins का बोध
होता है । द्वे कृकाटिकयोः—इससे Occipal arteries और
Veins का बोध होता है । द्वे विधुरयोः—इससे Posterior
auricular arteries and veins का बोध होता है ।

हन्वोरुभयतोऽष्टावष्टौ, तासां तु सन्धिधमन्यौ
द्वे द्वे परिहरेत् ॥२८॥

(हनु की अवेध्य सिराएँ—) हनुसंधि के दोनों
ओर आठ आठ सिराएँ हैं । उनमें से संधियों की दो दो
धमनियों को छोड़ देवे ॥२८॥

वक्तव्य—संधिधमन्यौ—इससे Internal maxillary
arteries and veins का बोध होता है ।

षट्त्रिंशज्जिह्वायां, तासामधः षोडशाशस्त्रकृत्याः,
रसवहे द्वे, वाग्वहे च द्वे ॥२९॥

(जिह्वा की अवेध्य सिराएँ—) जिह्वा में छत्तीस
सिराएँ होती हैं; इनमें नीचे की सोलह सिराओं में दो
रसवहा और दो वाग्वहा अवेध्य होती हैं ॥२९॥

वक्तव्य—अधः षोडशाशस्त्रकृत्याः—अधः षोडशेष्वशस्त्र-
कृत्याः । रसवहे द्वे वाग्वहे द्वे—इससे Artery profunda
linguae का बोध होता है ।

द्वादश नासायां, तासामौपनासिक्यश्चतस्रः
परिहरेत्, तासामेव च तालुन्येकां मृदाबुद्देशे ॥३०॥

(नासा की अवेध्य सिराएँ—) नासा में चौबीस
सिराएँ हैं । उनमें से नासासमीपवर्ती चार सिराओं का
परिहार करे । इन्हीं चौबीस में से तालु में मृदु प्रदेश में
एक है (उसका भी परिहार करे) ॥३०॥

वक्तव्य—औपनासिक्यः—नासासमीपवर्ती । इससे
Angular vein and artery का बोध होता है ।

अष्टत्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः, तासामेकैकामपाङ्गयोः
परिहरेत् ॥३१॥

(नेत्रों की अवेध्य सिराएँ—) दोनों आँखों में अठतीस
सिराएँ होती हैं; इनमें से अपाङ्गों की एक एक सिरा का
परिहार करना चाहिए ॥३१॥

वक्तव्य—अपाङ्ग सिरा—इससे Zygomatico-
temporal artery का बोध होता है ।

कर्णयोर्दश, तासां शब्दवाहिनीमेकैकां परि-
हरेत् ॥३२॥

(कान की अवेध्य सिराएँ—) दोनों कानों में दस
सिराएँ होती हैं; इनमें से शब्दवाहिनी एक एक सिरा को
बचाना चाहिए ॥३२॥

वक्तव्य—शब्दवाहिनी सिरा—इससे Posterior
auricular and anterior tympanic arteries का
बोध होता है ।

नासानेत्रगतास्तु ललाटे षष्टिः, तासां केशान्ता-
नुगताश्चतस्रः (परिहरेत्), आवर्तयोरेकैका,
स्थपन्यां चैका परिहर्तव्या ॥३३॥

(ललाट की अवेध्य सिराएँ—) नासा और नेत्र की
ही ललाट में साठ सिराएँ होती हैं । उनमें से केशान्त के
साथ साथ जाने वाली चार, आवर्त की एक एक और
स्थपनी की एक (इस प्रकार सात) सिराओं को बचाना
चाहिए ॥३३॥

वक्तव्य—ललाटे षष्टिः—नासा और नेत्र की जो
सिराएँ हैं, उन्हीं में से ६० सिराएँ ललाट में आती हैं ।
अर्थात् इन सिराओं की पृथक् गणना करने की आवश्यकता
नहीं है—याश्चतुर्विंशतिर्नासां गता याश्च षट्त्रिंशन्नेत्रगतास्तु

एव षष्ठिललाटे ज्ञातव्याः । अतो न पृथग्गणनीयाः । ननु नेत्रगता अष्टत्रिंशत्, तत्कथं त्रिंशन्नेत्रगता इति व्याख्याय षष्ठिं पूरयति ? सत्यं, यद्यपि अष्टत्रिंशन्नेत्रयोः सिरा उक्तास्तथाऽपि तन्मध्ये द्वयोरपाङ्गाश्रितत्वात्तत्राभावः । अतो नेत्रगता अष्टत्रिंशदपि ललाटे पुनः षट्त्रिंशदेवेति । (डल्हण) । केशान्तानुगताः—ललाट या भालप्रदेश (Forehead) की ऊपर की बालों की मर्यादा के साथ साथ जाने वाली । इनसे Supraorbital and terminations of the frontal branch of the Superficial temporal arteries and veins का ग्रहण करना चाहिए । आवर्तयोरैकैका—इससे Frontal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए । स्पन्दन्यां चैका—इससे Nasal branch of the frontal veins का ग्रहण करना चाहिए ।

शङ्खयोर्दश, तासां शङ्खसन्धिगतानामेकैकां परिहरेत् ॥३४॥

(शङ्खप्रदेश की अवध्य सिराएँ—) शङ्खप्रदेशों में दस सिराएँ हैं । इनमें से शङ्खसन्धि की एक एक सिरा का परिहार करना चाहिए ॥३४॥

वक्तव्य—शङ्खसन्धिगत सिरा—इससे Superficial temporal vessels का ग्रहण करना चाहिए ।

द्वादश मूर्ध्नि, तासामुत्क्षेपयोर्द्वे परिहरेत्, सीमन्तेष्वेकैकाम्, एकामधिपताविति; एवमश्लक्ष्ण्यः पञ्चाशज्जुगु ऊर्ध्वमिति ॥३५॥

(सिर की अवध्य सिराएँ—) मस्तक में बारह सिराएँ हैं । उनमें से उत्क्षेप की दो, सीमन्तों की एक एक (पाँच) और अधिपति की एक सिरा का परिहार करना चाहिए । इस प्रकार जत्रु के ऊपर की पचास अवध्य सिराएँ हैं ॥३५॥

वक्तव्य—उत्क्षेपयोर्द्वे—इससे Parietal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए । सीमन्त और अधिपति की सिराएँ—इनसे Occipital and superficial temporal की शाखा-प्रशाखाओं का ग्रहण करना चाहिए । ये रक्तवाहिनियाँ बहुत बड़ी नहीं होतीं, तथापि इनके कट जाने पर रक्तस्राव जल्दी बंद नहीं होता तथा इनको पकड़ना भी मुश्किल होता है । इसलिए इनका परिहार करना बहुत आवश्यक है—When making incisions into the scalp, care should be taken to avoid the main arteries. The blood vessels, when wounded, do not contract and retract freely; and therefore, the haemorrhage from scalp wounds is often very considerable. Grey's Anatomy.

यहाँ पर जत्रु के ऊपर की सिराओं की जो कुल संख्या बतलाई है, उससे पृथक् पृथक् अंगों की संख्या का कुल योग अधिक आता है । अष्टांगसंग्रह में दोनों का योग

मिलता है । इसलिए नीचे दोनों का तुलनात्मक कोष्ठक दिया गया है—

जत्रूर्ध्व सिरासंख्या का कोष्ठक

प्रत्यंग नाम	सुश्रुत	अष्टांगसंग्रह
ग्रीवा	५६	२४
हनु	१६	१६
जिह्वा	३६	१६
नासा	२४	२४
नेत्र	३८	५६
कर्ण	१०	१६
सिर	१२	१२
जत्रूर्ध्व कुल संख्या	१९२	१६४

शङ्खप्रदेश की सिराओं की गणना सुश्रुत के अनुसार नासा-नेत्रगत याने ललाट की सिराओं में होती है और अष्टांगसंग्रह के अनुसार कान की सिराओं में होती है—कर्णयोः षोडश, त एव च शङ्खयोः ।

भवति चात्र—

व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः । प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद्विसादीनां यथा जलम् ॥३६॥

इति सुश्रुतसंहितायां शरीरस्थाने सिरावर्णविभक्ति-
शरीरं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

कमलकन्द से विसादि (मूल) के प्रतान जैसे जल (कीचड़) में चारों ओर फलते हैं, वैसे ही नाभि से चारों ओर सिराओं के प्रतान देह में फैलते हैं ॥३६॥

वक्तव्य—रसयोगसागर में इस श्लोकगत सिरा का अर्थ नर्व (Nerve) किया गया है—इत्यत्र सिराशब्देन ज्ञानतन्त्रो निर्दिष्टः । यदि यह श्लोक किसी तन्त्रग्रंथ में होता तो सिरा का अर्थ नर्व करने में कोई विशेष आपत्ति नहीं होती, परंतु आयुर्वेद में, और विशेष करके जिस सिलसिले में यहाँ पर श्लोक आया है, उसके अनुसार सिरा का अर्थ रक्तवाहिनी ही करना उचित है, नर्व करना उचित नहीं है । महामहोपाध्याय गणनाथसेन प्रत्यक्षशरीर की प्रस्तावना (पृष्ठ ६६) में इस श्लोकगत नाभि और सिरा का अर्थ नर्व ही करते हैं—अत्र हि शेषोक्तं पृथगे मणि-पूराख्यचक्रात् समन्ततः प्रसृताः नाभ्यो लक्ष्यन्ते विसर्ज्यसदृशाः, न पुनः रक्तवाहिन्यः प्रणाल्यः, इति स्फुटमिव सूक्ष्मदृशम् ॥ परंतु संज्ञापंचकविमर्श में धमनी-विवरण के समय इस श्लोकगत सिरा को 'रक्तप्रणाल्यः' कहते हैं—यश्च तत्रैव स्वमतरक्षार्थं—धमनीनां सुश्रुतोक्तं नाभिप्रभवत्वं सङ्गमयितुं नाभिपदस्य मेडुला अवलंगेया सहित स्पायनल कर्ड (Medulla oblongata with spinal cord)—अर्थात् 'सर्शीर्षकसुषुम्नाकाण्ड'रूपार्थः पण्डितप्रकाण्डेन स्वप्रतिभया

१ 'इत्येता नासानेत्रगता बोद्धव्याः' इति त्र्यचिदधिकपाठः.

आविष्कृतः, सोऽपि विदुषामुच्चैर्हासमेव कल्पयति, निर्मूलत्वाद-संभवत्वाच्च । न च तावतापि चतुर्विंशतिसंख्यकधमनीनां तत्प्रभवत्वसंगतिः सुकरा, तत्प्रभवानां नाडीनां षट्सप्ततिसंख्य-कत्वात् । किञ्च नाभिपदस्यैतादृशार्थकल्पने सिराणामपि नाभिप्रभवत्वं समानार्थमेव समर्थनीयम् । तच्चाशक्यं शास्त्रिमतानुसारेणेति न विसर्तव्यम् । उक्तं हि—‘यावत्सु सिराः काये संभवन्ति शरीरिणाम् । नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः ॥ व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः । प्रतानाः पश्चिनीकन्दाद्विसादीनां यथा जलम् ॥’ अन्यच्च, सुश्रुते धमनीव्याकरणे भवतश्चात्रेति यत् प्राचीनवचन-द्वयम्, तत्र—‘यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु विसृतेषु च । धमनीनां तथा खानि रंसो यैरुपचीयते ॥’ प्रथमवचनं धमनीनां सुधिरत्वं रसवहत्वं च स्पष्टमभिधत्ते । द्वितीयवचने तु ‘पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति’ इत्युक्त्या संज्ञावहनाख्यर्थ एव प्रतीयते । तस्माद् धमनीसंज्ञाया ब्यर्थत्वमनेकार्थत्वं वा स्वीकर्तव्यम् । यच्च सुश्रुते सूत्र-स्थाने धमनीनां हृदयप्रभवत्वमभिधाय शरीरे नाभिप्रभवत्व-मुक्तं तद् गर्भस्यबालाभिप्रायेणेति कृत्वा समाधेयम्, न पुनः सर्वाचार्यसमतं प्रत्यक्षसिद्धं धमनीनां हृदयसंबन्धमपहृत्य ॥

पृष्ठ ७० । इसके अंग्रेजी तर्जुमा में लिखते हैं—If Nabhi means Medulla oblongata and Spinal Cord in the case of Dhamani's, why should it not mean the same thing in the case of sira's also? so the confusion seems worse confounded! Probably the emerging of Sira's and Dhamani's through the Nabhi (Naval), mentioned in Sushruta, has been said in reference to the foetal circulation. The shastri has missed this point altogether. Page 74. म० म० गणनाथसेन जी का द्वितीय कथन ठीक है, प्रथम कथन गलत है । क्योंकि वहाँ पर केवल अर्थ की ओर ध्यान देकर सिरा का अंगविनिश्चय करने की कोशिश की गई है, संपूर्ण आयुर्वेदशास्त्र की दृष्टि से नहीं । अंगविनिश्चय करते समय (Identification of the old anatomical terms for modern anatomical terms) संपूर्ण आयुर्वेद का विचार न करके केवल स्थानिक अर्थ का विचार किया जाय तो इस प्रकार के अनवस्था प्रसंग और विसंवाद (चौथे अध्याय के ३३वें श्लोक का वक्तव्य देखो) स्थान स्थान पर उत्पन्न होने की संभावना हो सकती है । इस विषय का अधिक विवरण नौवें अध्याय के दूसरे सूत्र के वक्तव्य में भी किया गया है, उसको देखो । अब इसके बाद अवध्य सिराओं का कोष्ठक दिया जाता है—

शरीर की अवध्य सिराएँ

अंग	नाम	अंग्रेजी पारिभाषिक नाम
अधःशाखा	जालधरा	Great sapheneus vein
	ऊर्वी	Femoral artery and vein
	लोहिताक्ष	"

ऊर्ध्वशाखा	जालधरा	Cephalic vein
	ऊर्वी	Brachial vessels
	लोहिताक्ष	Axillary vessels
श्रोणी	विटप	Spermatic vessels
	कटीकरुण	Gluteal vessels
पृष्ठ	बृहती	Subscapular artery
	मेदोपरि	Inferior epigastric vessels
वक्ष	स्तनमूलादि	Internal mammary and lateral thoracic vessels
ग्रीवा	मातृका	Carotid arteries and Jugular veins
	कृकाटिका	Occipital vessels
	विधुर	Posterior auricular vessels
हनु	हनुसंधि	Internal maxillary vessels
जिह्वा	रसवहे, वाग्वहे	Deep lingual vessels
नासा	औपनासिकी	Angular vessels
नेत्र	अपांग	Zygomatico-temporal vessels
कर्ण	शब्दवाहिनी	Anterior tympanic vessels
ललाट	केशान्तानुगता	Supraorbital, Superficial temporal vessels
	आवर्त	Frontal branch of the Superficial temporal
	स्वपनी	Nasal branch of the frontal vein
	शंखसंधिगत	Superficial temporal vessels
	उत्क्षेप	Parietal branch of the Superficial temporal
	सीमन्त अधिपति	Branches of the occipital and Superficial vessels

इति भास्करशर्माणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शरीरस्थाने सिरावर्णविभक्ति-शरीरं नाम सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातः सिराव्यधविधिः शरीरं व्याख्यास्यामः ।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके बाद सिराव्यधविधि शरीर का व्याख्यान करेंगे, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥१॥

बालस्थविरुत्तन्तत्तीणभीरुपरिश्रान्तमद्याध्व-स्त्रीकर्षितवमितविरिकास्थापितानुवासितजागरित-ह्रीबकशगर्भिणीनां कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपक-पक्षाघातोपवासपिपासामूर्च्छाप्रपीडितानां च

सिरां न विध्येत्, वाश्चाव्यध्याः, व्यध्याश्चादृष्टाः, दृष्टाश्चायन्त्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति ॥२॥

(सिरावेध का निषेध—) बालक, वृद्ध, रुक्ष, क्षत-क्षीण, डरपोक, परिश्रान्त (थका हुआ), स्त्रीसंग मद्य-सेवन और प्रवास से थका हुआ, जिसे वमन हुआ है, जिसे विरेचन हुआ है, जिसे निरुहबस्ति दी गई है, जिसे अनुवासन बस्ति दी गई है, जिसने रात में जागरण किया है, नपुंसक, कृश, गर्भिणी, कास, श्वास, अतिज्वर, शोष, आक्षेपक, पक्षाघात, अनशन, तृषा, मूर्च्छा इनसे पीड़ितों का सिरावेध न करे; तथा अवेध्य सिराओं का, वेधन योग्य, परंतु दिखाई न दे उनका, दीखने पर जिनका यन्त्रण न किया गया है उनका, यन्त्रण करने पर भी जो न उठी हों उनका वेध न करे ॥२॥

वक्तव्य—बालस्त्विरादि—ये रोगी दौर्बल्य, भीति, सुकुमारता या रोगविशेष के कारण सिरावेध का शस्त्रकर्म या तज्जन्य रक्तनाश वरदास्त नहीं कर सकते, अतः इनके संबंध में सिरावेध न करना चाहिए । डल्हणाचार्य प्रत्येक में सिरावेध न करने का कारण अपने मतानुसार देते हैं—बालस्त्विरयोरसपूर्णधातुक्षीणत्वात् सिरां न विध्येत् । रुक्षक्षत-क्षीणानां वातप्रकोपभयात् सिरां न विध्येत् । क्षत इति उरःक्षतयुक्तः, खड्गाघमिहतो वा, क्षीणः क्षीणधातुः, गयी तु क्षतेन क्षीणस्तस्यानिल-व्याधिभयात् विध्येदिति व्याख्याति । भीरोश्च तमोबहुलत्वाद्धो-हितदर्शनेन मूर्च्छाभयात् विध्येत् । परिश्रान्तस्य श्रमकुपितो वायुः शोणितान्वसेचनेनातिप्रावर्यं प्राप्य शरीरव्यापादकः स्यात् । मद्यपस्य मदविक्षिप्तचित्तस्यातिमूर्च्छाकरत्वात्, अध्वस्त्रीकर्षितस्य वातप्रकोपभयात् विध्येत् । वान्तविरिक्तयोरकृतसंसर्जनयोरपीत-स्नेहयोर्वमनविरैकान्तरमेव वातप्रकोपभयात् सिरां न विध्येत् । आस्त्रापितजागरितयोर्मरुत्प्रकोपभयात् विध्येत् । अनुवासितस्य मंदेऽप्यो भूयोऽग्निमान्ध्रभयात् । क्षीबस्य प्रधानधातुक्षयेणाल्पसत्त्वेन च निश्चितविनाशत्वात् । कुशस्य गर्भिणीनां चोपक्षीणधातुत्वाद् देहसंदेहभयात्, कासश्वासशोषिणामप्यपचीयमानधातुत्वेन देह-संदेहभयात् विध्येत् । प्रवृद्धज्वरस्यासृक्सावेण प्रलापादिभयात् सिरां न विध्येत् ।

बाल और बूढ़ों में सिरावेध का निषेध, जैसे कि डल्हणाचार्य ने बताया है, असंपूर्ण क्षीणधातु के कारण नहीं है । ये भी आवश्यकता पड़ने पर शोणितान्वसेचन सहन कर सकते हैं, परंतु सुकुमार या डरपोक होने के कारण सिरावेध का शस्त्रकर्म और रक्तदर्शन सहन नहीं कर सकते । इसलिए सूत्रस्थान के १३वें अध्याय में लिखा है—नृपाव्यध्यास्त्विरिभिरुर्बलनारीसुकुमाराणामनुग्रहार्थं परम-सुकुमारोऽयं शोणितान्वसेचनोपायोऽभिहितो जलौकसः । इसकी टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—असुकुमारोपायस्तु प्रच्छन्नं सिराव्यधनं च । सिरां न विध्येत्—यह निषेध साधारण परिस्थिति में किया गया है । जब विशेष परिस्थिति या विशेष कारण उत्पन्न होते हैं, तब सिरावेध के द्वारा शोणित मोक्षण कर सकते हैं—न त्वेष निषेधो विषयसंश्लेषसर्गालयविक-व्याधिषु । (अष्टांगसंग्रह) । जैसे, बच्चों में खाँसी, श्वास-

कृच्छ्र, ज्वर इत्यादि लक्षण तीव्र होते हैं, तब (Broncho-pneumonia), तथा ज्वर और श्वासकृच्छ्र के साथ स्वरयन्त्र शोथ (Laryngitis) होता है, तब गले में सिरावेध करने से फायदा होता है । अथवा गर्भिणी में जब गर्भाक्षेपक या गर्भापतनक (Eclampsia प्रथम खण्ड पृष्ठ ३६३ देखो) उत्पन्न होता है, तब शरीरगत विष को निकालने के लिए सिरावेध किया जाता है और उससे बहुत फायदा होता है । अथवा पक्षाघात में जब रक्त का भार अधिक रहता है, तब भी सिरावेध से रक्तमोक्षण करने पर फायदा होता है । अन्तःशय्यता या रक्त जमने के कारण (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३२५ देखो) पक्षाघात होता है, तब सिरावेध से नुकसान होता है । इसलिए पक्षाघात में कारणों के अनुसार सिरावेध का निषेध या विधि होती है । अथवा जब सर्प काटता है, तब रक्तगत विष का उत्सर्ग करने के लिए मनुष्य निरपेक्ष दंशस्थान की सिरा का वेध किया जाता है और उससे फायदा होता है—समन्ततः सिरां विध्येदंशान्तु कुशलो भिषक् । रक्ते निर्हियमाणे तु कृत्स्नं निर्हियते विषम् । तस्माद्विस्त्रावयेद्वक्तं सा ह्यस्य परमा क्रिया ॥ (सुश्रुत) । अथवा आक्षेपक (Convulsions) जब वृक्करोगजन्य मूत्रविषमयता (Uremia) के कारण या मस्तिष्कगत रक्ताधिक्य के कारण उत्पन्न होते हैं, तब सिरावेध से फायदा होता है । वाश्चाव्यध्याः—किसी रोग में सिरावेध की आवश्यकता होने पर भी पिछले अध्याय में प्रत्येक अंग-प्रत्यंग की जो अवेध्य सिराएँ बतलाई गई हैं, उनका वेध न करना चाहिए । वाश्चादृष्टाः—जो सिराएँ दिखाई न दें, उनका वेध न करना चाहिए । सिरा दिखाई न देने के निम्न कारण होते हैं—(१) सिराएँ साधारणतया उत्तान (Superficial) होती हैं, इसलिए दिखाई देती हैं । जो गम्भीर होती हैं, वे नहीं दिखाई देती । इसलिए गंभीरता प्रथम कारण है । (२) अस्थूलता—वेध के लिए साधारणतया स्थूल या मोटी सिरा प्रशस्त होती है, जो दीख पड़ती है, उठती है और यन्त्रित भी की जाती है । जो सिरा छोटी होती है, वह दीख नहीं पड़ती । (३) अभाव या स्थानान्तर—सिराओं (Veins) के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि उनका स्थान निश्चित रहता है तथापि कई बार वे अपने स्थान में न होकर इधर-उधर मिलती हैं या कई बार उनका अभाव होता है । यह स्थिति मुख्यतया उत्तान सिराओं के संबंध में होती है । इन कारणों से जब यथोक्तसिरा नहीं मिलती, तब समीपवर्ती दूसरी सिरा का ग्रहण करने के लिए वाग्भटाचार्य कहते हैं—यथोक्तानामदर्शने । मर्महीने यथासंख्य देशेऽन्यां व्यधयेच्छिराम् । (अष्टांगहृदय) । दृष्टाश्चायन्त्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिताः—इसका कारण आगे ३३वें श्लोक में (सिरासु शिथिलो नास्ति) दिया गया है । ठीक यन्त्रण न करने से सिरा का उत्थान ठीक नहीं होता और उत्थान ठीक न होने से वेधन के कर्म में कठिनाई उत्पन्न होती है, जिससे दुष्ट व्यधन के दोष (आगे ३१वाँ सूत्र देखो) उत्पन्न होते हैं और सिरावेध का लाभ भी नहीं होता ।

शोणितवसेकसाध्याश्च ये विकाराः प्रागभिहितास्तेषु चापकेष्वन्येषु चानुकेषु यथाभ्यासं यथान्यायं च सिरां विध्येत् ॥३॥

(सिरावेध निर्देश—) रक्तमोक्षण से साध्य होने वाले जो रोग पहले निर्दिष्ट किये गये हैं, तथा जो अन्य (शोणितवसेक साध्य) अनिर्दिष्ट रोग हैं, उनमें अपकावस्था में यथाभ्यास तथा यथाविधि सिरा का वेधन करे ॥३॥

वक्तव्य—प्रागभिहिताः—सूत्रस्थान के चौदहवें अध्याय के चौतीसवें श्लोक में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८५ देखो) ; इसके सिवा रक्तज और स्त्राव्य विकारों का निर्देश २४वें अध्याय के १०वें सूत्र में और २५वें अध्याय के ११-१४वें श्लोकों में किया गया है । अपकेषु—अनेक रोग शोथ (Inflammation) के कारण उत्पन्न होते हैं । शोथ के स्थान में हमेशा रक्ताधिक्य हो जाता है और इसी रक्त के द्वारा स्थानिक विकृति का निराकरण होता है । शोथ के दो पर्यवसान मुख्यतया होते हैं—१ उपशम (Resolution), और २ पाक (Suppuration) । जब पाक बन जाता है, तब रक्तमोक्षण से कोई फायदा नहीं होता । रक्तमोक्षण से उपशम होने में सहायता होती है—वेदनोपशमार्थाय तथा पाकशमाय च । अचिरोत्पत्ति शोफे कुर्यात् शोणितमोक्षणम् ॥ सशोफे कठिने द्यामे सरक्ते वेदनावति । संरब्धे विषमे वाऽपि त्रणे विस्त्रावणं हितम् ॥ (सुश्रुत, चि० १) । इसलिए रोग में जब तक उपशम होने की संभावना होती है, तब तक रक्तमोक्षण का इलाज करना उचित है । रक्तमोक्षण से उपशम में सहायता होती है तथा वेदना कम होती है । इसकी आधुनिक शास्त्रज्ञ भी मानते हैं । परंतु उसके साथ रक्त का मोक्षण करने से स्थानिक प्रतिकार-शक्ति भी कुछ कम हो जाती है, ऐसी उनकी राय है । इसलिए आधुनिक चिकित्सक रक्तमोक्षण के विपक्ष में हो गये हैं । रक्तमोक्षण उसी समय किया जाता है, जब शोथजन्य रक्ताधिक्य मर्यादा से अधिक होता है और रोगी भी रक्तल (Plethoric) होता है । यथाभ्यासम्—इसके निम्न तीन अर्थ होते हैं । इनमें प्रथम अर्थ अधिक प्रशस्त मालूम होता है—(१) अभ्यास का अर्थ परम्परा, पद्धति या प्रथा (Practice); यथाभ्यास, जिस रोग में जहाँ पर सिरावेध करने की परम्परा होगी, उसके अनुसार । इस प्रकार का अर्थ निम्न वाक्य में मिलता है—तद् यथाभ्यासम् अभिधीयताम् । (उत्तररामचरित) । संक्षेप में गुरूपदिष्ट मार्ग द्वारा । अभ्यास—समीप्य या निकटता; यथाभ्यास समीपवर्ती । जहाँ पर रोग होता है, उसके समीप में होने वाली सिरा—यथाभ्यासमिति यथासमीपमित्यर्थः । (डल्हण) । (३) यथाभ्यासं यथासन्नम्, एतत् मुख्यानामदर्शनविषयम् । सरन्ति च—यथोक्तानामदर्शने । मर्महीने यथासन्ने देशेऽन्या व्यधेच्छिराम् । (हाराणचन्द्र) । यथान्यायम्—जैसी कि आगे व्यधन की विधि बताई गई है, उसके अनुसार । यथाविधि—न्यायस्य स्नेहस्वेदादिकसानतिक्रमेण यथान्यायम् ।

(डल्हण) । हाराणचन्द्र इसका संबंध सिरा के साथ जोड़ते हैं—यथान्यायं यथोचिताम्, इति तु व्यध्यासु बहीषु-त्थितासु विमृश्य व्यधनार्थम् ॥

प्रतिषिद्धानामपि च विषोपसर्गात्ययिकेषु सिराव्यधनमप्रतिषिद्धम् ॥४॥

(निषिद्ध रोगियों में सिरावेध के प्रयोजन—) विषोपसर्ग और आत्ययिक रोगों में (सिरावेध के लिए) निषिद्ध रोगियों का भी सिरावेध निषिद्ध नहीं है ॥४॥

वक्तव्य—विषोपसर्ग—विष का उपसर्ग होने पर । सर्पविष के उपसर्ग में सिरावेध किया जाता है, इसका विवरण २ सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । इसके सिवा विषजन्य कामला (Toxic gaundice) में भी विष का नाश करने के लिए सिरावेध किया जाता है । कामला दो प्रकार की होती है । एक वह है, जिसमें पित्तोत्सर्ग में बाधा उत्पन्न होती है । इसको अवरोधजन्य (Obstructive) कहते हैं । दूसरी वह है जो संखिया, फारफरस, क्रोरोफार्म इत्यादि विषों के सेवन से तथा कुछ उपसर्गजन्य रोगों से उत्पन्न होती है । इसको विषजन्य कहते हैं । कार्बन मोनो-क्साइड (Co) की विषमयता में भी सिरावेधन से रक्तमोक्षण किया जाता है । आत्ययिक—अत्ययः नाशः प्रयोजनं यस्य । प्राणनाशक, महाविपत्तिकर । जैसे, गर्भिणी के आक्षेप । इसमें यद्यपि गर्भिणी सिरावेध के लिए निषिद्ध होती है तथापि आक्षेपक में यह निषेध दूर हो जाता है ।

तत्र स्निग्धस्निग्धमातुरं यथादोषप्रत्यनीकं द्रव-प्रायमन्नं भुक्नुवन्तं यवागूं पीतवन्तं वा यथाकाल-मुपस्थाप्यासीनं स्थितं वा प्राणानवाधमानो वस्त्रपट्ट-चर्मन्तर्वल्कललतानामन्यतमेन यन्त्रयित्वा नाति-गाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशमासाद्य यथोक्तं शस्त्रं-मादाय सिरां विध्येत् ॥५॥

(सिरावेधनविधि—) स्नेहन और स्वेदन किये हुए दोषविपरीत द्रवभूयिष्ठ आहार सेवन किये हुए, अथवा यवागूं पिये हुए, उचित समय पर उपस्थान करके बैठे हुए या सुयन्त्रित किये हुए रोगी को शरीर (के एक) प्रदेश (को रोग के अनुसार ठीक करके उस) में वस्त्रपट्ट, चर्म (पट्ट), अन्तर्वल्कल (पट्ट), लता (प्रतान); इनमें से किसी एक से न बहुत तंग न बहुत शिथिल बाँधकर उचित शस्त्र से प्राणों को बाधा न पहुँचाते हुए सिरा को प्राप्त करके वेधन करे ॥५॥

वक्तव्य—स्निग्धस्निग्ध—सम्यक् स्नेहन और स्वेदन से शरीरगत दोष रक्तवाहिनियों में आते हैं और सिरावेध करने पर उत्सर्ग हो जाता है । इसलिए सिरावेध के पूर्व स्नेहन और स्वेदन दिया जाता था—सम्यक् स्निग्धस्निग्धस्य पुनर्द्वीभूता दोषाः शोणितमनुप्रविष्टाः सम्यक् प्रच्यवन्ते । (अष्टांग-संग्रह) । अस्निग्ध या अतिस्निग्ध होने से रक्त का स्राव

अधिक होता है—अत्युष्णेऽतिस्निग्धेऽतिप्रवर्तते । (सुश्रुत, सूत्र १४) । यथादोषप्रत्यनीकम्—शारीरिक दोष या क्रतुदोष या दोनों का प्रतीकार जिससे होगा, ऐसा आहार । संक्षेप में धातुसाम्यावस्था करने वाला । द्रव्यप्रायम्—द्रव्यभूयिष्ठ । रक्तावसेचन से शरीर का जो द्रवांश नष्ट होगा, उसकी पूर्ति करने के लिए द्रवभूयिष्ठ आहार दिया जाता है । मुक्तवन्तम्—लघुमुक्तवन्तम् । सिरावेध शस्त्रकर्म है । इससे रोगी को मूर्च्छा आ सकती है । उसको दूर करने के लिए रोगी को हल्का आहार दिया जाता है—न मूर्च्छत्यन्नसंयोगात् ॥ यवागूं पीतवन्तम्—यवागूं भी रोगी को मात्रा से पिलाना चाहिए—यवागूं प्रतिपीतस्य शोणितं मोक्षयेद्विषक् । (सूत्र १४) । इस श्लोक की टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—सा हि प्रायशः प्रहेदनात्मिका स्वेदलत्वाद् द्रवोष्णत्वाच्च शोणितं विलाययति प्रतिशब्दोऽत्र मात्रार्थः, तेन यवागूं मात्रया पीतवत् इत्यर्थः ॥ उपस्थाप्य—बलि, मङ्गल, स्वस्त्ययनादि कराके । प्रत्येक शस्त्रकर्म के पूर्व देवतार्चन करने का प्राचीन रिवाज था । सूत्रस्थान के ५वें अंगोपहरणीय अध्याय का ६ सूत्र देखो । आसीनम्—विस्तरे पर या किसी आसन पर बैठा हुआ । सिरावेध के लिए बैठना यही उत्तम आसन है । रोगी को खड़ा करने से मूर्च्छा जल्दी उत्पन्न होने का डर रहता है और विस्तरे पर लिटाने से शरीर से अधिक रक्तस्राव होने पर भी मूर्च्छा या चक्कर नहीं आता । मूर्च्छा रक्तस्राव रोकने के लिए एक सूचक लक्षण होता है । परंतु वह केवल बैठे हुए रोगी में ही योग्य सूचक होता है । स्थितं वा—किंवा यन्त्रणशाटक से सुयन्त्रित किये हुए । रोगी न हिलने पावे, इसलिए उसका यन्त्रण करने का रिवाज था । सिरावेध में प्रत्येक रोगी को सुयन्त्रित करने की आवश्यकता नहीं है । यन्त्रण दो प्रकार का होता है—सार्वदैहिक रोगी को स्थिर करने के लिए, और स्थानिक सिरा को उत्थित करने के लिए । स्थानिक की आवश्यकता प्रत्येक समय होती है, परंतु सार्वदैहिक की नहीं होती । स्थित से सार्वदैहिक नियन्त्रण का बोध होता है । संक्षेप में 'आसीनं स्थितं वा' का अर्थ 'सुखोपविष्टं सुयन्त्रितं वा' होता है । डल्हणाचार्य 'स्थितं' का अर्थ खड़े हुए (ऊर्ध्वभूतम्) करते हैं । प्राणानवाधमानः—यह वैद्य का विशेषण है । अतिवेध, अवेध्य सिरावेध, मर्मवेध इत्यादि से (आगे सूत्र ३१ देखो) वैद्य रोगी के प्राणों को बाधा पहुँचा सकता है । इसलिए 'मर्मादि का परिहार करके' इसका अर्थ करना उचित है । वस्त्रपट्टादि—इनका उपयोग शरीर का अंग बाँधने के लिए किया जाता है । इससे सिरागत रक्तप्रवाह बंद होकर सिरोत्थान में सहायता होती है । यह बंधन हमेशा वेधस्थान से कुछ ऊपर की ओर हृदय और वेधस्थान के बीच में होना चाहिए । नातिगाढं नातिशिथिलम्—गाढ और शिथिल का संबंध रक्तप्रवाह के साथ है । इतना तंग न होना चाहिए कि धमनीगत रक्तप्रवाह रुक जाय, तथा इतना शिथिल न होना चाहिए कि सिरागत रक्तप्रवाह जारी रहे । वस्त्रपट्ट इस प्रकार से बाँधा जाय कि धमनीगत प्रवाह में बाधा न हो परंतु सिरागत प्रवाह में बाधा पड़े । इससे सिरा में

अधिकाधिक रक्त आने से और आये हुए रक्त का मार्ग अवरुद्ध होने से उसका उत्थापन भली भाँति होता है । 'नातिगाढमुत्तमाङ्गे, नातिशिथिलं शाखासु' यह डल्हणाचार्य का कथन ठीक नहीं है । यह शब्दसमूह एक ही स्थान के बंधन के लिए प्रयुक्त हुआ है—ध्वादीनामन्यतमेन नातिगाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशं यन्त्रयित्वा । आसाद्य—इसका संबंध 'सिरा' के साथ है; सिरा को प्राप्त करके । यथोक्तं शस्त्रम्—सिरावेध में कुठारिका, व्रीहिमुख, आरा और वेतसपत्र इनका उपयोग होता है—कुठारिका व्रीहिमुखारावेतसपत्रकाणि व्यधने । (सुश्रुत, सूत्र ८) । इनमें से अस्थि के ऊपर की सिरा का वेधन करने के लिए कुठारिका और मांसल प्रदेश स्थित सिरा का वेधन करने के लिए व्रीहिमुख प्रयुक्त होता है । आगे १८वाँ सूत्र देखो । इनमें से योग्य शस्त्र को ग्रहण करके तद्द्वारा ।

नैवातिशीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाध्निते ।

सिराणां व्यधनं कार्यमरोगे वा कदाचन ॥६॥

(सिरावेध के लिए अयोग्य काल—) अत्यन्त शीतकाल में, अत्यन्त उष्णकाल में, जोर से हवा चलते समय में, अत्राच्छादित दिन में सिराओं का वेध नहीं करना चाहिए; तथा नीरोग (स्थिति) में भी कदापि (न करना चाहिए) ॥६॥

वक्तव्य—नैवातिशीते इत्यादि—काल का यह नियम अनात्ययिक अवस्था के लिए है । आत्ययिक अवस्था में कृत्रिम पद्धति से शीतोष्णादि दोषों का परिहार करके सिरावेध कर सकते हैं—शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम् । कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥ (सुश्रुत, सूत्र ३५) । चरक में भी लिखा है—तत्र साधारणलक्षणेष्वनुष्ठुपु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते, निवृत्तिरितरेषु । इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वाद् दुःखताश्च भवन्ति । आत्ययिके पुनः कर्मणि काममृतं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन प्रयोजयेदुत्तमेन यत्नेनावहितः ॥ (विमान ८) । अरोगे—वमन विरेचनादि का उपयोग एकाध बार नैमित्तिक कारण से नीरोग अवस्था में कर सकते हैं, परंतु सिरावेध का उपयोग इस प्रकार नहीं किया जा सकता । आगे १९वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो ।

तत्र व्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्यमुखमरत्निमात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने सक्थोराकुञ्चितयोर्निवेश्य कूर्परौ सन्धिद्वयस्योपरि हस्तावन्तर्गुदाङ्गुलकृतमुष्टी मन्ययोः स्थापयित्वा यन्त्रणशाटकं त्रीवामुष्ट्योरुपरि परिक्षिप्यान्येन पुरुषेण पश्चात्स्थितेन वामहस्तेनोत्तानेन शाटकान्तद्वयं ग्राहयित्वा ततो वैद्यो ब्रूयात्—दक्षिणहस्तेन सिरोत्थापनार्थं नात्यायतशिथिलं यन्त्रमावेष्टयेति, अस्कुन्नावणार्थं च यन्त्रं

१ सक्थोराकुञ्चितयोरुपरि कूर्परसन्धिद्वयं निवेश्य. २ वन्तपीडयेति. पृष्ठमध्ये च पीडयेत्.

पृष्ठमध्ये पीडयेति, कर्मपुरुषं च वायुपूर्णमुखं स्थापयेत्; एष उत्तमाङ्गगतानामन्तर्मुखवर्जानां सिराणां व्यधने यन्त्रणविधिः ॥७॥

(उत्तमाङ्गसिरावेध की यन्त्रणविधि—) जिसकी सिरा का वेध करना हो, उस पुरुष को अरलिमात्र ऊँचे आसन पर सूर्य की ओर मुख करके बैठाकर, दोनों टोंगों को सिकोड़कर, (दोनों जानु)संधियों के ऊपर कोहनियों को स्थापित करके, जिनमें अँगूठा अंदर की ओर हो ऐसी मुट्टियाँ बाँधे हुए हाथों को (ग्रीवा में) मन्थाओं के ऊपर रखकर (पश्चात्) नियन्त्रण का पट्ट ग्रीवा और मुट्टियों के ऊपर फेंककर, पीछे की ओर खड़े हुए दूसरे पुरुष से ऊँचे किये हुए बायें हाथ के द्वारा यन्त्रणशाटक के दोनों सिरों को पकड़वाकर वेध (पुरुष को) कहे—कि सिरा को उठाने के लिए दाहिने हाथ से यन्त्रणशाटन को न बहुत गाढ़ न बहुत शिथिल लपेटो तथा रक्तस्रावणार्थ यन्त्रणशाटक को पीठमध्य में निष्पीडन करो और व्यध्य-सिर पुरुष को मुख में वायु भरकर बैठाओ; मुख के अन्दर की सिराओं को छोड़कर सिर की शेष सिराओं का वेध करने (के समय) की यह यन्त्रणविधि है ॥७॥

वक्तव्य—प्रत्यादित्यमुखम्—आदित्य से यहाँ पर प्रकाश से मतलब है; अर्थात् प्रकाश जिस तरफ से आता है, उस तरफ मुख करके। सुप्रकाशित मुख होने से, मुख के साथ संपूर्ण शरीर भी हो जायगा, सिरा देखने में तथा कुठारिका प्रहार करने में सहलता हो जायगी, अन्यथा इधर उधर प्रहार होने का डर रहेगा। अरलिमात्रोच्छ्रिते—कनिष्ठाङ्गुलिप्रमित-हस्तावेगोच्छ्रिते। (डल्हन)। मध्याङ्गुलीकूर्परयोर्मध्ये प्रामाणिकः करः। बद्धमुष्टिकरोरिपरिः सक्निष्ठिकः ॥ (हलायुध)। इस आसन के संबंध में हाराचन्द्र लिखते हैं कि यह बेकार है, जमीन पर रोगी को बैठाने से भी सिरावेध का काम उत्तम होता है—अरलिमात्रोच्छ्रित इत्यकिञ्चित्करमिवावभाति, शश्वदेव भूमावुपवेद्य कर्म कुर्वाणानामस्माकं नियमेन सिञ्चवाप्तेः। संधिद्वयस्योपरि—जानुसंधिद्वयस्योपरि। अन्तर्गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टि—तलसंवृताङ्गुष्ठेन पाणिना कृता मुष्टिर्यत्र। इस प्रकार मुट्टी बाँधने से मुष्टिपीडन में जोर मिलता है। वारभटाचार्य मुट्टी में कुछ कपड़ा रखने के लिए कहते हैं—मुष्टिभ्यां वस्त्रमर्भाभ्याम्। अँगूठा मध्य में रखने से जो फायदा होता है, वही फायदा वस्त्र रखने से मिलता है। वायुपूर्णमुखम्—मुखद्वार बंद करके वायु से गालों को फुलाना। इसके सिवा दन्तपीडन और उत्कासन करने के लिए कहा है—दन्तप्रपीडनोत्कास-गण्डाध्मानर्त्तन चाचरेत्। (अष्टाङ्गहृदय)। दन्तप्रपीडनादि कर्मों से सिरास्थापन में सहायता होती है। उत्कासनेन कोषसंरमेण चापूर्यन्ते सिराः। (अष्टाङ्गसंग्रह)। यन्त्रणशाटकम्—यन्त्रणवस्त्रपट्टम्।

तत्र पादव्यधिसिरस्य पादं समे स्थाने सुस्थिरं स्थापयित्वाऽन्यं पादमीषत्संकुचितमुच्चैः कृत्वा व्यध्यसिरपादं जानुसन्धेरधः शाटकेनावेष्ट्य हस्ता-

भ्यां प्रपीड्यागुलं व्यध्यप्रदेशस्योपरि चतुरङ्गुले श्लोतादीनामन्यतमेन बद्धा वा पादसिरां विधेत् ॥८॥

(पादसिरावेध यन्त्रणविधि—) जिसके पैर की सिरा का वेधन करना हो, उसके पाँव को समस्थान पर अच्छी तरह से स्थिर करके दूसरे पाँव को कुछ सिकोड़कर ऊँचा करके सिरावेध के पाँव को जानुसंधि के नीचे (यन्त्रण)शाटक से (न बहुत ढीला न बहुत तंग) लपेटकर (नीचे के भाग को) टखने तक दोनों हाथों से पीड़न करके (सिरा उठने पर उसका वेधन करे); अथवा वेध करने के स्थान से चार अंगुल ऊपर वस्त्रादि में से किसी एक से बाँधकर सिरा का वेधन करे ॥८॥

वक्तव्य—हस्ताभ्यां प्रपीड्य—हाथों से पीड़न करने पर भीतर का रक्त जल्दी सिरा में आकर वह उत्थित होती है। बद्धा वा—यन्त्रणशाटक लगाने के दो स्थान बताये गये हैं; एक स्थान जानुसंधि के नीचे और दूसरा व्यध्य-प्रदेश से चार अंगुल ऊपर। इनमें से किसी एक स्थान में शाटक बाँधना चाहिए।

अथोपरिष्ठाद्धस्तौ गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी सम्यगासने स्थापयित्वा सुखोपविष्टस्य पूर्ववद्यन्त्रं बद्धा हस्त-सिरां विधेत् ॥९॥

(हस्तसिरावेधन यन्त्रणविधि—) सुख से बैठे हुए मनुष्य के अंदर की ओर किये हुए अँगूठे की मुट्टी बाँधे हुए हाथों को ऊपर उचित आसन पर स्थापित करके पहले की तरह बाँधकर हाथ की सिरा का वेधन करे ॥९॥

वक्तव्य—हस्तौ—यहाँ पर दो हाथों की कोई आवश्यकता नहीं है; जिस हाथ की सिरा का वेधन करना हो उस हाथ को मुट्टी बाँधकर आसन पर रखने से काम होता है। इसलिए 'हस्तं गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टिं सम्यगासने स्थापयित्वा' इत्यादि परिवर्तन करने से योग्य अर्थ निकलता है। अन्तर्गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टि—अँगूठा भीतर रखने से मुट्टी बाँधने में जोर मिलता है। इसके सिवा हस्ततल मध्य के ऊपर अँगूठे का दबाव पड़ता है, जिससे वहाँ का रक्त ऊपर सिराओं में चला जाता है। मुट्टी को कई बार दबाने का कार्य करना चाहिए। इससे संपूर्ण हाथ की पेशियों का रक्त सिराओं में, विशेषतया उत्तान सिराओं में आकर वे उत्थित होती हैं। इससे काम न हो तो हाथ में पाषाण का गोल टुकड़ा भी देने का रिवाज था—पाषाणमर्भहस्तस्य। (अष्टाङ्गहृदय)। पूर्ववत्—पाद की तरह कूर्परसंधि के नीचे या वेधस्थान के चार अंगुल ऊपर यन्त्रणशाटक से बाँधकर। अर्वाचीन हस्तसिरावेधनविधि—प्राचीन काल की तुलना में अर्वाचीन काल में सिरावेध का उपयोग बहुत मर्यादित हुआ है। इसके लिए प्रायः हाथ की सिरा पसंद की जाती है। हाथ की सिराओं में भी कूर्पर के सामने की सिरा (Median cubital vein) अधिकतर काम में लाई जाती है। इसका एक कारण यह है कि यह बड़ी सिरा है, जिससे काफी रक्त

निकल सकता है। दूसरा कारण यह है कि अन्य सिराओं के समान यह बहुत चल नहीं है क्योंकि यह सिरा स्नायुपट्टिका (Lacertus fibrosus) से कुछ बँधी हुई है, जिससे इसको धामने में सहूलता होती है। सिरा को उत्थित करने के लिए कूर्परसंधि के ऊपर यन्त्रणशाटक (Bandage) बाँधा जाता है तथा हाथ में कोई लकड़ी का टुकड़ा या वस्त्रपट्ट का बेलन (Bandage Roleer) दिया जाता है। सिरावेध के समय रोगी कुर्सी पर या बिस्तरे पर बैठाया जाता है। फिर त्वचा का विशोधन करके बाएँ हाथ के अँगूठे से सिरा को स्थिर करके दायें हाथ से नक्षत्र द्वारा उस पर छेदन किया जाता है। सिरा से निकलने वाला रक्त एक काँच के बर्तन में इकट्ठा किया जाता है। इससे निकाले हुए रक्त की राशि मालूम होती है।

गृध्रसीविश्वाच्योः संकुचितजानुकूर्परस्य ॥१०॥

(गृध्रसी और विश्वाची में सिरावेधविधि—) गृध्रसी और विश्वाची में जानु और कूर्पर संकुचित किये हुए (मनुष्य की सिरा का वेधन करना चाहिए) ॥१०॥

**श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषून्नामितपृष्ठस्यावाक्शिरस्कस्यो-
पविष्टस्य विस्फूर्जितपृष्ठस्य विध्येत् ॥११॥**

(पृष्ठादिगत सिरावेधविधि—) पीठ को ऊँचे और सिर को नीचे किये हुए, (अतएव) जिसकी पीठ तनी हुई है ऐसे बैठे हुए (पुरुष) की पीठ, श्रोणी और कंधे में सिरा का वेधन करे ॥११॥

**उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नामितशिरस्कस्य
विस्फूर्जितदेहस्य ॥१२॥**

(उदरवक्ष की सिरावेधनविधि—) छाती को प्रसारित किये हुए, सिर को ऊँचा किये हुए और देह को फैलाये हुए (मनुष्य) की उदर और छाती की (सिरा का वेधन करे) ॥१२॥

बाहुभ्यामवलम्बमानदेहस्य पार्श्वयोः ॥१३॥

(पार्श्वसिरावेधनविधि—) बाहुओं से लटकते हुए (पुरुष के) शरीर की पार्श्व की शिरा का वेधन करे ॥१३॥

अवनामितमेढस्य मेढ्रे ॥१४॥

(शिशुसिरावेधविधि—) जिसका शिशु कुछ नीचे झुकाया गया है, ऐसे (पुरुष के) मेढ में (सिरावेधन करे) ॥१४॥

वक्तव्य—शिशु के सिरावेधन के लिए उसका हर्षित होना याने रक्तपूर्ण होना बहुत आवश्यक है। इसलिए वाग्भटाचार्य लिखते हैं—प्रहृष्टे मेहने। (अष्टांगहृदय)। उन्नतमेढस्य मेढ्रे। (अष्टांगसंग्रह)। प्रहृष्ट होने पर वह खड़ा हो जाता है, तब सिरावेध के समय उसको जरा दबाकर कर्म करना पड़ता है।

उन्नमितविदृष्टजिह्वाग्रस्याधोजिह्वायाम् ॥१५॥

(जिह्वासिरावेधविधि—) जिसकी जिह्वा का अग्र ऊपर और मोड़कर अंदर गले की ओर किया गया है, ऐसे पुरुष की जीभ के नीचे की (सिरा का वेधन करे) ॥१५॥

वक्तव्य—विदृष्ट—जिह्वा के अग्र को गले की तरफ लेना। इससे जिह्वा का अधोभाग स्पष्ट हो जाता है—जिह्वा विदृष्टा ऊर्ध्वमुखिप्यान्तर्ग्रहणेन गले नीता। (इन्दु)।

अतिव्यात्ताननस्य तालुनि दन्तमूलेषु च ॥१६॥

(तालु और दन्तमूल सिरावेधविधि—) मुख को अत्यन्त चौड़ा खोले हुए पुरुष की तालु और दन्तमूलों की (सिरा का वेधन करे) ॥१६॥

**एवं यन्त्रोपायानन्यांश्च सिरोत्थापनहेतून्
बुद्ध्याऽवेद्य शरीरवशेन व्याधिवशेन च विद-
ध्यात् ॥१७॥**

(अनुक्त यन्त्रणविधि—) इस प्रकार (वैद्य अपनी) बुद्धि से सिराओं को उठाने के लिए अन्य यन्त्रणोपायों को आविष्कृत करके रोग और शरीर के अनुसार (उनको सिरावेधन के) काम में लखे ॥१७॥

वक्तव्य—यन्त्रणोपाय—पट्टादि से बाँधना यही केवल यन्त्रण का अर्थ नहीं है; शरीर या अंग को फैलाना, सिकोड़ना, विस्फूर्जित करना, टेढ़ा करना इत्यादि उपाय भी यन्त्रण में समाविष्ट होते हैं। संक्षेप में, सिराओं का उत्थापन करने में सहायता करने का हर एक कर्म यन्त्रण का उपाय होता है।

**मांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं शङ्खं निदध्यात्,
अतोऽन्येष्वर्धयवमात्रं व्रीहिमात्रं वा व्रीहिमुखेन,
अस्थनामुपरि कुटारिकया विध्येदर्धयवमात्रम् ॥१८॥**

(सिरावेधन में शङ्खपातन का प्रमाण—) मांसल प्रदेशों में यवमात्र शङ्ख घुसाना चाहिए, इससे अन्यत्र (जहाँ मांस अधिक न हो) आधे जौ के बराबर या व्रीहि-मुख से व्रीहि के बराबर (वेधन करे)। हड्डियों के ऊपर कुटारिका से आधे जौ के बराबर वेधन करे ॥१८॥

वक्तव्य—सिरावेधन में शङ्खपात का यहाँ पर जो प्रमाण बताया गया है, वह केवल मार्गदर्शन के लिए है। सिरावेधन में यह ध्यान में रखना चाहिए कि वेधन से सिरा में आर-पार छेदन न हो, केवल सामने की दीवाल में हो। अन्यथा सिरासमीपवर्ती धमनी नाड़ी आदि में चोट पहुँचने का डर रहता है। आगे ३२वें सूत्र में दुष्ट सिरावेध भी देखो।

भवन्ति चात्र—

**व्यध्रे वर्षासु विध्येत(त्तु) ग्रीष्मकाले तु शीतले।
हेमन्तकाले मध्याह्ने शस्त्रकालाख्यः स्मृताः ॥१९॥**

(शस्त्रकर्म के लिए उचित काल—) वर्षाऋतु में जब बादल न हों तब, ग्रीष्मऋतु में शीतलकाल (पूर्वाह्न) में

और हेमन्तऋतु में मध्याह्न म वेधन करे । शस्त्रकर्म के लिए (इन अनुचित ऋतुओं में) ये ही काल होते हैं ॥१९॥

वक्तव्य—शस्त्रकर्म तथा वमनादि पंचकर्मों के लिए हमेशा प्रातृद, शरद और वसन्त ये तीन साधारण लक्षण ऋतुविहित होते हैं । वर्षा, ग्रीष्म और हेमन्त अतिशय लक्षणान्वित होने के कारण निषिद्ध माने गये हैं । परंतु आत्ययिक अवस्था में सब ऋतुओं में चिकित्सा करनी पड़ती है । उस समय किस दिन और दिन के किस समय पर काम करना चाहिए, इसका विवरण इस श्लोक में किया गया है । पीछे भी ६ श्लोक की टिप्पणी देखो ।

सम्यक्शास्त्रनिपातेन धारया या स्रवेदसृक् ।

मुहूर्तं रुद्धा तिष्ठेच्च सुविद्धां तां विनिर्दिशेत् ॥२०॥

(सुविद्धसिरा का लक्षण—) शस्त्र के सम्यक् प्रयोग से (विद्ध हुई) जो (सिरा) धारारूप में कुछ काल तक रक्त को स्रवती है तथा रोकने पर बंद हो जाती है, उसको सुविद्ध जानना चाहिए ॥२०॥

वक्तव्य—रुद्धा—शारीरिक कर्मों का या शाटक का नियन्त्रण छोड़ करके जरा सा दबाने पर । दबाने का काम प्रायः अंगुलि से किया जाता है—अंगुल्यग्रेणावपीडयेत् । (सुश्रुत) ।

यथा कुसुम्भपुष्पेभ्यः पूर्वं स्रवति पीतिका ।

तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते ॥२१॥

जैसे, कुसुम्भ (Carthamus Tinctorius) के फूलों (को तोड़ने) से प्रथम पीला रस बहता है, उसी प्रकार सिराओं के वेधन से प्रथम दुष्ट रक्त बहता है ॥२१॥

वक्तव्य—रक्तमोक्षण से रक्तदोष तथः अन्य दोष दूर होकर स्वास्थ्य ठीक होता है, यह अनुभवसिद्ध बात है । इस अनुभव के आधार पर यह कल्पना की गई है कि जो रक्त प्रथम निकलता है, उसमें दोष होते हैं । परंतु यह कल्पना सिरावेधजन्य रक्तमोक्षण के संबंध में पूर्णतया ठीक नहीं है । सिरागत रक्त में संपूर्ण शरीर के रक्त का संबंध है—सिराऽङ्गव्यापके रक्ते । यदि रक्त में कुछ दोष हो तो प्रारंभिक और अन्तिम रक्त में एक सा होगा और जितने प्रमाण में रक्त निकाला जायगा, उतने प्रमाण में दोष भी रक्त के साथ निकल जायगा । प्रथम खराब और पश्चात् शुद्ध यह कल्पना श्रृंग, अलाबु और प्रच्छान इनके द्वारा निकाले जाने वाले रक्त के संबंध में ठीक है, क्योंकि वहाँ पर प्रथम स्थानिक रक्त का संबंध आता है । आगे ३०वें सूत्र का वक्तव्य भी देखो ।

मूर्च्छितस्यातिभीतस्य श्रान्तस्य तृषितस्य च ।

न वहन्ति सिरा विद्धास्तथाऽनुत्थितयन्त्रिताः ॥२२॥

(सिरावेधन से सम्यक् प्रवाह न होने के कारण—) बेहोश, अत्यन्त डरे हुए, थके हुए, प्यासे (मनुष्य) की सिराएँ तथा (ठीक) न उठी हुई और यन्त्रण की हुई सिराएँ विद्ध होने पर (ठीक) नहीं स्रवती हैं ॥२२॥

वक्तव्य—न वहन्ति—अल्पमात्रा में रक्त निकलता है या नहीं निकलता—शोणितं न स्रवति, अल्पं वा स्रवति । (सूत्र, १४) । इसके कारण मूर्च्छादि हैं । इन कारणों से सिरागत रक्तप्रवाह क्यों बंद हो जाता है ? इसका यथार्थ ज्ञान होने के लिए शरीरगत रक्त की राशि का रक्तवाहिनियों में और शरीर के विविध अंगों में किस प्रमाण में विभजन होता है, इसका विवरण करना आवश्यक है । रक्तवह संस्थान के हृदय, धमनियाँ, धमनिकाएँ (Arterioles) और केशिकाएँ (Capillaries), तथा सिराएँ करके चार अंग होते हैं । हृदय से निकला हुआ रक्त धमनियों में, धमनियों से धमनिकाओं और केशिकाओं में, और केशिकाओं से सिराओं में आकर फिर से हृदय में प्रविष्ट होता है । (१) सिराएँ और धमनियाँ काफी मोटी मोटी होती हैं । धमनिकाएँ और केशिकाएँ अत्यंत छोटी होती हैं । परंतु इनकी संख्या अगणित होने के कारण इनकी समाई बहुत अधिक हो जाती है । एक शास्त्रज्ञ ने यह अनुभव किया है कि शरीर की संपूर्ण केशिकाओं का व्यत्यस्त क्षेत्रफल (Cross section area) महाधमनी (Aorta) के क्षेत्रफल से आठ सौ गुना के लगभग अधिक होता है । दूसरे शास्त्रज्ञ का कथन है कि यदि सारी केशिकाएँ एक रेखा में लगाई जायँ तो उनकी लम्बाई पृथ्वी के घेरे से कई गुना अधिक हो जाती है । कहने का तात्पर्य यह है कि केशिकाएँ अत्यंत छोटी होने पर भी उनकी समाई बहुत अधिक होती है । (२) धमन्यादि रक्तवाहिनियों के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उनमें संकोच और विस्फार हो सकता है और इसका नियन्त्रण एक विशेष केन्द्र (Vasomotor centre) के द्वारा और स्वतन्त्र नाडीसंस्थान (Autonomous Nervous system) के वाहिनीनियन्त्रक नाड़ियों से (Vasomotor Nerves) होता है । यह संकोच-विस्फार धमनियों और सिराओं से केशिकाओं में अधिक हो सकता है । (३) शरीर की संपूर्ण केशिकाएँ एक समय में विस्फारित नहीं रहती; शरीर के जिस अंग में कार्य होता है, उस अंग की केशिकाएँ विस्फारित होती हैं और शेष अंगों की कुछ संकुचित हो जाती हैं । (४) यद्यपि संपूर्ण शरीर में केशिकाएँ होती हैं, तथापि पचनसंस्थान में उनकी बहुत अधिकता होती है । इस विभाग को औदरिक (Splanchnic) कहते हैं । इस विभाग की केशिकाएँ विस्फारित होने पर उनमें संपूर्ण शरीर के रक्त का तिहाई अंश फँस जाता है । इस श्लोक के अर्थ की दृष्टि से निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहिए—केशिकाओं से रक्त सिराओं में आता है; शरीर की संपूर्ण केशिकाओं की समाई बहुत होती है । यदि वह सारी की सारी या केवल औदरिक विभाग की विस्फारित हो जायँ तो वे संपूर्ण शरीर का रक्त अपने में स्पंज की भाँति सोख ले सकती हैं । ये जब विस्फारित होती हैं, तब इनकी समाई बढ़ने के कारण तथा भीतर का रक्तभार (Blood pressure) कम होने से सिराओं में रक्त नहीं जा सकता, जिससे

अतएव निपतित (Collapsed) हो जाती हैं और यन्त्रण करने पर भी रक्त न आने के कारण वे उथित नहीं हो सकतीं। मूर्च्छित—मूर्च्छा के कारणों का और संप्राप्ति का कुछ विवरण पीछे छठे अध्याय के चौबीसवें सूत्र के वक्तव्य में किया है। इससे मालूम होगा कि मस्तिष्केतर अंगों में, विशेषतया उदरविभाग में, केशिकाओं का विस्तार और उसी के कारण मस्तिष्क में रक्त की कमी यह मूर्च्छा की संप्राप्ति है। केशिकाओं का विस्तार मूर्च्छा के कारणों का परिणाम वाहिनियों के नियन्त्रण केन्द्र के ऊपर होने से होता है। सिरावेध करने से पहले यदि रोगी मूर्च्छित हो, या सिरावेध के समय रोगी मूर्च्छित हो जाय तो सिरावेध से रक्त नहीं निकल सकता, क्योंकि संपूर्ण शरीर का रक्त केशिकाओं में फैल जाता है तथा जिन केशिकाओं का रक्त विद्ध सिरा में आता है, वे केशिकाएँ भी विस्फारित होती हैं और रक्त को अपने भीतर रख लेती हैं। अतिभीतस्य—भीति का परिणाम मस्तिष्कगत वाहिनीनियन्त्रण केन्द्र के ऊपर होकर वह कर्महीन हो जाता है, जिससे शरीर की केशिकाएँ विस्फारित हो जाती हैं और सिरा को रक्त नहीं मिलता। डल्हणाचार्य के 'अतिभीतादिष्वतिभयादिजनितवातेन सिरामुखनिरोधाद्' वचन का अर्थ इसी दृष्टि से करना चाहिए। श्रान्त—परिश्रम के कारण थके हुए मनुष्य का अधिकांश रक्त पेशियों में फैला रहता है, जिससे सिरा में बहुत कम रक्त आता है। तृषित—तृषा शरीरगत जलांश की कमी की सूचक होती है। जब शरीर में जलांश कम होता है, तब सिराएँ भी ठीक नहीं उठतीं तथा वेध करने पर उनसे ठीक स्राव नहीं होता। सिरावेध के पूर्व द्रव-भूयिष्ठ आहार देने का यही कारण है। अतिभीतस्य—अति शब्द का संबंध भीत के समान श्रान्त और तृषित के साथ भी लेना चाहिए। इन बातों का उल्लेख सूत्रस्थान के शोणितवर्णनीय अध्याय में (प्रथम खण्ड) पहले किया जा चुका है।

क्षीणस्य बहुदोषस्य मूर्च्छयाऽभिहतस्य च।
भूयोऽपराह्वे विस्त्राव्या साऽपरेद्युर्यहेऽपि वा ॥२३॥

(पुनर्वेधन के लिए कारण और काल—) दुर्बल, अधिक दोषयुक्त और मूर्च्छा से आक्रान्त (मनुष्य) की सिरा फिर से अपराह्व में, दूसरे दिन या तीसरे दिन खोलनी चाहिए ॥२३॥

वक्तव्य—क्षीणस्य—दुर्बल मनुष्य से एक समय में अधिक रक्त का निर्हरण नहीं कर सकते हैं, इसलिए दो तीन बार करके उसमें रक्त निकालना चाहिए। बहुदोषस्य—एक समय निकाले हुए रक्त में शरीर से जितना दोष निकल जाना चाहिए, उतना नहीं निकल सकता। इसलिए अनेक बार करके अधिकदोषयुक्त रोगी का रक्त निकालना चाहिए—मूर्च्छयाऽभिहतस्य—रोगी दुर्बल और बहुदोष युक्त न होने पर भी कई बार रक्त को देखकर मूर्च्छित हो जाते हैं। मूर्च्छा रक्तविस्त्रावण के समय का एक उपद्रव है। यह उपद्रव अधिकतर प्रकृतिवैशिष्ट्य के

कारण ही उत्पन्न होता है—तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति मुवि मानवाः। (सुश्रुत)। इसलिए 'मूर्च्छयाऽभिहतस्य' का अर्थ है 'रक्तविस्त्रावण के समय याने रक्तस्रावण के बीच में जिसको मूर्च्छा उत्पन्न हुई है, उसकी सिरा'। रक्त-विस्त्रावण के बीच में अगर मूर्च्छा उत्पन्न हो जाय तो रक्तविस्त्रावण बंद करके रोगी की मूर्च्छा शीतल जलादि के प्रयोग से दूर करने की कोशिश करनी चाहिए—यस्य तु स्रवति रक्ते मूर्च्छा जायते तस्य विमुच्य यन्त्रं शीतसलिलार्द्रपाणिस्पर्शेन व्यजनवायुना श्रोत्रमुखेन वचसा च समाश्वासयेत्। (अष्टांगसंग्रह)। वास्तव में मूर्च्छा उत्पन्न होने के पूर्वरूप मालूम हो जायें तो विस्त्रावण बंद करना चाहिए। प्रकृतिवैशिष्ट्य के अतिरिक्त अत्यधिक रक्तस्राव से भी मूर्च्छा उत्पन्न होती है। मूर्च्छा में, मस्तिष्क में रक्त की कमी होती है। प्रकृतिवैशिष्ट्यजन्य मूर्च्छा में वाहिनी नियन्त्रण केन्द्र के अस्थिर्य से मस्तिष्क के तर भागों में रक्त इकट्ठा होने से मूर्च्छा होती है और अतिस्त्रावजन्य मूर्च्छा में वास्तव में शरीर में रक्त की कमी होने से मस्तिष्क में भी होती है। सिरावेधन के समय रोगी को खड़ा रखने से रक्त की उचित राशि निकलने से पूर्व मस्तिष्क के ऊँचे स्थान के कारण उसमें जल्दी रक्त की कमी होकर मूर्च्छा आती है। लेटे हुए आसन में सिर हृदय के बराबर होने से अधिक रक्त की राशि निकालने पर भी रोगी को जल्दी मूर्च्छा नहीं आती। इसलिए सिरावेधन के लिए बैठने का आसन उत्तम होता है। सापरेद्युर्यहेऽपि वा—इनके अतिरिक्त पक्ष के या मास से बाद भी फिर विस्त्रावण कर सकते हैं—स्नेहोपस्कृतदेहस्य पक्षादा भृशदूषितम्। (अष्टांग-हृदय)। मासमात्रं वा स्नेहादिभिरुपचर्य पुनर्विध्वेत्। (अष्टांगसंग्रह)।

रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः।
न चातिप्रसृतं कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेत् ॥२४॥

(रक्तविस्त्रावण में कुछ दोष शेष रखने का महत्त्व—) बुद्धिमान वैद्य रक्त को कुछ दोषयुक्त रखे, परंतु उसको अतिस्त्रावित न करे, (और जो कुछ भी) शेष (रहे, उस) को संशमन (ओषधियों) द्वारा निवारण करे ॥२४॥

वक्तव्य—सशेषं दोषं कुर्यात्—शरीर में इकट्ठे हुए दोषों को निःशेष करना यह चिकित्सा का उद्देश्य होता है। जब तक दोष शरीर में शेष रहते हैं, तब तक रोग का पूर्ण निर्मूलन नहीं होता तथा रोगी भी पूर्णतया रोग से निर्मुक्त नहीं कहा जा सकता। रोगों की चिकित्सा ओषधियों द्वारा तथा शस्त्रप्रणिधान द्वारा की जाती है—शरीरदोष-प्रकोपे खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायशस्त्रिविधमोषधमिच्छन्ति—अन्तःपरिमार्जनं, बहिःपरिमार्जनं, शस्त्रप्रणिधानं चेति। (चरक, सूत्र ११)। ओषधियों की विशेषता यह होती है कि उन्हीं के द्वारा शरीरगत दोषों की पूर्ण निःशेषता होती है, परंतु यदि दोषों की राशि अधिक हो तो समय अधिक लग जाता है। शस्त्रकर्म की विशेषता यह होती है, उसके द्वारा थोड़े समय में शरीरगत अधिकांश दोष शरीर के बाहर

निकाले जा सकते हैं और इसी दृष्टि से प्रथम अध्याय में लिखा है—अष्टास्वपि चायुर्वेदतन्त्रेष्वेतदेवाधिकमभिमतमाशु-क्रियाकरणात् । (सूत्रस्थान) । परंतु इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शस्त्रकर्म के द्वारा दोषों की निःशेषता नहीं हो सकती । ओषधि और शस्त्रकर्म के भेद के स्पष्टीकरणार्थ यहाँ पर दो उदाहरण दिये जाते हैं—यदि शरीर में कहीं विद्रधि हुई हो तो उपनाहप्रलेप के द्वारा वह विदीर्ण होकर ठीक हो जायगी, परंतु इसके लिए अधिक समय लगेगा । यदि शस्त्र से चीरा लगाया जाय तो चीरा देते ही विद्रधि के अधिकांश दोष चले जायेंगे, परंतु निःशेषता नहीं होगी । इसके लिए फिर भी ओषधियों का प्रयोग करना पड़ेगा । केवल ओषधिविक्तिसा की अपेक्षा शस्त्रकर्म और ओषधि की संयुक्त चिकित्सा विद्रधि को थोड़े काल में ठीक कर देगी । वैसा ही, जलोदर में अनुभव आता है । केवल ओषधि की अपेक्षा शस्त्रकर्म से जल निकाल देने पर ओषधिविक्तिसा करने से जलोदर थोड़े समय में ठीक हो जाता है । संक्षेप में, जहाँ शक्य हो वहाँ पर शस्त्र कर्म के द्वारा अधिकांश दोषों को निकालकर ओषधियों के द्वारा दोषों को निःशेष करना उचित है । विस्त्राव्य रोगों की चिकित्सा भी इसी साधारण तत्त्व पर करनी चाहिए । यदि केवल विस्त्रावण के द्वारा निःशेषता करनी हो तो रक्त की अत्यधिक राशि निकालनी पड़ेगी । रक्त शरीर का मूल और प्राणों में से एक प्राण है—देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरणेव धार्यते ॥ दशैवायतनान्याहुः प्राणा येपु प्रतिष्ठिताः । शङ्खो मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥ (चरक, सूत्र २९) । इसलिये यदि दोषों की निःशेषता उत्पन्न करने के लिए रक्त अत्यधिक राशि में निकाला जाय तो दोष निःशेष जरूर हो जायेंगे, परंतु उसके साथ शरीर भी निष्प्राण हो जायगा । इसलिये लिखते हैं—न चातिप्रसृतं कुर्यात् । अष्टांगहृदय में वाग्भटाचार्य लिखते हैं—अतिधृतौ हि मृत्युः स्वादारुणा वा चलाभयाः । शेषं संशमनैर्जयेत्—सिरावेध करके रक्त के द्वारा अधिकांश दोषों का शोधन होने के पश्चात् जो अंश शरीर में शेष रहता है, उससे फिर रोग उत्पन्न होने का डर नहीं रहता । वे कमजोर हो जाते हैं और उनका नाश संशामक ओषधियों द्वारा धीरे धीरे कर सकते हैं—किञ्चिद्धि शेषे दुष्टास्ते नैव रोगोऽस्तिवर्तते । सशेषमप्यतो धार्य न चातिप्रसृतमाचरेत् ॥ (अष्टांगहृदय) । फिर जो शेष दोष रहते हैं, उनका संशमन विरंचन, उपवास, शीतोपचार, स्निग्धमधुरादि भोजन इत्यादि से करना चाहिए—ततोऽपि शेषं सर्वधावाप्य विस्त्राव्य रक्तस्य शीतसेकप्रदेहविरिकोपवासस्निग्धमधुराद्विधानैः प्रसादयेत् । (अष्टांगसंग्रह) । ये जो शीतसेकादि उपचार शेष दोषसंशमनार्थ प्रयुक्त किये जाते हैं, वे ही अविस्त्राव्य रोगियों में, जैसे गर्भिणी, अल्पदोषयुक्त अवस्था में प्रयुक्त करने चाहिएँ—अविस्त्राव्यरक्तस्य गर्भिण्यादेरेवमेव प्रसादयेत् । (इन्दु) ।

बलिनो बहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः ।
परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे ॥२५॥

(सिरावेध में रक्त निकालने का परम प्रमाण—) बलवान्, अधिक दोषयुक्त, युवा मनुष्य के रक्तमोक्षण में (आचार्य रक्तराशि का) अधिक से अधिक परिमाण एक प्रस्थ पसंद करते हैं ॥२५॥

वक्तव्य—वयःस्थ—इससे यद्यपि सर्वावस्था का बोध होता है तथापि यह शब्द कई बार यौवनावस्था के लिए प्रयुक्त होता है । यहाँ पर भी इसका अर्थ जवान मनुष्य है । अष्टांगहृदय में इस शब्द का प्रयोग मिलता है—मांसं सबोहतं शुद्धं वयःस्थं च भजेत् । (सूत्रस्थान ६) । इस श्लोक की टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—तथा वयसि तिष्ठतीति वयःस्थम् । यद्यपि सर्व मांसं वयःस्थमेव तथाऽपीह वयःस्थमित्युक्त्या शोभनं तर्ह्येव वय इति शस्यते । तस्मात्पूतः प्राणिनो मांसं भजेन्न बाल-वृद्धयोरिति ॥ शरीरिणः—मनुष्यस्य । प्रस्थम्—रक्तमोक्षण में रक्तनिर्हरण की चरम सीमा इससे बताई गई है । वास्तव में १६ पलों का प्रस्थ होता है, परंतु रक्तमोक्षण में १३॥ पलों का प्रस्थ माना जाता है—वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे । सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ इसके अनुसार रक्तमोक्षण की परम राशि ५४ तोले की होती है । इसका मतलब यह है कि आवश्यकता पड़ने पर बलवान् जवान मनुष्य की सिरा से चौवन तोले रक्त निकाल सकते हैं । प्रत्येक रोग और रोगी में इतना रक्त निकालने की आवश्यकता नहीं है । किसी में दो तोले से, किसी में चार तोले से, किसी में आठ तोले से काम हो सकता है । रक्त की राशि रोग और रोगी का बलाबल देखकर निश्चित करनी चाहिए । बलदोषप्रमाणाद्वा विशुद्धा रुधिरस्य वा । रुधिरं स्रावयेज्जन्तोराशयं प्रसमीक्ष्य वा ॥ (१५ चरक, सूत्र २४) । यहाँ पर रक्तराशि का जो पर प्रमाण बतलाया है, वह कुछ लोगों को आधुनिक काल में अधिक मालूम होता है—बलिन इति । अत्र वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे । सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ इति स्थितेऽपि बहुशोऽभि-वीक्ष्य बलवत्त्वादिधर्मवर्तमानिदानीं द्विपलमेव परं प्रमाणमित्य-ध्ववसामः । (हाराणचंद्र) । परंतु वास्तव में यह प्रमाण बहुत ठीक है । आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक में यद्यपि बहुत नहीं तथापि कई रोगों में सिरावेध काम में लाया जाता है और वहाँ पर प्रत्येक समय रक्त की राशि भी बताई जाती है । चिरकालीन हृद्रोग में २०-३० औंस (५०-७५ तोले) तक रक्त निकालने के लिए बतलाया है—The withdrawal of blood to the extent of 20 or 30 ounces by a cut into the median basilic vein relieves the distress by diminishing the blood flow to the heart. Taylor's Practice of Medicine. A good quantity of blood occasionally even up to 20 or 30 ounces should be withdrawn. Practice of Medicine by F. W. Price.

पश्चात्कर्म—सिरावेध करने पर रक्त इकट्ठा करने के लिए वेधस्थान के नीचे कोई पात्र रखना चाहिए, जिससे निकाले हुए रक्त की राशि निश्चित करने में सुविधा होती है । उचित राशि में रक्त निकालने पर सिरामुख को अंगूठे

से दबाकर और बंधन छोड़कर, तैल में भिगोये हुए कपड़े की पट्टी उस पर रखकर बाँधना चाहिए और कुछ रोज तक सिरावेध के अंग को आराम से रखना चाहिए तथा रोगी को अग्निदीपक, सुपाच्य आहार तथा पथ्यकर विहार सेवन करना चाहिए—ततः सुतरक्तस्य व्यधमनुलोममङ्गुष्ठेनोपरुध्य शनैःशनैर्यन्त्रमपनीयाश्वासयेत् । सतैलं च श्लोतं सिरामुखे दत्त्वा बन्धीयात् । संवेशयेच्चैनम् । उन्मार्गागयन्त्रनिपीडनेन स्वस्थानमायान्ति पुनर्न यावत् । दोषाः प्रदुष्टा रुधिरं प्रपन्नास्तावद्विताहारविहारभाक् स्यात् ॥ नात्युष्णशीतं लघुदीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम् । तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृगग्निर्विशेषादिति रक्षितव्यः ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ३६) ।

अब इसके बाद रोगानुसार सिरावेध के स्थान बतलाये जाते हैं—

तत्र पाददाहपादहर्षावबाहुकचिप्पविसर्पवातशोणितवातकण्टकविचर्चिकापाददारीप्रभृतिषु क्षिप्रमर्मण उपरिष्ठाद् द्यङ्गुले व्रीहिमुखेन सिरां विध्येत्, श्लिपदे तच्चिकित्सिते यथा वक्ष्यते, क्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातवेदनासु जङ्घायां गुल्फस्योपरि चतुरङ्गुले, अपच्यामिन्द्रवस्तेरधस्ताद् द्यङ्गुले, जानुसन्धेरुपर्यधो वा चतुरङ्गुले गृध्रस्याम्, ऊरुमूलसंश्रितां गलगण्डे, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ ॥२६॥

(रोगानुसार शाखाओं की वेध्य सिराएँ—) पाददाह, पादहर्ष, अवबाहुक, चिप्प, विसर्प, वातरक्त, वातकण्टक, विचर्चिका, पाददारी प्रभृति (रोगों) में क्षिप्रमर्म से ऊपर दो अंगुल व्रीहिमुख से सिरावेध करे । श्लिपद में उसकी चिकित्सा में जैसा कहा जायगा (वैसा करे) । क्रोष्टुकशिर, खञ्ज, पङ्गुल, वातवेदनाओं में गुल्फ के ऊपर चार अंगुल जङ्घा में (व्रीहिमुख से सिरावेध करे) । अपची में इन्द्रवस्ति से दो अङ्गुल नीचे (सिरावेध करे) । गृध्रसी में जानुसंधि से दो अंगुल ऊपर वा नीचे (सिरावेध करे) । गलगण्ड में ऊरुमूल में स्थित सिरा का (वेधन करे) । इसी से दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं की (रोगानुसार वेध्य सिराओं की) व्याख्या हो जाती है ॥२६॥

वक्तव्य—यहाँ पर जो अनेक रोग निर्दिष्ट किये गये हैं, उनमें पाददाह, पादहर्ष, अवबाहुक, वातशोणित, वातकण्टक, क्रोष्टुकशिर, खञ्ज, पङ्गु, गृध्रसी ये वातरोग हैं जिनका वर्णन निदान के प्रथम अध्याय में किया जा चुका है । पाददारी, विचर्चिका और चिप्प क्षुद्ररोग हैं, जिनका वर्णन निदान के तेरहवें अध्याय में किया गया है । अपची और गलगण्ड का वर्णन निदान के ग्यारहवें अध्याय में और विसर्प का दसवें अध्याय में किया गया है । वातवेदना—शाखाओं में होने वाली वातजन्य विविध वेदनाएँ । इसमें आधुनिक वातनाडीशूल (Neural gias) और वातनाडीशोथ (Neuritis) का समावेश कर सकते हैं । पाददाह पादहर्ष—इससे हस्तदाह और हस्तहर्ष का भी बोध हो सकता है—

Hot or itching hands and feet, Paraesthesia of the hands and feet. अवबाहुक—हाराणचन्द्र के पाठ में अवबाहुक नहीं है । वे लिखते हैं—केनचिदत्रावबाहुकोऽपि पठ्यते, तत्र समीचीनं, प्रतिकारविधावस्य व्यधने जिहासितत्वात् ॥ इस विषय का विवरण वातव्याधिचिकित्सा में किया जायगा । पाददाहादि रोगों में Dorsal venous arch में वेध होता है; क्रोष्टुकशीर्षादि रोग, अपची में Small saphenous vein में वेध होता है ।

विशेषतस्तु वामबाहौ कूर्परसन्धेरभ्यन्तरतो बाहुमध्ये ग्रीहि कनिष्ठिकानामिकयोर्मध्ये वा, एवं दक्षिणबाहौ यकृदाख्ये (कफोदरे च,) एतामेव च कासश्वासयोरप्यादिशन्ति, गृध्रस्यामिव विश्वाच्याम् ॥२७॥

(बाहु के विशेष सिरावेध—) विशेष करके ग्रीहा (वृद्धि) में वामबाहु के मध्य में कूर्परसंधि के भीतर अथवा कनिष्ठिका और अनामिका (अंगुलियों) के मध्य में सिरावेध करे । इसी प्रकार यकृदाख्य में दक्षिणबाहु में कूर्परसंधि पर अथवा कनिष्ठिका अनामिका के मध्य में सिरावेध करे । कास-श्वास में (कई आचार्य) इन्हीं का वेध करने को कहते हैं । विश्वाची में गृध्रसी के समान कूर्परसंधि के ऊपर या नीचे चार अंगुल प्रदेश में वेध करना चाहिए ॥२७॥

वक्तव्य—कूर्परसन्धेरभ्यन्तरतः—कोहनी के सामने वाली सिरा Median cubital vein । ग्रीहि—ग्रीहोदर में । आयुर्वेद में ग्रीहा का यही एक रोग मिलता है, अर्थात् ग्रीहोदर के जो कारणभूत रोग होते हैं; उनमें जब ग्रीहा वृद्धि होगी, तब उन रोगों में भी सिरावेध करना चाहिए । कनिष्ठिकानामिकयोर्मध्ये—इससे First dorsal metacarpal vein का बोध होता है । कफोदरे च—इसके संबंध में हाराणचन्द्र लिखते हैं—अत्र यकृदाख्ये कफोदरे च इत्यनाकरः पाठः कफोदरे सिराव्यधस्यानुपयोगात् ॥ कासश्वासयोः—हृद्रोग और वृक्कुरोगजन्य कास-श्वास में सिरावेध से फायदा होता है । ग्रीहोदर और यकृतोदर में जिस कूर्परसन्धेरभ्यन्तर सिरा का वेध करने के लिए कहा गया है; आधुनिक काल में जब सिरावेध की आवश्यकता होती है, तब रोगनिरपेक्ष प्रायः इसी सिरा का वेध किया जाता है । कास-श्वास के अतिरिक्त अन्तर्विद्रधि में भी इसी सिरा का वेध कुछ आचार्य कहते हैं—रक्तपित्तानिलोत्थेषु चिकिद्बाहौ वदन्ति तु । (सुश्रुत, चिकित्सा १६) । ज्वर और विषम ज्वर में भी इसी का वेध होता है । २९वें सूत्र का वक्तव्य देखो ।

श्रोणिं प्रति समन्ताद् द्यङ्गुले प्रवाहिकायां शूलिन्यां, परिघर्तिकोपदंशशूकदोषशुकव्यापत्सु मेढ्रमध्ये, (वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृक्षां, नामेरधश्च-तुरङ्गुले सेवन्यां वामपार्श्वे दकोदरे,) वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरेऽन्तर्विद्रधौ पार्श्वशूले च, बाहु-

शोषावबाहुकयोरप्येके वदन्यंसयोरन्तरे, त्रिकसन्धिर्मध्यगतां तृतीयके, अधःस्कन्धसन्धिगतामन्यतरपार्श्वसंस्थितां चतुर्थके ॥२८॥

(रोगानुसार पीठ और वक्ष के सिरावेध स्थान—) शूलयुक्त प्रवाहिका में श्रोणी से आस पास दो अंगुल पर सिरावेध करे । परिवर्तिका, उपदंश, शूकदोष और शूकदोषों में शिख के मध्य में (सिरावेध करे) । मूत्रवृद्धि में, वृषण के पार्श्व में, और जलोदर में नाभि से नीचे चार अंगुल सेवनी के बाईं ओर (वेधन करे) । अन्तर्विद्रधि और पार्श्वशूल में वामपार्श्व में कक्षा और स्तन के बीच में (सिरावेध करे) । (कई आचार्य) कहते हैं कि बाहुशोष और अवबाहुक में अंसों के मध्य प्रदेश में (सिरावेध करना चाहिए) । तृतीयक (स्वरूप के विषम ज्वर) में त्रिकसंधि के मध्य की सिरा का (वेधन करे) । चतुर्थक (स्वरूप के विषम ज्वर) में स्कन्धसंधि के नीचे स्थित किसी भी पार्श्व की सिरा का (वेधन करे) ॥२८॥

वक्तव्य—मेदमध्ये—इससे Superficial dorsal vein of the penis का बोध होता है । वृषणयोः पार्श्व इत्यादि—मूत्रवृद्धिदकोदर के यहाँ पर जो वेधस्थान बतलाये गये हैं, वे सिरावेध के न होकर जलवेधन के हैं—अधो नामेवामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या ब्रीहिमुखेन विध्येत् । (जलोदरचिकित्सा) । सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद्विधेद् ब्रीहिमुखेन तु । (मूत्रवृद्धिचिकित्सा) । अज्ञान से यह भूल हो गई है । इस पर हारणचंद्र लिखते हैं—अहो गुरोरुत्त-सुश्रुतः कश्चित् मूत्रवृद्धां दकोदरे च दोषोदकावसेचनार्थं विधित्सिते व्यधने एव सिराव्यधो मन्यमानोऽत्र 'वृषणयोः पार्श्वं मूत्रवृद्ध्यां' तथा 'नामेश्वरतुरंगुले सेवन्या वामपार्श्वं दकोदरे' इत्युक्तपूर्वम-समञ्जसमाचक्षणः स्वस्यैवाश्रुतत्वमदृष्टकर्मत्वमन्यमानवादिन पुनर्व्यध्यसिरत्वं चाख्यापयतीति ॥ अन्तर्विद्रधौ—कफजान्तर्विद्रधौ—यथोदृष्टां सिरां विध्येत् कफजे विद्रधौ निषक् । (चिकित्सा १६) । अन्य दोषज विद्रधि में बाहुसिरा का वेध कुछ आचार्य बताते हैं । ऊपर २८वें सूत्र के वक्तव्य में कास-श्वास की टिप्पणी देखो । पार्श्वशूल—इससे Dry pleurisy या Pneumonia की प्रारंभिक अवस्था का ग्रहण कर सकते हैं । नीचे ३०वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में अर्वाचीनकालीन सिरावेध के रोग देखो । वदन्ति—यह दूसरे का मत है, सुश्रुतसंमत नहीं है । इस पर डल्हणाचार्य अपनी टीका में लिखते हैं—शोणितावृतवातजनितयोर्बाहुशोषावबाहुकयो-रप्यंसयोः सिराव्यधः, न तु केवलवातकृतयोरित्येके वदन्ति । परमतं चाश्रुतिषिद्धमनुमतमेवेति जेज्जटाचार्यः । गयदासस्तु 'बाहुमध्ये बाहुशोषावबाहुकयोरप्येके वदन्यंसयोरन्तरे' इति पठित्वा व्याख्याति—बाहुशोषावबाहुकयोर्बाहुमध्ये कूर्परंसयोर्मध्ये इत्यर्थः । मतान्तरमाह—एके वदन्यंसयोरन्तर इति ॥ तृतीयक, चतुर्थक—ये विषमज्वर के प्रकार हैं, जिनमें क्रम से तीसरे और चौथे दिन जाड़े के साथ ज्वर आता है । इन रोगों में अत्रोक्त स्थानों के अतिरिक्त बाहुसिरा और शङ्ख के शान्त सिरा का भी वेधन बताया गया है—शङ्खकेशान्तसंधौ वा

मोक्षयेज्जो निषक् सिराम् । उन्मादे विषमे चैव ज्वरेऽपसार एव च ॥ (चरक, चिकित्सा ३) । यथा स्वं च सिरां विध्येदशान्तौ विषमज्वरे । (अष्टांगसंग्रह, चिकित्सा २) । इसकी टीका में इन्दु लिखते हैं—अशान्तौ यथास्वं सिरां विध्येत्, तृतीयके अंसयोर्मध्ये स्कन्धसाधश्चतुर्थके बाहोश्चेत्यादि यथास्वशब्दार्थः ॥

हनुसन्धिर्मध्यगतामपसार, शङ्खकेशान्तसन्धि-गतामुरोऽपाङ्गललाटेषु चोन्मादे, जिह्वारोगेष्वधो-जिह्वायां दन्तव्याधिषु च, तालुनि तालव्येषु, कर्णयोरुपरि समन्तात् कर्णशूले तद्रोगेषु च, गन्धाग्रहणे नासारोगेषु च नासाग्रे, तिमिराक्षि-पाकप्रभृतिष्वध्यामयेषूपनासिके लालाट्यामपाङ्ग्यां वा, एता एव च शिरोरोगाधिमन्थप्रभृतिषु रोगे-ष्विति ॥२९॥

(रोगानुसार जठ्रध्वंसिरावेधन स्थान—) अपसार में हनुसंधि के मध्य की (सिरा का वेधन करे) । उन्माद में शङ्ख और केशान्तसंधि में स्थित तथा छाती, अपाङ्ग और ललाट में स्थित सिरा का वेधन करे । जिह्वा रोगों में तथा दाँतों के रोगों में जिह्वा के नीचे की सिरा का वेधन करे । तालु के रोगों में तालु में सिरावेध करे । कर्णशूल और कान के रोगों में कान के ऊपर आस-पास की (सिरा का वेधन करे) । गंध न आने और दूसरे नाक के रोगों में नासा के अग्रभाग में (सिरा-वेधन करे) । तिमिर, अक्षिपाक प्रभृति नेत्ररोगों में नासासमीपवर्ती, ललाट में स्थित, या अपाङ्ग की (सिरा का वेधन करे) । शिरोरोग, अधिमन्थ प्रभृति रोगों में ये भी सिराएँ वेध्य होती हैं ॥२९॥

वक्तव्य—उन्मादे—यहाँ पर 'उन्मादेऽपसार' ऐसा भी पाठ है । इस पर डल्हणाचार्य लिखते हैं—तत्रा-पसारस्य पाठो न संगच्छते । तथा च वाग्भटः—उरोपाङ्ग-ललाटस्थानुन्मादेऽपस्मृतौ पुनः । हनुसंधौ समस्ते च सिरां भ्रूमध्यगामिनीम् ॥ अर्थात् वाग्भटाचार्य के अनुसार अपसार में केवल हनुसंधिगत सिरा का वेधन होता है । परंतु चरकाचार्य का जो वचन ऊपर उद्धृत (२९वें सूत्र के वक्तव्य में) किया गया है, उसके अनुसार अपसार में शङ्खकेशान्त संधिगत सिरा का भी वेधन होता है । इसलिए यह पाठभेद असंगत नहीं कहा जा सकता । हनुसंधिर्मध्यगताम्—इसके संबंध में अरुणदत्त अष्टांगहृदय के उपर्युक्त श्लोक की टीका में लिखते हैं कि—अपसारे हनुसंधौ स्थितां सिरां विध्येत् । समस्ते सर्वस्मिन् वा हनौ सिरां विध्येत् । सिरां भ्रूमध्यगामिनीं भ्रूमध्यस्थां वाऽपस्मृतौ विध्येदिति वाशब्दोऽप्राप्तोर्बलं योज्यः । उरोपाङ्गलला-टेषु—उरोपाङ्गललाटेषु 'गताम्' इत्यर्थः । उर और अपाङ्ग के अर्थ के संबंध में उत्तरस्थान के 'उरोपाङ्गललाटेषु सिराश्चास्य विमोक्षयेत् ॥ (अध्याय ६२) । इस श्लोक की टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—उरःस्तनयोरन्तरारम्भः । अपाङ्ग-शब्दः शङ्खे वर्तते, सामीप्यात् । न त्वपाङ्गशङ्खसंधिः, कुतः !

तत्रैकस्या एवाव्यधिसिराया निर्दिष्टत्वात् । अस्य उन्मादिनः । भूत-
विद्यासिद्धान्तादुरःप्रभृतिषु सिराव्यधनमुक्तम् । सिराव्यधनविधिश्च
शङ्कसंधौ । अतोऽत्र उन्मादे उभयत्रापि सिराव्यधनमिष्टम् ॥
इसका मतलब यह है कि अपस्मार तथा उन्माद में भूमध्य
सिरा (Frontal या Supraorbital vein), शंख केशान्त
संधिसिरा (Superior temporal vein) और स्नानान्तराला
सिरा का वेधन होता है ।

अर्वाचीन कालीन सिरावेध योग्य रोग और सिरावेध के
तत्त्व—यहाँ पर २७-३०वें सूत्रों में जिन रोगों में चिकित्सा
के लिए सिरावेध किया जाता था, उनके रोगों के नाम और
वेध के स्थान निर्दिष्ट किये हैं । इनको देखकर यह कह
सकते हैं कि आयुर्वेद में सिरावेध रक्तज रोगों की चिकित्सा
का एक महत्त्व का उपाय था (आगे ३५वाँ श्लोक देखो) ।
परंतु आधुनिक काल में सिरावेधन की परम्परा लुप्त हो गई
है । यूरोप में भी प्राचीन काल में सिरावेध (Phlebotomy)
चिकित्सा का एक प्रधान अंग था, परंतु वहाँ पर भी यद्यपि
सिरावेधन की प्रथा पूर्णतया लुप्त नहीं हुई है तथापि बहुत
मर्यादित अतएव कम हो गई है । आधुनिक काल में
पाश्चात्य वैद्यक में सिरावेध का उपयोग निम्न कारणों के
लिए किया जाता है—(१) रक्तभाराधिक्य (High blood
pressure) विकारों में भार को कम करने के लिए । (२)
रक्तगत विषों को निकालने के लिए । (३) अपनी विकृति
या हृदयादि अन्य अंगों की विकृति के कारण जब फुफ्फुस,
उनमें आये हुए रक्त को शुद्ध करने में असमर्थ होता है,
तब । (४) कुछ शोथजन्य (Inflammatory) विकारों में जब
रोगी सबल और रक्तल (अधिक रक्तयुक्त Full blooded)
होता है, तब । इन तत्त्वों के अनुसार आधुनिक पाश्चात्य
वैद्यक में निम्न रोगों में सिरावेध का उपयोग किया जाता
है—प्रथम तत्त्व के अनुसार विशुद्ध रक्तभाराधिक्य में
तथा हृदयविकार और वृक्कविकारजन्य रक्तभाराधिक्य में
जब रक्त का दबाव अधिक होकर सिरदर्द, चक्कर इत्यादि
मस्तिष्कगत लक्षण तथा पक्षाघात उत्पन्न होते हैं, तब ।
दूसरे तत्त्व के अनुसार विषजन्य कामला (Toxic jaundice),
मूत्रविषमयता (Uremia), गर्भविषमयता (Toxaemia of pregnancy),
सर्पविषमयता (Snake poisoning) इत्यादि विषमय अवस्थाओं में । तीसरे तत्त्व के अनुसार
जब फुफ्फुस अपना काम करने में असमर्थ होकर
श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea), त्वचा में श्यावता या नीलिमा
(Cyanosis), सिराओं की विस्तृति इत्यादि लक्षण
उत्पन्न होते हैं, तब । ये लक्षण हृदय के दक्षिणार्ध
के कपाटों के चिरकालीन विकारों (Chronic heart
disease) में, फुफ्फुस के रक्ताधिक्य (Hyperaemia)
और शोथ (Oedema) में, महाधमनी की विस्तृति
(Aneurism) में तथा छाती में वायु के प्रवेश होने से
उत्पन्न हुए वातोरस (Pneumo-thorax) में उत्पन्न होते
हैं । अर्थात् चिरकालीन हृदयविकार, फुफ्फुसशोथ और
रक्ताधिक्य, महाधमनी विस्तृति, वातोरस इन विकारों में
श्वास, कास, नीलिमा उत्पन्न होने पर सिरावेध करके रक्त

निकाला जाता है । चतुर्थ तत्त्व के अनुसार न्यूमोनिया,
ब्रान्कोन्यूमोनिया (ये दोनों भी फुफ्फुसशोथ के रोग हैं),
स्वरयन्त्रशोथ (Laryngitis), मस्तिष्कावरणशोथ (Menin-
gitis) इत्यादि शोथजन्य विकारों में भी कभी कभी
सिरावेध का प्रयोग श्वास, प्रलापादि लक्षण उत्पन्न होने
पर किया जाता है ।

सिरावेध का स्थान—कोई रोग हो जब रक्तमोक्षण की
आवश्यकता होती है तब पाश्चात्य वैद्यक में रोगनिरपेक्ष
कूर्परसंधिमध्य सिरा (Median cubital vein) का
उपयोग (पीछे नौवें सूत्र का वक्तव्य देखो) किया जाता
है । आयुर्वेद में रोग के अनुसार सिराभिन्नता होती है ।
प्रायः यह सिरा विकृत अंगसमीपवर्ती होती है, परंतु
कई बार दूरवर्ती भी होती है—जैसे, गलगण्ड गले में
होने पर भी उसके लिए ऊरूमूल की सिरा का वेधन
बताया है; तथा यकृच्छीहोदर में बाहुमध्य सिरा का वेधन
बताया है । समीपवर्ती सिरावेधन का तत्त्व इस कल्पना
पर निर्भर है कि उस सिरा से आने वाला रक्त उसी
विकृत अंग से आता है । इस कल्पना में कुछ सत्य है ।
जैसे, सिर के विकार में सिर की किसी सिरा का वेध करने
से प्रथम सिर में इकट्ठा हुआ रक्त निकलेगा अर्थात् यह
रक्त दूषित रहेगा और पश्चात् कुछ शुद्ध रक्त आ जायगा ।
इसी दृष्टि से पीछे २१वें श्लोक में लिखा है—तथा सिराद्ध
विदासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते । दूरवर्ती सिरा का वेध करने पर
भी उसमें शरीर के विकृत अंग का रक्त आ जाता है क्योंकि
रक्त संपूर्ण शरीर में परिभ्रमण करता है, परंतु उसमें
स्थानिक दोष की राशि अल्प होती है और प्रारंभिक रक्त
और पीछे के रक्त में कोई फर्क नहीं होता । इसलिए दूरवर्ती
सिरावेध की अपेक्षा समीपवर्ती सिरावेधन में दो भेद
मिलते हैं—(१) स्थानिक रक्त की अधिकता (Congestion)
कम होती है तथा (२) स्थानिक दोष की मात्रा कम
होती है । पाश्चात्य वैद्यक में स्थानिक रक्तदोषहरण करने
के लिए सिरावेध का उपयोग प्रायः नहीं होता, सार्वदैहिक
रक्तदोष या रक्तराशि को कम करने के लिए किया
जाता है । इसलिए हमेशा कूर्परसंधि मध्य की सिरा
सुविधा के कारण (पीछे ९ सूत्र का वक्तव्य देखो) पसंद
की जाती है । इस सिरा के सिवा कभी कभी गले की
External Jugular vein भी वेधन के काम में लाई जाती
है । इस विषय का कुछ विवरण आगे ३८वें श्लोक के
वक्तव्य में भी किया गया है ।

अत ऊर्ध्वं दुष्टव्यधनमनुव्याख्यास्यामः—तत्र
दुर्विद्धाऽतिविद्धा कुञ्चिता पिञ्चिता कुट्टिताऽ-
प्रसृताऽत्युदीर्णाऽन्तेऽमिहता परिशुष्का कृण्टिता
वेपिताऽनुत्थितविद्धा शस्त्रहता तिर्यग्विद्धाऽपवि-
द्धाऽव्यध्या विद्रुता घेनुका पुनः पुनर्विद्धा मांस-
सिरास्त्राव्यास्थिसन्धिर्ममसु चेति विंशतिर्दुष्ट-
व्यधाः ॥३०॥

(दुष्टवेध के नाम—) अब इसके बाद दुष्टवेध का व्याख्यान करेंगे—दुर्विद्धा, अतिविद्धा, कुञ्चिता, पिञ्चिता, कुट्टिता, अप्रसृता, अत्युदीर्णा, अन्तेऽभिहता, परिशुष्का, कृण्णिता, वेपिता, अनुत्थितविद्धा, शस्त्रहता, तिर्यक्विद्धा, अपविद्धा, अव्यध्या, विद्रुता, धेनुका, पुनःपुनर्विद्धा, और मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि संधि मर्म में विद्धा, इस तरह बीस दुष्टवेध सिराएँ होती हैं ॥३०॥

वक्तव्य—इन दुर्विद्धादि सिराओं का विवरण आगे के सूत्र में किया गया है। ये दुर्विद्धादि प्रकार सिरादोष से, शस्त्रदोष से, शस्त्रकर्म करने वाले के दोष से तथा रोगी के दोष से उत्पन्न होते हैं।

तत्र या सूक्ष्मशस्त्रविद्धाऽव्यक्तमसृक् स्रवति रुजाशोफवती च सा दुर्विद्धा, प्रमाणातिरिक्तविद्धायामन्तः प्रविशति शोणितं शोणितातिप्रवृत्तिर्वा साऽतिविद्धा, कुञ्चितायामप्येवम्, कुण्ठशस्त्रप्रमाथिता पृथुलीभावमापन्ना पिञ्चिता, अनासादिता पुनः पुनरन्तयोश्च बहुशः शस्त्राभिहता कुट्टिता, शीतभयमूर्च्छाभिरप्रवृत्तशोणिताऽप्रसृता, तीक्ष्णमहामुखशस्त्रविद्धाऽत्युदीर्णा, अल्परक्तस्त्राविष्यन्तेविद्धा अन्तेऽभिहता, क्षीणशोणितस्यानिलपूर्णा परिशुष्का, चतुर्भागा(व)सादिता किञ्चित्प्रवृत्तशोणिता कृण्णिता, दुःस्थानबन्धनाद्वेपमानायाः शोणितसंमोहो भवति सा वेपिता, अनुत्थितविद्धायामप्येवं, छिन्नाऽतिप्रवृत्तशोणिता क्रियासङ्गकरी शस्त्रहता, तिर्यक्प्रणिहितशस्त्रा किञ्चिच्छेषा तिर्यग्विद्धा, बहुशः क्षता हीनशस्त्रप्रणिधानेनापविद्धा, अशस्त्रकृत्या अव्यध्या, अनवस्थितविद्धा विद्रुता, प्रदेशस्य बहुशोऽवघट्टनादारोहद्व्यधा मुहुर्मुहुः शोणितस्त्रावा धेनुका, सूक्ष्मशस्त्रव्यधनाद्बहुशो भिन्ना पुनः पुनर्विद्धा, मांसस्त्रावस्थिसिरासन्धिर्मर्मसु विद्धा रुजां शोफं वैकल्यं मरणं चापादयति ॥३१॥

(दुष्टवेध सिराओं का विवरण—) इनमें जो सूक्ष्म (मुख) शस्त्र से विद्ध हुई है, जिससे अस्पष्ट (नहीं के बराबर) रक्त स्रवता है तथा जो पीडा और सूजन से युक्त है, वह दुर्विद्धा है। प्रमाण से अधिक विद्ध होने के कारण जिसका रक्त (शरीर के) भीतर प्रविष्ट होता है अथवा जिससे रक्त अधिक प्रमाण में बहता है, वह अतिविद्धा है। कुञ्चिता में भी ऐसा ही (अतिविद्ध का लक्षण) होता है। कुण्ठित (थोथे) शस्त्र से (कई बार) कुचली हुई तथा चपटी हुई पिञ्चिता होती है। ठीक न उठी हुई (इसलिए ठीक प्राप्त न होने के कारण) बार बार दोनों पार्श्वों पर शस्त्र से प्रहारित हुई कुट्टिता है। शीत, भय और मूर्च्छा के कारण रक्त न स्रवने वाली अप्रसृता है। तेज और बड़े मुख के शस्त्र से विद्ध हुई अत्युदीर्णा है। एक किनारे पर विद्ध

हुई अल्प रक्त स्रवने वाली अन्तेऽभिहता है। रक्तक्षययुक्त (मनुष्य) की वायुपूर्ण सिरा परिशुष्का होती है। चौथाई हिस्से में कटी हुई, अल्परक्त स्रवने वाली कृण्णिता है। अनुचित स्थान में बाँधने के कारण कंपायमान होने वाली सिरा से रक्त-रक्तकर रक्त निकलता है, वह वेपिता है। ठीक न उठने पर विद्ध होने वाली सिरा में इसी प्रकार लक्षण होते हैं। (शस्त्र से पूर्णतया) कटी हुई, अत्यधिक रक्त स्रवने वाली, (और स्त्राव के कारण मूर्च्छादि उपद्रव उत्पन्न करके हलचल बन्द करने वाली शस्त्रहता है। शस्त्र के टेढ़े प्रहार से विद्ध हुई, जिसका (अधिकांश भाग कट गया है और) जरा-सा भाग रह गया है, ऐसी तिर्यक्विद्धा है। दोषयुक्त शस्त्र के अनेक प्रहारों से विद्ध हुई अपविद्धा है। जिसके ऊपर शस्त्रकर्म नहीं कर सकते, वह अव्यध है। चञ्चल(स्थिति में) विद्धा सिरा विद्रुता होती है। (शस्त्रकर्म में वैद्य के अनैपुण्य से व्यध्य) प्रदेश के ऊपर कई बार ताड़न करने के कारण, जिसमें एक से ऊपर एक करके अनेक वेध हुए हैं, ऐसी बार बार रक्त स्रवने वाली धेनुका होती है। सूक्ष्म(मुख) शस्त्र वेधन में प्रयुक्त करने से (सिरा का वेध उचित परिमाण में बढ़ा करने के लिए) कई बार वेधित की हुई पुनःपुनर्विद्धा होती है। मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, संधि और मर्म में वेध करने से पीडा, शोथ, विकलता और मरण प्राप्त हो जाते हैं ॥३१॥

वक्तव्य—अव्यक्तम्—अत्यन्त सूक्ष्म रूप में जो स्पष्टतया न दिखाई दे। अन्तःप्रविशति शोणितम्—अतिविद्धा में शस्त्र का मुख मोटा होता है, जिससे शरीरगत शस्त्रजन्य (Incision) भेद काफी बड़ा होता है। यदि यह भेद पूर्णतया सिरा में हो तो मुख बड़ा होने के कारण शोणितादिप्रवृत्ति होगी। यदि यह पूर्णतया सिरा में न हो तो सिरासमीपवर्ती मांसादि धातुओं में होकर उनमें रक्त का प्रवेश होगा। कुञ्चितायामप्येवम्—कुञ्चितायामिति कुटलीभूतायामित्यर्थः। (डल्हन)। सिरा में कुटिलता (Varicosity) वायु के कारण उत्पन्न होती है—कुर्यात् सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम्। (निदान, प्रथमखण्ड पृष्ठ ३१९-३२० देखो)। पृथुलीभावमापन्ना—कुण्ठशस्त्राभिपातेन चिप्यतया प्रसरं प्राप्ता। (डल्हन)। अनासादिता—ठीक न उठने के कारण जो उचित रूप से नहीं प्राप्त हुई थी, ऐसी। अप्रसृता—भय, मूर्च्छा के परिणाम से शरीरगत केशिकाएँ विस्तारित होकर उन्हीं में अधिकांश रक्त संचित होकर (पीछे २२वें श्लोक का वक्तव्य देखो) सिराओं में वह आता नहीं है, इसलिए वेध करने पर भी उससे रक्त का स्त्राव नहीं होता। क्षीणशोणितस्य—जिसके शरीर से रक्त का काफी नाश (रक्तस्त्राव से या रोग से) होने के कारण जो क्षीणरक्त (Anaemic) हो गया है, ऐसा। चतुर्भागावसादिता—चतुर्थों भागश्चतुर्भागोऽन्तर्गता शोणितधरा कलेति यावत् तत्राऽवसादिता सङ्कुचिततया रक्तं विस्त्रावयितुमक्षमा चतुर्भागावसादिता, न तावदधोऽयमनुपपन्नः 'कृण् सङ्कोचे' भातुस्तस्य कुणितेति रूपेण संज्ञाकरणम्। (हाराणचंद्र)। चतुर्भागासादिता चतुर्भागैर्न प्राप्ता। (डल्हन)। जिसमें छेद ठीक

नहीं हुआ है, ऐसी सिरा, इतना ही इन विवरणों का तात्पर्य मालूम होता है। दुःस्थानबन्धन—अनुचित स्थान में यन्त्रण करना। शोणितसंमोहः—मनुष्य को संमोह होने से जैसे उसके कर्म बंद हो जाते हैं, वैसे ही रक्त का संमोह होने से उसका स्राव बंद होता है। अर्थात् बीच बीच में जिसका स्राव बंद हो जाता है, ऐसी। डल्हण इसका अर्थ रक्ताति-प्रवृत्ति करते हैं—शोणितसंमोहः शोणितातिप्रवृत्तिः। परंतु यह अर्थ ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि आगे 'अनुत्थित-विदायामप्येवम्' लिखा है। अनुत्थित सिरा से अत्यधिक रक्तस्राव नहीं होगा। छिन्ना—जो पूर्णतया दो भागों में विभक्त हुई है, ऐसी। क्रियासङ्गकरी—गमनादिक्रियाविनाश-करी। (डल्हण)। बन्धेनायोजिता सती क्रियाणां शोणितवर्णीनी-योक्तानां शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तानां शिरोभितापादीनां संबंधं करोतीत्यर्थः। सङ्गी मेलनं संबन्ध इत्यनर्थान्तरम्। (हाराणचन्द्र)। संक्षेप में अत्यधिक रक्तस्राव के कारण उत्पन्न होने वाले उपद्रवों को करने वाली। अशक्तकृत्वा—सातवें अध्याय के २९वें सूत्र से ३८वें सूत्र तक जो अवैध्य सिराएँ बतलाई गई हैं, उनमें से किसी एक के ऊपर वेध करना यह भी एक सिरावेध का दोष है। आरोहद्वयधा—उपर्युपर्यारोपितपदा, अतएव तैः शक्तपदैर्धेनुस्तनैरिव स्रवणाद् धेनुका। (डल्हण)। हाराण-चंद्र 'आरोहद्वयधा' पाठ लेते हैं और 'आरोहो दैर्घ्येणोपलक्षितो व्यधो यस्या सा तथोक्ता' ऐसा उसका अर्थ करते हैं। बहुशोऽववृत्तनात्—इससे कर्म करने वाले का अनभ्यास और भयत्व सूचित होता है। बहुशो भिन्ना—एक स्थाने एव इति शेषः।

इस सूत्र में तथा इसके पहले सूत्र में दुष्टव्यधा के जो बीस प्रकार तथा उनके लक्षण दिये हैं, इनका ज्ञान सिरा-वेधन का कर्म निर्दोष करने के लिए काम में लाना चाहिए, न कि दुष्टवेध के प्रकार और उनके लक्षण कण्ठ करने के लिए। अतः इनका उपयोग निर्दोष सिरावेध में किस तरह किया जायगा, इसका विचार यहाँ पर संक्षेप में बताया जाता है। पिछले सूत्र के वक्तव्य के अन्त में यह बताया गया था कि ये दोष पाँच स्थानों से उत्पन्न होते हैं। अतः इन दोषों का वर्गीकरण इन स्थानों के अनुसार यहाँ पर किया जायगा। (१) शूलदोष—सिरावेधन में शूल न बहुत सूक्ष्ममुख, न बहुत स्थूलमुख, न कुण्ठित, न बहुत तीक्ष्ण, न अन्य दोषयुक्त होना चाहिए। इन दोषों से युक्त होने के कारण दुर्विद्ध, अतिविद्ध, पिच्छित, अत्युदीर्ण, अपविद्ध, और पुनःपुनर्विद्धा ये छः दोष उत्पन्न होते हैं। (२) रोगी दोष—रोगी शीत, भय, मूर्च्छा तथा रक्तक्षीणता से पीड़ित न होना चाहिए, वरना अप्रसृत और परिशुष्क ये दो दोष उत्पन्न होते हैं। (३) यन्त्रण दोष—उचित स्थान पर उचित रूप से बन्धन न करने से सिरा का ठीक उत्थान नहीं होता, जिससे उसको स्थिर करने में तथा वेधन करने में कठिनाई उत्पन्न होकर वेपित, अनुत्थितविद्ध और विद्रुत—ये तीन दोष उत्पन्न होते हैं। (४) सिरादोष—वेधन के लिए रक्तवाहिनी सिरा (Vein) होनी चाहिए, बहुत महत्त्व की मोटी न होनी चाहिए तथा उसमें कोई विकृति न होनी चाहिए। इस तरह ध्यान न

देने से कुञ्चित और अवैध्य ये दो दोष उत्पन्न होते हैं। (५) वैद्य दोष—शौर्य, आशुक्रिया इत्यादि शस्त्रकर्म के लिए आवश्यक गुण (सूत्रस्थान ५वें अध्याय का नौवाँ श्लोक देखो) जिसमें न हों, तथा सिरावेधन का अभ्यास जिसे न हो, ऐसे वैद्य के द्वारा सिरावेध कराने से अन्तेऽभिहत, कृणित, छिन्न, तिर्यक्विद्ध, धेनुक, कुट्टित और मांससिरा स्रावस्थिसंधिमर्मविद्ध ये सात दोष उत्पन्न होते हैं। यद्यपि दोषों के पाँच विभाग किये गये हैं तथापि ये सब विभाग वैद्य के अधीन होते हैं, क्योंकि उत्तम शस्त्र, योग्य रोगी, युक्त यन्त्रण और उचित सिरा इनका संगम करने का काम आखिर में वैद्य (आगे ३४वाँ श्लोक) की सिरावेधन में योग्यता और अनुभव पर निर्भर होता है। अतः इन दोषों को टालने का उत्तम उपाय शस्त्रादि सामग्री की उत्तमता और अभ्यास है। इन दोषों की उत्पत्ति के कारणों का संक्षेप में विवरण आगे के दो श्लोकों में किया गया है।

भवन्ति चात्र—

सिरासु शिक्षितो नास्ति चला होताः स्वभावतः।

मत्स्यवत् परिवर्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत्॥३२॥

(सिरावेधन यत्नपूर्वक करने की आवश्यकता का कारण—) सिराओं (के वेधन) में कोई भी शिक्षित नहीं होता; (क्योंकि) ये स्वभावतः अस्थिर (होकर पकड़ने पर भी वेधन के समय) मछली की तरह परिवर्तन करती हैं; इसलिए प्रयत्नपूर्वक इनका वेधन करना चाहिए॥३२॥

वक्तव्य—शिक्षित—अभ्यास से जिसको सिरावेध में नैपुण्य प्राप्त हुआ है, ऐसा। चला होता स्वभावतः—यहाँ पर अधिकतर उत्तान सिराओं (Superficial Veins) का विचार किया गया है, इसलिए 'चला' लिखा गया है। शरीरसंनिवेश की दृष्टि से उत्तान सिराएँ त्वचा के नीचे की धातु में इस प्रकार निविष्ट हुई हैं कि वे हँच आधा हँच इधर उधर हो सकती हैं। संक्षेप में, ये सिराएँ बहुत अस्थिर (Movable) होती हैं। मत्स्यवत् परिवर्तन्ते—पानी में मत्स्य को पकड़ने पर भी वह जैसा आसानी से हाथ से फिसल जाता है, वैसे ही वेधन के समय यन्त्रण से तथा अँगुलियों से पकड़ी हुई सिरा, शस्त्रप्रहार के समय अँगुलियों से फिसलकर दूर हो जाती है। यत्नेन—इसलिए प्रत्येक सिरावेधन के समय सिरा को अच्छी तरह पकड़ने का प्रयत्न करके फिर ताड़न करे। पकड़ने में गाफिल रहने से ताड़न के ऐन वक्त पर वह फिसल जायगी और वेधन के दोष उत्पन्न होंगे। यत्न का संबंध अधिकतर पकड़ने के साथ है, ताड़न के साथ नहीं है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि वैद्य सिरावेधन के कर्म में कितना भी चिराभ्यासी और अनुभवी क्यों न हुआ हो, उसको प्रत्येक समय नवसिखिया की तरह सतर्क रहकर वेधन का कर्म करना चाहिए।

अज्ञानता गृहीते तु शस्त्रे कायनिपातिते।

भवन्ति व्यापदश्चैता बहवश्चाप्युपद्रवाः॥३३॥

(दुष्टव्यध का कारण अज्ञानी वैद्य—) (सिरावेधन में) अज्ञानी वैद्य से धारण किया हुआ शस्त्र शरीर (की सिरा) पर चलने से (दुर्विद्धादि) ये व्यापत्तियाँ तथा अनेक उपद्रव होते हैं ॥३३॥

स्नेहादिभिः क्रियायोगैर्न तथा लेपनैरपि ।

यान्त्याशु व्याधयः शान्तिं यथा सम्यक् सिराव्यधात् ॥३४॥

स्नेहन, स्वेदन आदि क्रियाओं से तथा लेपों से इतनी शीघ्र व्याधि शांत नहीं होती है, जितनी ठीक ठीक सिरावेधन से शीघ्र शांत हो जाती है ॥३४॥

सिराव्यधश्चिकित्सार्थं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः ।

यथा प्रणिहितः सम्यग्बस्तिः कायचिकित्सिते ॥३५॥

(सिराव्यध का प्राधान्य—) जिस प्रकार यथाविधि दिया हुआ बस्ति कायचिकित्सा में आधी चिकित्सा (के बराबर) कहा जाता है, उसी प्रकार शल्यशास्त्र में (यथाविधि किया हुआ) सिरावेधन आधी चिकित्सा (के बराबर) कहा जाता है ॥३५॥

वक्तव्य—चिकित्सार्थम्—कायचिकित्सा में बस्ति चिकित्सार्थ (या संपूर्ण चिकित्सा) इसलिए मानते हैं कि बस्ति के प्रयोग से संपूर्ण शरीरगत रोग, विशेष करके त्रिदोषों में प्रधान दोष जो वायु उससे होने वाले रोग, ठीक हो जाते हैं—शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च । ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥ विष्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसंघातकरः स यस्मात् । तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद्रस्ति विना मेषजमस्ति किञ्चित् ॥ तस्माच्चिकित्सार्थमिति ब्रुवन्ति सर्वा चिकित्सामपि बस्तिमेकं ॥ (चरक, सिद्धिस्थान २) । कायचिकित्सा में वायु को जो प्राधान्य है, वही प्राधान्य शल्यचिकित्सा में रक्त को है, क्योंकि उसी से व्रण की दुष्टि, पूयभवन, संधान, रोपण इत्यादि कार्य होते हैं और इसलिए दोषों में रक्त का समावेश शल्यतन्त्र में किया गया है—तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः शरीरं भवति । (सूत्र २१) । इस रक्त की शुद्धि सिरावेध के द्वारा जैसी होती है, वैसी अन्य उपायों के द्वारा नहीं हो सकती—मांसमेदोऽस्मिन्जानः शोणितस्यावसेचनात् । धमन्यश्च विशुष्यन्ति दुष्टरक्तास्त्वचश्च याः । रसस्वेदाभिनिष्यन्दादिशुष्यन्ति न पुष्कलम् ॥ (डल्हनटीका में उद्धृत श्लोक) । इसलिए कायचिकित्सा में बस्ति का जो स्थान है, वही स्थान शल्यचिकित्सा में सिरावेध का है । संक्षेप में, चिकित्सार्थ का तात्पर्य यह है कि यद्यपि सब रोगियों में नहीं, तथापि अनुरूप रोगियों में जैसे कायचिकित्सा में बस्ति से अधिकांश चिकित्सा का काम हो जाता है, वैसे ही अनुरूप रोगियों में शल्यचिकित्सा में सिरावेधन से चिकित्सा का अधिकांश काम हो जाता है ।

तत्र स्निग्धस्निग्धवान्तविरिक्तास्थापितानुवासित-सिराचिह्नैः परिहर्तव्यानि—क्रोधायासमैथुनदिवा-स्वप्नाव्यायामयानाध्ययनस्थानासनचक्रमणशीतवा-

तातपविरुद्धासात्म्याजीर्णान्याबललाभात्, मांसमेके मन्यन्ते । एतेषां विस्तरमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥३६॥

(पंचकर्म के पश्चात् निषिद्ध कर्म—) जिसको स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन (निरूहबस्ति), अनुवासन कराया गया हो तथा जिसके सिरा का वेधन (करके रक्तविस्त्रावण) किया गया हो, उसके लिए (पूर्ववत्) बलप्राप्ति (के काल) तक क्रोध (करना), (अधिक) परिश्रम (करना), स्त्रीसंग, दिन में सोना, (अधिक या ऊँची आवाज से) बोलने का व्यायाम, (घोड़े आदि पर) सवारी करना, (अधिक) पढ़ना, (देर तक) खड़े रहना, (अधिक काल तक एक ही स्थान पर) बैठना, (अधिक) चलना, ठंडी हवा, धूप, विरुद्धाशन, असाम्य अन्नसेवन और (जिनके सेवन से) अजीर्ण (हो जाय, ऐसा गरिष्ठ आहार या अध्यशन ये कर्म) परित्याग करने योग्य हैं । कई आचार्य ये कर्म महीना भर के लिए परित्याज्य बताते हैं । इनका विस्तार (से विवरण) आगे कहेंगे ॥३६॥

वक्तव्य—स्निग्धस्निग्ध इत्यादि—रक्तमोक्षण पंचकर्मों में से एक है । कायचिकित्सक पंचकर्मों में रक्तमोक्षण के बदले शिरोविरेचन लेते हैं । पंचकर्मों के पहले स्नेहन और स्वेदन कराने से पंचकर्मों से अधिक से अधिक लाभ होता है । पंचकर्मों में से किसी एक का सेवन कराने के पश्चात् निषिद्धकर्म नहीं होते हैं । इसलिए यहाँ पर सिरावेध के साथ स्नेहन, स्वेदन, वमनादि का उल्लेख किया गया है । अबललाभात्, मांसमेके मन्यन्ते—क्रोधादि कर्मों का परित्याग करने की कालमर्यादा अभ्यन्तर स्थिति के ऊपर निर्भर होना उचित है और उस दृष्टि से 'अबललाभात्' यह सुश्रुताचार्य का कथन युक्तियुक्त है । बल का वर्णन कभी कभी 'यावत् प्रकृतित्यः स्यादोषतः प्राणतस्तथा' इस प्रकार से भी किया जाता है । कालमर्यादा दिनसंख्या में प्रदर्शित करने से कभी वह अधिक हो सकती है और कभी वह अपर्याप्त हो सकती है । अर्थात् इसमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति ये दोनों दोष आ जाते हैं । अतिव्याप्ति में रोगी को बिना कारण बंधन में रहना पड़ता है और अव्याप्ति में बंधन में रहना आवश्यक होने पर भी रोगी नहीं रहता । अतिव्याप्ति व्यावहारिकदृष्ट्या ठीक नहीं होती और अव्याप्ति वैद्यकीयदृष्ट्या ठीक नहीं होती । इसलिए यहाँ पर बल लाभ की दृष्टि से पथ्यसेवन की कालमर्यादा प्रदर्शित करना उत्तम पक्ष है, और दिनसंख्या में प्रदर्शित करना गौण पक्ष है । १०वें अध्याय के १५वें सूत्र के 'पुनरातं वदर्शनात्' की टिप्पणी देखो ।

भवतश्चात्र—

सिराविषाणतुम्बैस्तु जलौकाभिः पदैस्तथा । अवगाढं यथापूर्वं निर्हरेद् दुष्टशोणितम् ॥३७॥

(रक्तविस्त्रावण के विविध उपायों की रक्तस्थिति के अनुसार मर्यादा—) सिरावेध, सींगी लगाना, तुम्बी लगाना, जोँके लगाना और प्रच्छान से यथापूर्व गाढ़दूषित रक्त को निकाले ॥३७॥

वक्तव्य—विषाणुत्वैस्तु—इनके विवरण के लिए सातवें अध्याय के १२वें सूत्र का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ४०) और १३वें अध्याय के ५वें श्लोक का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ७१) देखो। पदैः—शस्त्रपदैः, प्रच्छाने-नेत्यर्थः। प्रच्छान के विवरण के लिए सूत्रस्थान के १४वें अध्याय के २६वें सूत्र का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ४) देखो। अवगाढं यथापूर्वम्—सब से अधिक गंभीर सिरावेध से, उससे कम सींग से, उससे कम तुम्बी से, उससे कम जोंकों से और सब से उत्तम प्रच्छान से। गंभीरता की अधिकता पहले में अधिक और उत्तरोत्तर कम होती है—अवगाढमभ्यन्तराश्रयं यथापूर्वं पूर्वातन्तिकमेण, एतेनोत्तानं पदैः, अवगाढं जलौकाभिः, अवगाढतरं तुम्बैः, अवगाढतमं विषाणेन, सार्वान्त्रिकमवगाढतमं च सिराभिरिति। (दल्हण)। इसका मतलब यह है कि प्रच्छान, जलौका, तुम्बी और सींग, ये साधन स्थानिक (जहाँ पर लगाया जाय, वहाँ का) रक्त निकालने में एक से एक बलवान् होते हैं और जब दोष गंभीर धातुओं में स्थित होता है, जहाँ पर वैद्य प्रच्छानादि उपायों का उपयोग नहीं कर सकता, या दोष सार्वदैहिक होने के कारण संपूर्ण शरीर में इनको प्रयुक्त नहीं कर सकता, तब सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करने से फायदा होता है। यही अभिप्राय वाग्भटाचार्य अष्टांगहृदय में बतलाते हैं—प्रच्छानेनैकदेशसं ग्रथितं जलजन्मभिः। हरेच्छृंगादिभिः सुप्तसंन्यापितिराव्यधैः॥ (सूत्र २६)। सुश्रुत के उपर्युक्त श्लोक और इस श्लोक के संबंध में आगे के श्लोक का वक्तव्य भी देखो।

अवगाढे जलौकाः स्यात् प्रच्छानं पिण्डिते हितम्।
सिराऽङ्गव्यापके रक्ते शृङ्गालावू त्वचि स्थिते ॥३८॥

इति सुश्रुतसंहितायां शरीरस्थाने सिराव्यधिविधिशरीरं
नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

(दूसरी दृष्टि से जलौकादि की कार्यमर्यादा—) गंभीर स्थान में (से रक्तनिर्हरण के लिए) जलौका होती हैं, जमे हुए रक्त के लिए प्रच्छान हितकर होता है, सर्वाङ्ग-व्यापी रक्त में सिरा(वेध हितकर होता है) और त्वचा में (रक्तदुष्टि) स्थित होने पर सींग और तुम्बी (हितकर होती है) ॥३८॥

वक्तव्य—पूर्वश्लोक में रक्त की गंभीरता की दृष्टि से सिराव्यधादि साधनों का अधिकार बताया गया; परंतु प्रत्यक्ष उनके उपयोग के संबंध में उस श्लोक से मार्गदर्शन नहीं होता है, वह केवल तात्त्विक विवरण (Theory) है। इसलिए इस श्लोक में रोग को देखकर रोगी के ऊपर उनका उपयोग कैसे किया जाय, इसका निदर्शन (Practical) किया गया है। यह श्लोक एकीय मत का नहीं है, जैसे कि दल्हणाचार्य लिख रहे हैं—तत्र सिराविषाणुत्वजलौकाः-प्रच्छानानां विषयं कश्चिदाह, अवगाढे इत्यादि। परंतु पिछले श्लोक के स्पष्टीकरणार्थ सुश्रुताचार्य ही लिख रहे हैं। तथा यह श्लोक पक्षान्तर भी नहीं है, जैसे कि हाराणचन्द्र कहते हैं—पक्षान्तरमवतारयति—अवेति। न तावद्वचनस्यास्य पक्षान्तर-

विषयत्वमश्रदेयम्—‘प्रच्छानं पिण्डिते वा स्यादवगाढे जलौकसः। त्वक्सेऽलाबुघटीशृङ्गं शिरैव व्यापकेऽसृजि॥’ इति स्फुटवादिना वाग्भटेन वाशब्दोपादानात्॥ जिस आधार पर हाराणचन्द्र इस श्लोक को पक्षान्तर कहते हैं, वह ‘वा’ शब्द पिछले श्लोक के वक्तव्य के अन्त में दिये हुए वाग्भटाचार्य के श्लोक के पश्चात् आता है। परंतु ये दोनों श्लोक समानार्थी होने के कारण अष्टांगहृदय में पक्षान्तर होता है परंतु यहाँ पर नहीं होता, क्योंकि सुश्रुताचार्य का ‘सिराविषाणुत्वजलौकास्तु’ यह श्लोक और वाग्भटाचार्य का ‘प्रच्छानेनैकदेशस्थम्’ यह श्लोक समानार्थक नहीं है। संक्षेप में, विशुद्ध उपपत्ति (Pure theory) और कर्माभ्यासात्मक (Applied) उपपत्ति में जो संबंध और भेद होता है, वही संबंध और भेद इन अन्तिम दो श्लोकों में है, न कि एकीय मत का, न पक्षान्तर का। अब इन दोनों का आपस में कैसा संबंध है, इसका विचार किया जाता है।

रक्त निकालने की आवश्यकता जिन रोगों में होती है, उनके चार विभाग कर सकते हैं—(१) इस विभाग में वे रोग आते हैं, जिनमें संपूर्ण शरीर में फैलने वाला रक्त निकालने की आवश्यकता पड़ती है। जैसे—पुराना हृद्रोग, मूत्रविषमयता, रक्तभाराधिक्य तथा तज्जन्य पक्षाघात इत्यादि। संक्षेप में जिनमें दोष की सर्वाङ्गव्यापकता होती है, वे सब विकार इस वर्ग में आते हैं। अतः इस श्लोक में ‘सिराऽङ्गव्यापके रक्ते’ जो लिखा है, वह कर्माभ्यास की दृष्टि से भी बहुत ठीक है। वाग्भटाचार्य ‘शिरैव व्यापकेऽसृजि’ लिखते हैं। इसमें भी ‘एव’ शब्द बहुत सूचक है। इससे स्पष्ट बताया जाता है कि जिन रोगों में सर्वाङ्ग-व्यापक दोष होते हैं तथा सर्वाङ्गव्यापक रक्त को निकालना है, उनमें सिरावेध ही रक्तमोक्षण का एकमात्र मार्ग है। उसकी टीका में अरुणदत्त भी लिखते हैं—सर्वशरीरव्यापके रक्ते शिरैव। सिरायां मतविकल्पो नास्त्येवेत्येवशब्दार्थः॥ सर्वाङ्ग-व्यापकत्व से अवगाढतमत्व का भी बोध होता है क्योंकि मस्तिष्क, फुफ्फुस इत्यादि अत्यन्त गहराई में स्थित प्रत्यङ्गों का भी रक्त इसी मार्ग द्वारा निकाला जाता है। (२) इस विभाग में उन रोगों का समावेश होता है, जिनमें विकृति गहराई (अवगाढ) पर होती है और ऊपर की त्वचा में कोई खराबी नहीं होती। जैसे—अर्श, नेत्ररोग, न्युमोनिया, ब्रान्को न्युमोनिया, मस्तिष्कावरणशोथ, कर्णरोग इत्यादि। इन रोगों में रुग्णाङ्ग के ऊपर जोंकें लगाने से अवगाढ स्थान के रक्त का निर्हरण होता है। ऊपरी त्वचा को कम से कम नुकसान पहुँचाते हुए अवगाढ स्थान का रक्त निकालने का जोंक यही एक मार्ग है (प्रथम खण्ड पृष्ठ ७५ देखो)। इसलिए ‘अवगाढे जलौकाः स्यात्’ यह जो लिखा है, वह बहुत ठीक है और कर्माभ्यासात्मक है। (३, ४) इन दो विभागों में उन रोगों का समावेश होता है, जिनमें विकृति त्वचा तथा उपत्वचा या उसके आस-पास में होती है। जैसे—फोड़े, फुन्सियाँ, विद्रधि, उपत्वचाशोथ (Cellulitis) इत्यादि। इनमें से जिन विकारों में त्वचा गल जाती है, फूट जाती है, टूट जाती है, उनका

समावेश तीसरे विभाग में कर सकते हैं और इस विभाग के लिए सींग या तुम्बी का प्रयोग उचित होता है । इसलिए लिखा है 'शृङ्गालु त्वचि सिते' । चौथे विभाग में उन रोगों का समावेश कर सकते हैं, जिनमें विकृति त्वचा में कम परंतु त्वचा के नीचे अधिक, या त्वचा में होने पर भी त्वचा खराब न होने से दोष या रक्त उसके नीचे इकट्ठा हुआ है । पिण्डित का अर्थ जमा हुआ रक्त (धनीभूत संततमित्येतत्) (हाराणचन्द्र) हो सकता है, परंतु इससे प्रशस्त अर्थ यह है कि 'जिसको बाहर निकलने के लिए मार्ग न मिलने से जो पिण्डित याने इकट्ठा हुआ है, ऐसा' । पिण्डित शब्द का प्रयोग इसी अर्थ से गुल्म के निदान में मिलता है—तत्र मार्गनिरोधादल्पाश्रयो वायुः 'पिण्डितत्वात्' गुल्मसंज्ञां लभते । (अष्टांगसंग्रह) । ऐसी अवस्था में नीचे इकट्ठे हुए रक्त को शस्त्रपदों से मार्ग बनाया जाता है और पश्चात् यदि आवश्यक हो तो सिंगी या तुम्बी लगाई जाती है, जिससे पिण्डित रक्त बाहर निकल आता है ।

संक्षेप में सर्वशरीरव्यापी दोष में जब त्वचा में कोई खराबी नहीं होती तब सिरावेध, जब गहराई में स्थित किसी प्रत्यंग या अवयव में दोष होता है और त्वचा में कोई खराबी नहीं होती तब जलौका, जब त्वचा में दोष होकर त्वचा की खराबी होती है तब सिंगी या तुम्बी और त्वचा में या त्वचा के नीचे खराबी होने पर त्वचा में दोष को बाहर आने का कोई मार्ग या मार्ग की अल्पता होती है तब प्रच्छेदन का उपयोग करना चाहिए; यह इस श्लोक का कर्माभ्यास की दृष्टि से तात्पर्य है ।

इति आस्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सिराव्यधिविधिशरीरं
नामाष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥८॥

नवमोऽध्यायः ।

अथातो धमनीव्याकरणं शरीरं व्याख्यास्यामः ।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके बाद धमनीव्याकरण (नामक) शरीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥१॥

चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः ।

तत्र केचिदाहुः—सिराधमनीस्रोतसामविभागः, सिराविकारा एव हि धमन्यः स्रोतांसि चेति । तत्तु न सम्यक्, अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः; कस्मात् ? व्यञ्जनान्यत्वान्मूलसन्नियमात् कर्मवैशेष्यादागमाच्च; केवलं तु परस्परसन्नि-
कर्षात् सदृशागमकर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्म-
णामप्यविभाग इव कर्मसु भवति ॥२॥

(सिराओं से धमनियों का पृथक्त्व—) नाभि से उत्पन्न होने वाली चौबीस धमनियाँ (पहले) कही गई

हैं । इस विषय में कुछ (आचार्य) कहते हैं कि सिरा, धमनी और स्रोतस में कोई विभेद नहीं है; धमनियाँ और स्रोतस सिराओं के ही वि(शेष आ)कार होते हैं । परंतु यह (मत) ठीक नहीं है । धमनियाँ और स्रोतस सिराओं से बिल्कुल भिन्न हैं । क्यों ? लक्षणभिन्नता से, मूल (संख्याभिन्नता की) निश्चिति से, कर्मभिन्नता से और शाखाधार से । केवल परस्पर निकटता से, शाख में (कहीं कहीं इनकी) समानता(निदर्शक वचन मिलने) से, समान कर्म होने से, सूक्ष्म(अंगविनिश्चयाज्ञान)ता से भिन्न भिन्न कर्म के होने पर भी इनके कर्म में अभिन्नता (प्रतीत) होती है ॥२॥

वक्तव्य—नाभिप्रभवाः—नाभि से जिनका उद्भव होता है, ऐसी । आयुर्वेद में जैसे हृदय एक है, वैसे नाभि भी एक ही है और वह उदर प्राचीर मध्य में स्थित होती है । इस नाभि के साथ गर्भ की नाभिनाडी संबंधित होती है, जिससे गर्भ का पोषण होकर उसकी वृद्धि भी होती है । सिराओं का संबंध इसी नाभि से बताया गया है, वह भी गर्भवृद्धि की दृष्टि से है । संक्षेप में आयुर्वेद में नाभि का संबंध गर्भपोषण के साथ होने से सिराएँ और धमनियाँ जो पोषण के काम में आती हैं, नाभि से संबंधित बताई गई हैं—गर्भस्य खलु रसनिमित्ता मारुताध्माननिमित्ता च परि-
वृद्धिर्भवति । तस्यान्तरेण नामेस्तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं मतम् ।
तदा धमति वातस्तु देहस्तेनास्य वर्धते ॥ मातुस्तु खलु रसवहायां
नाड्यां गर्भनाभिनाडीप्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभि-
वहति, तेनोपस्तेहेनास्यामिवृद्धिर्भवति । असंजाताङ्गप्रसङ्गप्रविभाग-
मानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्य-
गतानां धमनीनामुपस्तेहो जीवयति ॥ गर्भस्य खलु संभवतः पूर्व
नाभिरिति पाराशर्यस्ततो हि वर्धते देहो देहिनः ॥ पकामाशययोर्मध्ये
सिराप्रभवा नाभिर्नाम ॥ नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणात्राभि-
व्युपाश्रिता । सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥ (सुश्रुत) ।
चरक, अष्टांगसंग्रह, अष्टांगहृदय इत्यादि अन्य ग्रंथों में भी नाभि का वर्णन इसी प्रकार का मिलता है । इस सब विवरण का तात्पर्य यह है कि नाभि एक कोष्ठाङ्ग है । गर्भा-
वस्था में इसी से गर्भनाडी संबंधित होती है । सिराओं और धमनियों का प्रभव इसलिए नाभि से होता है । अतः योगशास्त्र में तथा अन्य तन्त्रग्रंथों में नाभि का अर्थ कोई भी हो, आयुर्वेद में नाभि Umbilicus naval के लिए प्रयुक्त होती है (पीछे सातवें अध्याय के ३९वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो), Brain or spinal cord (मस्तिष्क या सुषुम्ना) से उसका कोई संबंध नहीं है । जिस दृष्टि से नाभि सिराओं का प्रभवस्थान माना गया है, उसी दृष्टि से नाभि धमनियों का प्रभवस्थान माना गया है, याने गर्भाशय में शरीर उत्पन्न होने के काल की दृष्टि से धमनी नाभिप्रभव मानी गई है । और सातवें अध्याय के चौथे श्लोक में जिस प्रकार सिराओं की नाभि के पास रचना बताई गई है, उसी प्रकार की रचना धमनियों की नाभि के पास अष्टांगहृदय में वर्णन की गई है—धमन्यो नाभिसंबद्धा विंशतिश्चतुरस्रताः । तामिः परिवृतो नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥

(शरीर ३) । जन्म के पश्चात् धमनियों का संबंध नाभि के साथ न होकर केवल हृदय के साथ होता है, और इसी दृष्टि से सूत्रस्थान के शोणितवर्णनीय अध्याय में इन चौबीस धमनियों का संबंध हृदय के साथ स्पष्टतया बताया गया है । तस्य (रसस्य) हृदयं स्थानम्, स हृदयाच्चतुर्विंशतिं धमनीरनुप्रविश्यो-
ध्वंगा दश दश चाधो गामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरह-
स्तर्पयति वर्षयति धारयति यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा ॥ चरक-
संहिता में भी धमनियों का संबंध हृदय से ही बतलाया है, केवल फर्क इतना है कि वहाँ पर धमनियों की संख्या चौबीस के बदले दस है—तेन मूलेन महता महामूला मता दश । ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ॥ (सूत्र ३०) । प्रागभिहिताः—शोणितवर्णनीय अध्याय में सूत्रस्थान में । इसका अभिप्राय यह है कि वहाँ पर हृदयस्थ रस जिन चौबीस धमनियों द्वारा संपूर्ण शरीर में फैलकर शरीर का पोषण और तर्पण करता है, वे धमनियाँ नाभिप्रभव हैं । सिराधमनीस्रोतसामविभागः—इसका अभिप्राय यह है कि कुछ आचार्यों के मतानुसार सिरा, धमनी और स्रोतस ये एकार्थक या पर्याय शब्द (Synonyms) हैं । जैसे, चरक में लिखा है—स्रोतांसि सिरा धमन्योः ... शरीरधात्वकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति । (विमान ६) । इसकी टीका में चक्रपाणि-
दत्त लिखते हैं—स्रोतसां व्यवहाराय पर्यायानाह । अन्ये त्वेतानपि धमनीपर्यायानाहुः ॥ इसी मत के अनुसार अमरकोश में 'नाडी तु धमनी सिरा' करके धमनी और सिरा पर्याय बताये गये हैं । सिराविकाराः—सिराओं से उत्पन्न होने वाले विशिष्ट आकारयुक्त प्रकार, जैसे—दूध से दही, इक्षुरस से गुड चीनी इत्यादि—सिराविकारा इति सिराणामेवाकारान्तरेण परि-
णामाः, पिष्टविकारक्षीरविकारवत् । तत्तु न सम्यक्—सुश्रुताचार्य का मत है कि धमनी सिरा विकार न होकर स्वतन्त्र और सिराओं से बिल्कुल भिन्न है । इसके लिए निम्न चार हेतु बतलाये जाते हैं । (१) व्यञ्जानान्यत्वात्—दोनों के लक्षणों में भिन्नता होने से । इसकी टीका में डह्लणाचार्य लिखते हैं—तत्र सिराणां वातादिवहानामरुणनीलशुक्लोहितवर्णत्वं लक्षणं शब्दादिवदधमनीनां तु वर्णानुक्तेः स्वधातुसमवर्णत्वम्, एवं स्रोतसामपि । तदुक्तं चरके—'स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च । स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या' इत्यादिकम् ॥ इस पर हाराणचन्द्र लिखते हैं—व्यञ्जानान्यत्वालिङ्गान्यत्वात्, सिराणामिव धमनीनामपि विराट्प्रतमांसात्मकनाडीस्वरूपत्वे सत्यपि किञ्चिन्मृदुत्वेन मृदुसंकोचविकासित्वेन च, स्रोतसां पुनः स्वच्छतरतनुकोमलपटा-
वृतानावृत्तत्वेनातितरां मृदुत्वेन मृदुतरसंकोचविकासित्वेन च वैशिष्ट्यादिति यावत् ॥ धमनी और सिरा में मुख्य भेद स्पन्दन का है । स्पन्दनयुक्त धमनी और स्पन्दनरहित सिरा—ध्मानादमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् सिराः । (चरक, सूत्र ३०) । (२) मूलसंनियमात्—मूलसंनियमो द्वितीयो भेदो यथा तासां मूलसिराश्चत्वारिंशदित्यारभ्य यावदेव-
मेतानि सप्तसिराशतानि; धमनीनां तु चतुर्विंशतिर्यमन्यः; स्रोतसां पुनर्द्विंशतिः स्रोतांसि । (डह्लण) । नियमोऽभ्युपगमश्चेति पर्याप्तौ । तदयमर्थः । मूलाणां पृथक्त्वेनाभ्युपसमो यस्मात्तस्मान्मूल-
सन्नियमात् संख्यातानां मूलसिरादीनां विजातीयत्वेनावहितमनसां

प्रत्यक्षोपलम्भादिति निष्कर्षः । (३) कर्मवैशिष्ट्यात्—'कर्मणाम-
प्रतीघातम्' इत्यादि सातवें अध्याय के ७वें श्लोक में वर्णन किया हुआ सिराओं का कर्म और शब्दरूप गंधादि का वहन धमनियों का कर्म । (४) आगमाच्च—आयुर्वेद के ग्रंथों में स्थान स्थान पर सिरा धमनी इनका पृथक् पृथक् उल्लेख मिलता है । जैसे सूत्रस्थान के अग्नोपहरणीय अध्याय में शस्त्रकर्म के समय लिखा है—वैद्यो मर्मसिरास्त्रायुसन्ध्यस्त्रि-
धमनीः परिहरन् अनुलोमं शस्त्रं निदध्यादाप्यदर्शनात् ॥ वैसे ही शरीरगत प्रत्यक्षों की परिगणना में सिरा, धमनी और स्रोतस इनका उल्लेख स्वतन्त्र किया गया है—तस्य पुनः संख्यान्—मर्माणि सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च । (शरीर ५) । यदि धमनी और सिरा शब्द शरीरगत एक ही प्रत्यंग के लिए प्रयुक्त होता तो इनका पृथक् पृथक् उल्लेख नहीं किया जाता । इसलिए धमनी और सिरा ये पृथक् पृथक् हैं, यह कहने का अभिप्राय है । विभक्तकर्मणा-
मप्यविभाग इव—इस तरह लक्षणभिन्नता, मूलसंख्या-
भिन्नता, कर्मभिन्नता और शास्त्राधार इन चार कारणों से सिरा और धमनी का प्रविभाग सिद्ध होने पर भी व्यवहार में ये शब्द अधिकतर समानार्थी प्रयुक्त हुए दिखाई देते हैं । यह दोष जैसे सद्यःकालीन उपलब्ध ग्रंथों में दिखाई देता है, वैसे प्राचीन कालीन ग्रंथों में तथा व्यवहार में, कम से कम सुश्रुतसंहिता के समय में दिखाई देता था । अब इस दोष के रूढ होने के चार कारण यहाँ पर बताये जाते हैं—(१) परस्परसंनिकर्षात्—धमनी, सिरा और स्रोतस, इन तीनों प्रत्यंगों के शरीर में अत्यन्त समीप होने के कारण । शरीर में ऐसा कोई अंग नहीं मिलेगा, जहाँ पर ये तीनों प्रत्यंग न हों और अत्यन्त समीप न हों । इसके लिए डह्लणाचार्य दृष्टांत देते हैं—यथाऽतिसंनिकर्षयुक्तीकृतानां तृणानां प्रत्येकं भिन्नज्वलनक्रियाणामभिन्नमिव ज्वलनं प्रतीयते ॥ सट्टशागमकर्मत्वात्—सट्टशागमात् सट्टशकर्मत्वाच्च । (२) सट्टशा-
गमात्—शास्त्र में धमनी और सिरा की विभिन्नता के जितने उदाहरण मिलेंगे, उससे कई गुना अधिक उदाहरण दोनों का एकार्थी उपयोग करने के मिलेंगे—जैसे, 'कृशपक्षो धमनी ततः प्रलापी' (शरीर ४); धमनीजालसंततः (चरक, सूत्र २१) इत्यादि स्थानों में धमनीशब्द सिरावाचक प्रयुक्त हुआ है । वैसे ही दश मूलसिरा हस्त्यास्ताः सर्वाः सर्वतो वपुः । रसात्मकं वहन्त्योजः । (अष्टांगहृदय), असृग्-
वास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः । (सुश्रुत)—इन स्थानों में सिरा शब्द धमनीवाचक प्रयुक्त किया गया है । (३) सट्टशकर्मत्वात्—दोषधातुवहन यह इनका कर्मसामान्य है । कर्मसामान्य के साथ इनमें कुछ रचनासामान्य भी है । ये तीनों ही अवकाशयुक्त याने मध्यच्छिद्रयुक्त या अन्तःसुषिर (Hollow) होते हैं—आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम् । सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यो नाढ्य आशयाः ॥ इनमें सिराएँ वातादि तीन दोषों का वहन करती हैं, स्रोतस रस का वहन करते हैं और धमनी (रक्तयुक्त) वात का वहन करती हैं । अर्थात् भेद विशिष्ट चीज के वहन में है । (४) सौक्ष्म्यात्—सूक्ष्म अंगविनिश्चय

ज्ञान के अभाव से । सिरा, धमनी, स्त्रोतस सूक्ष्म होने के कारण उनका पृथक्त्व नहीं माना जाता है । इसका अर्थ यह है कि ये तीनों प्रत्यंग वास्तव में पृथक् होने पर भी इतने सूक्ष्म शारीर ज्ञान का अभाव वैद्यों में या सामान्य जनता में होने के कारण ये पर्याय रूप में प्रयुक्त होते हैं ।

धमनी क्या है ? धमनी के वास्तविक अर्थ के संबंध में कलापेशी स्नायु इत्यादि के समान कुछ मतभेद प्रचलित है । इस मतभेद के अध्वर्यु पूना के स्वर्गवासी पं० गंगाधर शास्त्री जोशी हैं । उनके मतानुसार धमनी मस्तिष्कसुषुम्ना से निकलने वाली नाड़ियाँ (Cerebro-spinal nerves) हैं । इस मत का विचार करने के पहले धमनी के संबंध में आयुर्वेद में जो मुख्य बातें मिलती हैं, उनका विवरण किया जाता है । वे मुख्य बातें ये हैं—(१) धमनी नाली के समान अवकाशयुक्त या सुषिर वस्तु है—आकाशीयाकाशानां देहे नामानि देहिनाम् । सिराः स्त्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यः ॥ स्त्रोतांसि सिरा धमन्यो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि । (चरक, विमान ५) । (अष्टांगसंग्रह, शारीर ६) । (२) हृदय से संबंध—यद्यपि यहाँ पर धमनियों की उत्पत्ति नाभि से बताई गई है (इसका अर्थ इस वक्तव्य के प्रारम्भ में तथा सातवें अध्याय के ३९वें श्लोक के वक्तव्य में स्पष्ट किया गया है) तथापि साधारणतया धमनियों का संबंध हमेशा हृदय के साथ ही लिखा जाता है—स हृदयाच्चतुर्विंशतिं धमनीरनुप्रविश्य कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति । (सूत्र १४) । हृदि च दश धमन्यः । (चरक, सिद्धिस्थान ९) । तेन मूलेन महता महामूला मता दश । ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ॥ (चरक, सूत्र ३०) । आगे नंबर तीन में दिये हुए उद्धरण भी देखो । (३) धमनी में रस और रक्त का संवहन होता है—रसवहानां स्त्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः । (चरक, विमान ५) । शोणितजानां तु खलु कुष्ठैः समानं समुत्थानं, स्थानं रक्तवाहिन्यो धमन्यः । (चरक, विमान ७) । धमनिस्थे (शल्ये) सफेनं रक्तमीरयन्निलः सशब्दं निर्गच्छति । (सुश्रुत, सूत्र २६) । समेत्य हृदयं प्राप्य धमनीरूर्ध्वमागतम् । विश्लोभ्येन्द्रियचेत्तांसि वीर्यं मदयते चिरात् । (सुश्रुत, सूत्र ४५) । मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम् । ईषत् कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत् । (सुश्रुत, शारीर ३) । धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः । दोषाविसरणात्तासां न भवन्ति स्तनामयाः ॥ (सुश्रुत, निदान १०) । धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम् । चतुरात्रात् विरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते ॥ (सुश्रुत, शारीर १०) । असंजातप्रत्यङ्गप्रविभाग-मानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां धमनीनां तिर्यग्गतानामुपरस्तेनो जीवयति । (सुश्रुत, शारीर ३) । सहृदयाच्चतुर्विंशतिं धमनीरनुप्रविश्योर्ध्वा दश दश चाधो गामिन्य-श्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरं तर्पयति । (सुश्रुत, सूत्र १४) । (४) धमनियों में ध्मान या स्पन्दन मिलता है—ध्मानाद्-मन्यः, स्रवणात् स्त्रोतांसि, सरणात् सिराः । (चरक, सूत्र ३०) । धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ । करस्थांगुष्ठमूले वा धमनी जीवसाक्षिणी । तच्छ्रेया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पण्डितैः । चरकोपेन धमनी सोष्णा वेगवती भवेत् ॥ (शार्ङ्गधर, प्रथमखंड) ।

तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयाताम्, परासुरिति विधात् । (चरक, इन्द्रियस्थान ४) । मन्ये गलपार्श्वगते धमन्यौ । (चक्रपाणिदत्त) । संक्षेप में आयुर्वेदोक्त धमनियों नाली-दार हृदय से निकलने वाली, रसरक्तवह और स्पन्दनशील (Pulsating) होती हैं । पं० गंगाधर शास्त्री हृदय का अर्थ मस्तिष्क (Brain) करते हैं—How the dhmanis are said to proceed from हृदय and नाभि is a Question connected with the ancient Yoga-philosophy. Suffice it to say here that even Dr. Gana Nath sen and the late Prof. Bhanw of Poona have acknowledged that in the ancient philosophy of Yoga and the Upanishads हृदय did mean a part of Brain. योगशास्त्र में हृदय का अर्थ मस्तिष्क भले ही हो, आयुर्वेद में हृदय से वक्षःस्थ रक्तपरिचालक यन्त्र का ही निरपवाद बोध होता है । इस विषय का विस्तृत साधक बाधक प्रमाणों के साथ विवरण चतुर्थ अध्याय के ३३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । इसलिए धमनी से आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार आर्टरी (Artery) का ही बोध होता है । अब, जैसे कि यहाँ पर बताया गया है, सूक्ष्म ज्ञानाभावादि कारणों से धमनी का उपयोग हमेशा आर्टरी के अर्थ में नहीं किया जाता है, यह बात दूसरी है । परन्तु इससे धमनी का वास्तविक मूल अर्थ कहीं भी नहीं छिप सकता । जिस ग्रंथ में कहीं भी मस्तिष्क का या सुषुम्ना का वर्णन नहीं मिलता, उस ग्रंथ के कुछ शब्दों से Cerebro-spinal nerves, sympathetic nerve fibers इत्यादि का अर्थ निकालना अज्ञान और घृष्टता का काम है । धमनी का अर्थ Nerve करना इसी स्वरूप का काम है । नर्व या नाडी ठोस होती है, उसमें रस या रक्त का वहन नहीं होता, न स्पन्दन होता है तथा उसका संबंध सुषुम्ना या मस्तिष्क के साथ होता है । याने धमनी और नर्व में एक भी बात की समता नहीं है । ऐसी अवस्था में धमनी को नर्व कहना एक दुराग्रह है । नर्व के संबंध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि मृत्यु के पश्चात् शरीर का संशोधन करने से उसके कार्य का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता । वह अंग स्नायुतन्तु के साथ भूला जा सकता है । बंगाल में नर्व के लिए स्नायु शब्द का ही प्रयोग होता है । हाराणचन्द्र भी स्नायु शब्द से नर्व समझते हैं । आगे नौवें श्लोक के वक्तव्य में हाराणचन्द्र का उद्धृत वचन देखो । धमनी का ज्ञान मृत्यु के पश्चात् भी हो जाता है और मृत्यु के पूर्व भी उसका ज्ञान स्पन्दनादि से हो जाता है । संक्षेप में रक्तवह संस्थान का ज्ञान जितना सुलभ है, उतना मस्तिष्कसंस्थान का नहीं है । अभी तक मस्तिष्क के कुछ प्रदेश तथा उनके कार्य अज्ञात हैं । इस सारे विवरण का तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीयों को और उनके साथ आयुर्वेदवेत्ताओं को मस्तिष्क और सुषुम्ना का तथा शरीरगत नाड़ियों का ज्ञान नहीं था । परन्तु यह जरूर कहना पड़ता है कि मस्तिष्कसंस्थान का ज्ञान हो या न हो, आयुर्वेदवेत्ताओं ने मस्तिष्कसंस्थान जैसे प्रमुख परन्तु कठिन

संस्थान के परिचय के झंझट को छोड़कर मनुष्य शरीरगत प्राकृत और विकृत कार्यों का समाधान करने की बड़ी सुन्दर और सरल उपपत्ति निकाली, जिस उपपत्ति के कारण कम से कम प्राचीन काल में, वैद्यकशास्त्र में बहुत सुलभता आ गई। मस्तिष्कसंस्थान के शारीरिक या अंग-विनिश्चयात्मक ज्ञान (Anatomy) का अभाव इसी कारण से आयुर्वेद में दिखाई देता है, परन्तु उसके कार्य (Physiology) का काफी विवरण आयुर्वेद में मिलता है (सूत्रस्थान के १४वें अध्याय के ११वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में पृष्ठ ८० पर नर्वस टिड्डु का वर्णन देखो)। यह उपपत्ति क्या है?

आयुर्वेद की नींव त्रिदोषों के ऊपर है, इसमें कोई संदेह नहीं है। कोई इनको माने या न माने, तथा पाश्चात्य वैद्यक इनको वैज्ञानिक समझे या न समझे। इन त्रिदोषों में वायु नामक एक दोष सर्वप्रधान माना गया है। इस वायु का बहुत सुंदर वर्णन चरकसंहिता के वातकला कलीय अध्याय में किया गया है—वायुस्तन्वयन्वधरः प्राणोदान-समानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभि-बोधा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, संधानकरः शरीरस्थ, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः शब्दस्पर्शयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्गोनिः, समीरणोऽग्रेः, संशोषणो दोषाणां, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणु-स्रोतसां मेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुप्रवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः। कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुप-तपति बलवर्णमुखायुषामुपघाताय, मनो व्याहर्षयति, सर्वेन्द्रियाण्यु-पहन्ति, विनिहन्ति गर्भान्, विकृतिमापादयत्यतीतकालं वा धारयति, भयशोकमोहदेव्यातिप्रलापाज्जनयति, प्राणांश्चोपरुण्धि ॥ (सूत्र १२)। यह वायु क्या है? आज ठीक नहीं कहा जा सकता। कोई इसको आक्सिजन समझते हैं, कोई कार्बन डायोक्साइड समझते हैं; और कोई प्रणालीविहीन ग्रंथियों के अन्तःस्राव (Hormones) समझते हैं। कुछ भी हो, यह वातशरीर में निरन्तर संचार करता रहता है और इसी संचार के ऊपर प्राणियों का स्वास्थ्य निर्भर होता है—अन्वाहृतगतित्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः। वायुः स्वात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ॥ (चरक, चिकित्सा २८)। वायु के साथ अन्य दो दोष भी शरीर में संचार करते हैं, परन्तु उनका नियन्त्रण वायु के द्वारा ही होने के कारण वे विशेष महत्त्व के नहीं माने गये हैं—पित्तं पञ्च कफः पञ्चः पञ्चवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ॥ (शार्ङ्गधर)। अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहरादः। (सुश्रुत)। ये दोष शरीर में संचार करते हैं, अर्थात् इनके संचरण के लिए मार्ग की आवश्यकता है। शवविच्छेदन तथा पाश्चात्य वैद्यक पढ़ने से जिनको नवीन दृष्टि प्राप्त हुई है (जैसी कि पं० गंगाधर शास्त्रीजी को प्राप्त हुई थी), वे कह सकते हैं कि वायु का मार्ग शरीरगत नर्व (Nerves) होती है। इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि तीनों दोष हमेशा साथ रहते हैं, एक ही वाहिनी में से संचार करते हैं। वह वाहिनी नालीदार पोली होती है और इनका वाहन रस (या रक्त) होता है—कुपितानां हि

दोषाणां शरीरे परिधानताम्। यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याध्तिस्तत्रोप-जायते ॥ (सुश्रुत, सूत्र २४, १८)। व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपो-चित्कर्माणां। युगपत् सर्वतोऽजसं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ क्षिप्यमाणः स्ववैगुण्यादसः सज्जति यत्र सः। तस्मिन् विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः ॥ (अष्टांगहृदय, शारीर ३)। इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—एवमनेन न्यायेन दोषाणामपि वातादीनां व्यानेन विक्षिप्यमाणानामेकदेशप्रकोपणं विकारकरणं स्यात् ॥ व्यान धातु हृदय में निवास करके रससंवहन का कार्य करता है। इससे स्पष्ट है कि यह हृदय हार्ट है, व्रेन नहीं है। अर्थात् वातादि दोष रससंवहन के साथ शरीर में हमेशा परिभ्रमण किया करते हैं और प्राकृत अवस्था में प्राकृत कार्य और विकृत अवस्था में विकार उत्पन्न करते हैं, परन्तु उनका मार्ग और वाहन दोनों अवस्थाओं में एक ही होता है। नर्व में से वायु का संचार मानने के लिए सभी (प्राचीन तथा आधुनिक) तैयार होंगे। परन्तु उसी में से पित्त और कफ का वहन मानने के लिए कोई भी तैयार नहीं होगा। चूंकि ये तीनों साथ रहते हैं और रस के द्वारा रसवाहिनियों में से संपूर्ण शरीर में संचार करते हैं। इसलिए वायु का कार्य जहाँ पर दिखाई देता है, वहाँ पर शारीरिक अंगविनिश्चय की दृष्टि से नर्व अर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, न आयुर्वेद की उपपत्ति की दृष्टि से उसका अर्थ नर्व कर सकते हैं। इस प्रकार यदि अर्थ किये जायें तो कई बार अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होंगे। इसके कुछ उदाहरण सातवें अध्याय के ३९वें श्लोक के वक्तव्य में तथा चौथे अध्याय के ३३वें श्लोक के वक्तव्य में हृदय का अर्थ करने के समय दिये गये हैं। कुछ उदाहरण यहाँ पर भी दिये जाते हैं—(१) धातूनां पूर्णं वर्णं स्पर्शज्ञानम-संशयम्। स्वाः सिराः संचरद्वक्तं कुर्वाचान्यान् गुणानपि ॥ (सुश्रुत, शा० ७)। इस श्लोक पर प्रत्यक्षशारीर की प्रस्ता-वना में म० म० गणनाथ सेन लिखते हैं—नहि सिरासु संचरद्वक्तं स्पर्शज्ञानं साधयति, तद्वि स्पर्शसंज्ञावाहिभिर्नाडीप्रतानैः (Nerves) संपद्यते ॥ रसयोगसागर उपोद्धात (पृष्ठ १२८) में भी इस श्लोक पर लिखा है—इत्यत्र धातूनां पूर्णमित्यनेन सिराधमन्याबुक्तौ। स्पर्शज्ञानमित्यनेन ज्ञानतन्तु (Nerves) कार्य निर्दिष्टम्। तच्च सिरास्वसंबद्धं किन्तु ज्ञानतन्तुनिर्वाहं, सिरासु संचरद्वक्तं तत्र साधयति ॥ (२) कर्णयोर्दश तासां शब्दवाहिनी-नामैकैकां परिहरेत् ॥ परिभाषितनाड्यर्थे सिरापदप्रयोगः। (प्रत्यक्षशारीर प्रस्तावना ६६)। (३) यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः। तदाक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः। मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः ॥ (सुश्रुत, निदान १)। इत्यत्र ज्ञानतन्तुषु धमनीशब्दः प्रयुक्तः। (रसयोगसागर उपोद्धात पृष्ठ १२८)। इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि जहाँ पर अर्थ की दृष्टि से सिरा या धमनी या नाडी का उल्लेख नर्व किया जा सकता है। परन्तु वास्तव में आयुर्वेदोक्त सिरा, धमनी, स्रोतस या नाडी नर्व नहीं है, रस या रक्त को वहन करने वाली नाली है। ये प्रयोग न गलती से हुए हैं, न गफलत से, न प्रतिसंस्कर्ता के दोष से, न प्रक्षेप से, परन्तु ठीक आयुर्वेद की उपपत्ति के

अनुसार हुए हैं। यह उपपत्ति आधुनिक पाश्चात्य तत्त्व के अनुसार गलत कही जा सकती है, यह दूसरी बात है। परन्तु इस नये तत्त्व के आधार पर पुरानी कल्पना को बदलकर नये के साथ मिलाने की कोशिश करना ठीक नहीं है। रस या रक्त के साथ वातादि दोष संचार करके शरीर में प्राकृत (Normal) तथा वैकृत (Abnormal) कार्य करते हैं। इस उपपत्ति में सत्य का संपूर्ण अभाव नहीं मालूम होता, बल्कि बहुत कुछ तथ्य प्रतीत होता है। जैसे, मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से चक्कर, अंधता उत्पन्न होती है, रक्त की अधिकता होने से सिरदर्द होता है। मस्तिष्कगत रक्तप्रवाह के बंद होने से मृत्यु होती है, किसी एक स्थान का प्रवाह बंद होने से एकांगघात, पक्षाघात होता है। सुषुम्ना में कहीं पर रक्तप्रवाह में बाधा होने से पङ्कता उत्पन्न होती है, कान के रक्तप्रवाह में बाधा होने से बाधिर्य, कर्णद्वेद होता है। आँखों की रक्तवाहिनी में बाधा उत्पन्न होने से अंधता होती है। कुर्सी पर या कठिन आसन पर अधिक देर बैठने से टाँगों के रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न होकर पैरों में झुनझुनी, स्वाप, जडता इत्यादि उत्पन्न होते हैं। नींद में एक करवट अधिक समय तक सोने से हाथ के रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न होकर हाथ में भी पैर की तरह झुनझुनी इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। आधुनिक पाश्चात्य संप्राप्ति के अनुसार ये सब नर्वस रोग (Nervous diseases) होते हैं, परन्तु इन विकारों में मस्तिष्कसंस्थान की धातु में कोई खराबी नहीं होती। जो कुछ भी होती है, वह असल में रक्तवहन की होती है। अर्थात् अगर कोई इन विकारों का कारण मस्तिष्कसंस्थान न समझकर रक्त समझे तो इसमें विशेष दोषावह नहीं है। जब कान की रक्तवाहिनी में खराबी होने से कान का कार्य ठीक नहीं होता, तब इसका अनुमान यह होता है कि रक्तवाहिनी ठीक होने से कान का काम भी ठीक होता है। आयुर्वेद में ये सब कार्य वायु के द्वारा होते हैं, ऐसा माना गया है। इसका मतलब यह है कि जब प्रत्येक प्रत्यंग की रक्तवाहिनी में अविकृत वायु संचार करती है, तब उसका कार्य ठीक होता है। और जब विकृत वायु संचार करती है, तब उसका कार्य खराब हो जाता है। जिह्वा की रक्तवाहिनी में अविकृत वायु का संचार होने पर गंधज्ञान ठीक होगा और विकृत वायु का संचार होने पर गंधज्ञान में गड़बड़ हो जायगी। संक्षेप में, रसरक्त के द्वारा शरीर के संपूर्ण कार्य विकृत या अविकृत होते हैं, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है। पाश्चात्य वैद्यक को भी मानना पड़ता है कि शब्द स्पर्शादि कार्य शरीर में यद्यपि मस्तिष्कसंस्थान के द्वारा होते हैं तथापि मस्तिष्कसंस्थान का स्वास्थ्य रक्त के उचित संगठन पर निर्भर होता है। यदि रक्त में जीवनीय द्रव्य (Vitamines), कैल्सियम, फास्फरस, एमिनो एसिड इत्यादि द्रव्यों की तथा शरीरगत अन्तःस्त्रावों (Hormones) की कमी हो तो मस्तिष्कसंस्थान शारीरिक दृष्ट्या ठीक होने पर अनेक नर्वस विकार उत्पन्न होते हैं। आयुर्वेद में मस्तिष्क तथा नाडियों के लिए

जो स्थान नहीं दिया गया है, उसके लिए एक दार्शनिक दृष्टान्त दिया जा सकता है। सभी लोग जानते हैं कि ध्वनि की उत्पत्ति के लिए वायु की आवश्यकता होती है, वायु के बिना ध्वनि उत्पन्न नहीं हो सकती। यह सब कुछ होते हुए भी दर्शनशास्त्रों में शब्द आकाश का गुण बताया गया है—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि । गंधरसरूपस्पर्श-शब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थः । (न्यायदर्शन १) । आधुनिक वैज्ञानिक खोज से भी यह सिद्ध हुआ है कि आकाश (Ether) में शब्दोत्पत्ति होती है। आजकल आकाशवाणी (Radio) अत्यन्त दूर स्थान से आकाश द्वारा ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार शरीर में वातिक प्राकृत और विकृत लक्षण मस्तिष्कसुषुम्ना नाडियों के द्वारा ही होते हैं, परन्तु आयुर्वेद में नाडियों के बदले रक्तस्थ वात को ही प्राधान्य दिया है। इसलिए आयुर्वेद में शारीरिक अंगविनिश्चय की दृष्टि से कहीं भी मस्तिष्क या सुषुम्ना या नाडियों (Nerves) का उल्लेख नहीं मिलेगा। भाषान्तर में कहीं कहीं जो नर्व का उल्लेख आता है, वह तो केवल आधुनिक परिभाषा की दृष्टि से अर्थ स्पष्ट करने के लिए किया गया है। आगे भी आठवें और नौवें श्लोकों का वक्तव्य देखो।

तासां तु खलु नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्ध्वगा दश, दश चाधोगामिन्यः, चतस्रस्तिर्यग्गाः ॥३॥

(चौबीस धमनियों के विभाग—) नाभि से उत्पन्न होने वाली इन धमनियों की दस (धमनियाँ शरीर के) ऊपर की ओर, दस (धमनियाँ) नीचे की ओर और चार तिर्यक् (पार्श्वों में जाती हैं) ॥३॥

ऊर्ध्वगाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वास-जृम्भितक्षुब्धसितकथितरुदितादीन् विशेषानभि-वहन्त्यः शरीरं धारयन्ति । तास्तु हृदयमभिप्रपन्ना-स्त्रिधा जायन्ते, तस्मिंश्च । तासां तु वातपित्तक-फशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, शब्दरूपरस-गन्धान्प्रतिगृहीते, द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति, द्वाभ्यां स्वपिति, द्वाभ्यां प्रतिबुध्यते, द्वे चाश्रुवाहिण्यौ, द्वे स्तन्यं स्त्रिया वहतः स्तनसंश्रिते, ते एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहतः, तास्त्वेता-स्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः । एताभिरूर्ध्वं नामे-रुदरपार्श्वपृष्ठोरःस्कन्धग्रीवावाहचो धार्यन्ते याप्य-न्ते च ॥४॥

(ऊर्ध्वगा धमनियों के कार्य—) ऊपर जाने वाली (धमनियाँ) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रश्वास, उच्छ्वास, जम्भाई, छींक, हँसना, रोना, बोलना इत्यादि विशेषों को अभिवहन करती हुई शरीर को धारण करती हैं। ये दस धमनियाँ हृदय के पास पहुँचने पर तीन भागों में विभक्त होती हैं। वे तीस हो जाती हैं। इनमें वात, पित्त, कफ, रक्त और रस को दो दो वहन करती हैं वे दस, शब्द, रूप, रस और गन्ध को (प्रत्येक के लिए दो दो करके) आठ

ग्रहण करती हैं, दो से भाषण करता है, दो से अव्यक्त शब्द करता है, दो से सोता है, दो से जागता है, दो (आँखों के) अश्रु का वहन करने वाली हैं, दो स्तनाश्रित स्त्रियों के स्तन्य का संवहन करती हैं, वही दो स्तनों से पुरुषों के शुक्र का संवहन करती हैं, (इस तरह ऊर्ध्वग दस धमनियों की) ये तीस धमनियाँ उनके विभाग के साथ वर्णन की गई हैं । इनके द्वारा नाभि से ऊपर पेट, पार्श्व, पीठ, छाती, कन्धे, ग्रीवा और बाहु इनका धारण और यापन होता है ॥४॥

वक्तव्य—प्रश्नासोच्छ्वास—इनके अर्थ के संबंध में मत-भिन्नता दिखाई देती है—प्रश्नासोऽन्तः प्रविशति वायुः, उच्छ्वास ऊर्ध्वमुत्तिष्ठद्वायुः । (डल्हण) । प्रश्नासः श्वासप्रेरणमुच्छ्वासोऽन्तःप्रवेशनम् । (इन्द्रु, अष्टांगसंग्रह, सूत्र २०) । भाषते, घोषं करोति—भाषत इति तात्वादिस्थानव्यापारनिष्पादिताकारादिवर्णव्यक्तियुक्तं शब्दं करोति, घोषश्च तद्विपरीतोऽप्युक्तः शब्दः । (डल्हण) । ग्रीवा—सशिरग्रीवा । शिर के साथ ग्रीवा ।

इस सूत्र में तथा आगे के दो सूत्रों में जो धमनियाँ वर्णन की गई हैं, उन सब धमनियों का प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से पर्याय नाम देना कठिन है । तथापि जिनका दिया जा सकता है, उनका अंग्रेजी पर्याय नाम नीचे दिया जाता है । उसके साथ साथ पं० गंगाधर शास्त्री के पर्याय भी कोष्ठ में दिये जाते हैं ।

शब्दवह धमनी—Internal auditory artery (Acoustic nerves); **रूपवह धमनी**—Central retinal artery (optic nerves); **रसवह धमनी**—Lingual artery (Nerves of taste that is branches from glossopharyngeal and lingual); **गन्धवह धमनी**—Sphenopalatine branch of the internal maxillary (olfactory nerves); **घोषकरा धमनी**—Laryngeal arteries (Inferior laryngeal nerves); **भाषण धमनी**—Sublingual artery (Hypoglossal nerves); **अश्रुवाही धमनी**—Lacrimal artery (Lacrimal nerves); **स्तन्यवह धमनी**—Mammary artery; प्रश्नासोच्छ्वासजृम्भितशुद्धसितकथित-रुदितविशेष—ये श्वसन के ही विशेष प्रकार हैं, जिनमें श्वसन की महाप्राचीरा (Diaphragm) तथा अन्य पेशियाँ काम करती हैं । इसलिए इनको रक्त की रसद पहुँचाने वाली धमनियाँ ग्रहण करनी चाहियें; जैसे—Phrenic and inter-costal arteries । इन स्थानिक धमनियों के सिवा ये सब कार्य मस्तिष्क के द्वारा नियन्त्रित होते हैं; इसलिए ऊर्ध्वग धमनियों से मस्तिष्क की संपूर्ण धमनियों का ग्रहण होता है । इस सूत्र की टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—शब्दादीश्वरः प्रत्येकं द्रव्यां द्रव्यामिलयामी रजःप्रवर्तितात्मप्रयत्नप्रबोधमनोऽनुगताभिर्धमनीभिर्गृहीते । मनस-श्चाणुत्वादेकत्वाच्च तासां युगपत्प्रवृत्तिर्नास्तीति, तासां या धमनी मनसाऽनुयुज्यते तयैव रूपादिष्वन्यतममात्मा गृहीते, न पुनर्युगपदेव रूपादिकं सर्वं सर्वाभिरिति ।

भवति चात्र—

ऊर्ध्वगमा(ता)स्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः ।

अधोगमास्तु वक्ष्यामि कर्म तासां यथायथम् ॥५॥

ऊर्ध्वगामी धमनियाँ ये सब कर्म करती हैं । अब अधोगामी धमनियों तथा उनके कर्मों का यथावत् वर्णन करेंगे ॥५॥

अधोगमास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्तवादीन्यधो वहन्ति । तास्तु पित्ताशयमभिप्र(ति)पन्नास्तत्रस्थमे-वाक्षपानरसं विपक्वमौष्ण्याद्विवे(रे)चयन्त्योऽभिव-हन्त्यः शरीरं तर्पयन्ति, अर्पयन्ति चोर्ध्वगानां तिर्य-ग्गाणां च, रसस्थानं चाभिपूरयन्ति, मूत्रपुरीषस्वे-दांश्च विवे(रे)चयन्ति; आमपक्वाशयान्तरे च त्रिधा जायन्ते, तास्त्रिंशत्; तासां तु वातपित्तकफशोणित-रसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, द्वेऽन्नवाहिन्यावन्नाश्रिते, तोयवहे द्वे, मूत्रवस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे, शुक्र-वहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय, ते एव रक्त-मभिवहतो (विस्जतश्च) नारीणामार्तवसंज्ञं, द्वे वर्चोनिरसन्त्यौ स्थूलान्नप्रतिबद्धे, अष्टावन्यास्तिर्य-ग्गाणां धमनीनां खेदमर्पयन्ति; तास्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः । एताभिरधोनाभेः पक्वा-शयकटीमूत्रपुरीषगुदवस्तिमेदूसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥६॥

(अधोगामी धमनियों का वर्णन—) अधोगामी धम-नियाँ तो वात, मूत्र, मल, शुक्र तथा आर्तव इनको अधो-भाग में वहन करती हैं । ये पित्ताशय के पास पहुँचने पर पाचकाग्नि से अच्छी तरह पाचित हुए, अन्न-पान के रस को ग्रहण करके अभिवहन करती हुई, शरीर का तर्पण करती हैं, ऊर्ध्वगामी और तिर्यग्गामी धमनियों को (रस) पहुँचाती हैं, रसस्थानों को रस से पूर्ण करती हैं, मूत्र पुरीष और स्वेद को (अन्नरस से) पृथक् करती हैं और आमाशय तथा पक्वाशय के मध्य में तीन भागों में विभक्त होती हैं । (इस प्रकार विभाग होने से) ये तीस धमनियाँ बनती हैं । इनमें से वात, पित्त, कफ, रक्त और रस को दो दो वहन करती हुई दस होती हैं; आन्त्र में आश्रय करके दो अन्न वहन करती हैं, दो जल वहन करती हैं, मूत्रवस्ति की ओर जाने वाली दो मूत्रवह धमनियाँ हैं; शुक्रोत्पत्ति के लिए दो शुक्रवह धमनियाँ हैं; दो शुक्रविसर्जन के लिए हैं; वही (शुक्रवह धमनियाँ) स्त्रियों में आर्तववहन का काम करती हैं, स्थूलान्न के साथ संबंधित हुई दो मलनिरसनी हैं, शेष आठ धमनियाँ तिर्यग्गामी धमनियों को स्वेद (के लिए रक्त) अर्पण करती हैं; इस तरह ये तीस धमनियाँ विभागों के साथ वर्णित हुई हैं । इन धमनियों से नाभि से नीचे पक्वाशय, कटी, मूत्र, पुरीष, गुद, वस्ति, मेदू और सक्थि इनका धारण और यापन होता है ॥६॥

वक्तव्य—अधोगामी धमनियों का संबंध औदरिक विभाग और अधोगत शाखाओं से होता है । वातमूत्रपुरीष-शुक्रार्तवादीन्यधो वहन्ति—वातमूत्रादि पदार्थ उदरविभाग में उत्पन्न होते हैं और इनकी गति की दिशा नीचे की ओर

होती है । ये पदार्थ धमनियों से रक्त की रसीद पहुँचने पर तत्तज्जनक अंगों से उत्पन्न होकर नीचे की ओर चल देते हैं, इसलिए धमनियाँ इनको नीचे ले जाती हैं, ऐसा शब्द प्रयोग किया गया है । पित्ताशयमभिप्रपन्ना—आमाशय और क्षुद्रान्त्र में पहुँचने के बाद । पित्तधरा कला का यही स्थान है । इसी स्थान पर सेवन किये हुए अन्न का पाचन और शोषण होकर अन्नरस बनता है और शरीर का पोषण उससे होता है । पाचन और शोषण का कार्य करने में आन्त्र तब समर्थ होता है, जब उसको धमनियों से रक्त की रसीद मिलती है । इसलिए धमनियाँ अन्नपात्र रस की विवेचक और अभिवाहक बतलाई गई हैं । अपर्यन्ति च ऊर्ध्वगानां तिर्यग्गानाम्—अधोगामी धमनियों से अन्नपात्र का पचन होने में सहायता मिलकर रस बनता है, जो सिराओं और रसायनी द्वारा हृदय में जाकर ऊर्ध्वगामी तथा तिर्यग्गामी धमनियों का तर्पण करता है । अर्थात् ऊर्ध्वगामी धमनियों का तर्पण अप्रत्यक्षतया अधोगामी धमनियाँ ही करती हैं । रसस्थानम्—हृदयम्—यत्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते । तस्य च हृदयं स्थानम् । (सूत्र १४) । किंवा रसप्रपा (Cysternachyli) और रसकूल्या (Thoracieduct) । अन्न का पाचन होने के पश्चात् सार्वभूत भाग शोषण होकर वह भाग याने अन्नरस प्रथम रसप्रपा और रसकूल्या में आता है और उनमें से होकर हृदय में चला जाता है । मूत्रपुरीष-स्वेदांश्च विवेचयति—मूत्र, पुरीष और स्वेद ये तीन अन्न के मूल होते हैं जो आन्त्र, बस्ति (वृक्) और त्वचा द्वारा पृथक् किये जाते हैं । इनमें से मूत्र और मल को पृथक् करने का काम उदरविभाग में ही होता है, जिसका उल्लेख 'वर्चोनिरसन्त्यौ' और 'मूत्रवहे' करके किया गया है । स्वेद का काम तिर्यक् धमनियों का है परंतु तिर्यग्गामी धमनियों को रस की रसीद ये धमनियाँ पहुँचाती हैं, इसलिए स्वेद का जिक् यहाँ पर किया गया है । आमपकाशयान्तरे—आमाशय और क्षुद्रान्त्र के बीच में या आमाशय और क्षुद्रान्त्र का जो अवकाश है, उस अवकाश में कहीं पर । अन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते—आमाशय और क्षुद्रान्त्र को जाने वाली धमनियाँ जिनके द्वारा रक्त की रसीद पहुँचने पर आमाशय और क्षुद्रान्त्र अपनी विशेष गति के द्वारा अन्न को नीचे की ओर ले जाने में समर्थ होता है—Superior mesenteric and coeliac arteries (Vagi and sympathetic) । मूत्रवहे दे—जिनके द्वारा रक्त पहुँचने से मूत्रोत्पत्ति होती है । आयुर्वेद में मूत्र का प्रधान स्थान बस्ति माना गया है । यदि शब्दप्राधान्य माना जाय तो मूत्रवहे धमनियों से Vesical arteries समझ सकते हैं । यदि अर्थ की दृष्टि से आधुनिक कल्पना के अनुसार देखें तो Renal arteries वृक्कों की धमनियाँ समझना उचित है (Nerves from the renal plexus spermatic, ovarian, inferior mesenteric plexus and hypogastric plexus.) । कविराज गणनाथसेन इससे गवीनी (Ureters) समझते हैं—'मूत्रवस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे दे' इति स्पष्टं गवीन्योरेव निर्देशः । (प्रत्यक्ष शारीर, प्रस्तावना) । शुक्रवहे दे—शुक्रोत्पादक अंगों याने

वृषणग्रंथियों को रक्त की रसीद पहुँचाने वाली धमनियाँ Testicular and spermatic arteries (Spermatic plexus) । इनके द्वारा रक्त पहुँचने पर वृषणग्रंथियों शुक्रोत्पादन में समर्थ होती हैं । इसलिए लिखा है—शुक्र-प्रादुर्भावाय । दे शुक्रविसर्गाय—वृषणग्रंथि में उत्पन्न हुआ शुक्र मैथुन के अन्त में अधिवृषणिका, शुक्रवाहिनी, शुक्राशय और अष्टौला ग्रंथि, इनके संकोच से मूत्रमार्ग द्वारा बाहर फेंका जाता है अर्थात् शुक्रविसर्गकर धमनियों से इन अंगों की धमनियों का बोध होता है—Arteries supplying epididymus, ducta deferentia, seminal vesicle and prostate । नारीणामार्तवसंज्ञे दे आर्तववहे—आर्तव की उत्पत्ति की कारवाह बीजकोश और गर्भाशय में होती है । इसलिए आर्तववह धमनियों से गर्भाशय और बीजकोश की धमनियों को ग्रहण करना चाहिए—Uterine and ovarian arteries (Hypogastric and ovarian plexus) । वर्चोनिरसन्त्यौ स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे—स्थूलान्त्र का काम मल को नीचे की ओर ले जाकर बाहर फेंकने का है । इसलिए स्थूलान्त्र के इस काम में सहायता करने वाली धमनियाँ 'वर्चोनिरसन्त्यौ' कहलाती हैं—Inferior mesenteric artery, middle colic and right colic arteries (Pelvic visceral nerves) । एताभिरधोनामेः पकाशयकटीमूत्रपुरीष-गुदवस्तिमेदसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च—ये तीस धमनियाँ अपनी शाखा-प्रशाखाओं द्वारा नाभि के नीचे के पकाशयादि उक्त तथा अनुक्त अंगों को रक्त की रसीद पहुँचाकर उनका धारण और पोषण करती हैं । अधोगामी धमनियों से आधुनिक प्रत्यक्ष शारीर की दृष्टि से औदरिक महाधमनी और उसकी शाखा-प्रशाखाओं (Abdominal aorta and its branches) का बोध होता है । सक्थि में कोई विशेष कार्य न होने के कारण उपर्युक्त विवरण में उसका उल्लेख नहीं किया गया है, अन्त में उनका सिर्फ नाम दिया है । स्वेदमपर्यन्ति—स्वेदापनयनार्थं रक्तं (रसं वा) अपर्यन्ति ।

भवति चात्र—

अधोगमास्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः ।
तिर्यग्गाः संप्रवक्ष्यामि कर्म चासां यथायथम् ॥७॥

अधोगामी धमनियाँ ये (उपर्युक्त) सब कर्म करती हैं । (अब) तिर्यग्गामी धमनियों तथा उनके कर्मों को यथातथ्य से वर्णन करूँगा ॥७॥

तिर्यग्गानां तु चतसृणां धमनीनामेकैका सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते, तास्त ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विबद्धम् मुखानि रोमकूपप्रतिबद्धानि, ते रसं चाभितर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च पेकावगाहालेपनवीर्याण्य त्वचि विपकानि, तैरेव

गृह्णाति; तास्वेताश्चतस्रो धमन्यः सर्वाङ्गताः
सविभागा व्याख्याताः ॥८॥

(अधोगामी धमनियों का वर्णन—) तिर्यग्गामी चारों धमनियों में से प्रत्येक उत्तरोत्तर सैकड़ों और हजारों शाखाओं में विभक्त होती हैं, (इस प्रकार शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हुई) ये धमनियाँ अपरिसंख्येय हो जाती हैं, जिनके द्वारा यह शरीर झरोखेदार (जालीदार) बँधा हुआ और व्याप्त होता है। इनके मुख (अन्तिम सिरे) लोमकूपों से संबंधित हैं जिसके द्वारा ये स्वेद का अभिवहन करती हैं तथा भीतर और बाहर अन्नरस (को पहुँचाकर उस)के द्वारा संतर्पण करती हैं। इन्हीं के द्वारा ही त्वचा में प्रयुक्त हुए अभ्यङ्ग, परिषेक, अवगाहन तथा आलेपन (के द्रव्यों) के वीर्य शरीर के भीतर प्रवेश करते हैं, इन्हीं के द्वारा सुखकर या असुखकर (दुःखकर) स्पर्श का ग्रहण (जीवात्मा) करता है। संपूर्ण शरीर में फैली हुई ये चार धमनियाँ विभागों के साथ वर्णन की गई हैं ॥८॥

वक्तव्य—तिर्यग्गामी धमनियाँ—ऊर्ध्वगामी धमनियाँ सिर, ग्रीवा, छाती और ऊर्ध्वशाखा के भीतरी कार्यों से संबंध रखती हैं; अधोगामी धमनियाँ उदरगुहागत अंगों से तथा टाँगों से संबंध रखती हैं और तिर्यग्गामी धमनियाँ शरीर के बाह्यभाग से याने त्वचा से संबंध रखती हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार तिर्यग्गामी धमनियों को Cutaneous or peripheral vessels कह सकते हैं। रोमकूप—इससे स्वेदग्रंथियों का ग्रहण करना चाहिए। आयुर्वेद में स्वेद का संबंध हमेशा रोमकूपों के साथ लगाया जाता है—स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता। (सूत्र १५)। स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः। (अष्टांगहृदय)। रोमकूप और स्वेदग्रंथियाँ स्वतन्त्र होती हैं और जहाँ पर रोमकूप बिलकुल नहीं होते—जैसे, हस्तपादतल—वहाँ पर स्वेदग्रंथियाँ बहुत अधिक होती हैं। त्वचि विपकानि—त्वचा में विपक हुई याने प्रयुक्त हुई। त्वचा में अभ्यंग (Massage) के लिए विविध तेल, परिषेक (Spray) के लिए विविध ओषधियों के काढ़े, अवगाह (Bath) के लिए विविध ओषधिजल, आलेप और प्रलेप (Ointments, paints, pigments) के लिए विविध ओषधियों के रस और कल्क प्रयुक्त होते हैं। ये सब ओषधियाँ त्वचा के कूपों (Pores) से शोषित होती हैं, यह बात आधुनिक विज्ञान से सिद्ध हुई है। विपन्ना (Vienna) के प्रा० स्टेज्केल (Stejskal) ने यह बात अपने अनुभव पर निश्चित की है और बताया है कि जिस समय रोगी मुख द्वारा अन्न सेवन करने में असमर्थ होता है, उस समय त्वचा के ऊपर विशेष प्रकार के अन्न का प्रलेप करने से उसका शोषण होकर रोगी का पोषण कुछ काल तक हो सकता है। आपने इसके लिए एक विशेष कल्क (Paste) भी बनाया है, जिसका उपयोग त्वचा द्वारा रोगी के पोषण के काम में होता है। यैः स्वेदमभिवहन्ति तैरेव—‘यैः’ का संबंध धमनियों के मुख के साथ याने पर्याय

से रोमकूपों के साथ होता है। स्पर्श सुखमसुखं वा—‘सुखम्’ और ‘असुखम्’ स्पर्श के विशेषण हैं। आधुनिक पाश्चात्य शारीर-कार्य विज्ञान से स्पर्श में यद्यपि नाडियों का ही मुख्य काम होता है तथापि स्पर्शज्ञान में रक्त का भी घनिष्ठ संबंध होता है। इस विषय की जानकारी हो चुकी है—Loss of blood supply, produced experimentally by compressing an artery digitally or with a pneumatic cuff, and in disease by embolism, thrombosis, arterial spasm, etc., also causes an orderly succession of sensory disturbances resembling those of mechanical compression (of the nerve trunk). *Physiology in Health and Disease by Wiggers*. स्पर्श में गुदगुदी, कण्ठु, झुनझुनी, सुन्नता, जलन इत्यादि कई प्रकार की वेदनाओं का समावेश होता है।

भवतश्चात्र—

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु विसेषु च।
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते ॥९॥

(धमनीगत छिद्रों का प्रमाण—) जैसे कमलनालों में तथा (उनके) तन्तुओं में स्वभाव से ही छिद्र (नालियाँ) होते हैं, वैसे ही धमनियों के छिद्र होते हैं, जिनके द्वारा रस का उपचय होता है ॥९॥

वक्तव्य—इस श्लोक में स्पष्ट रूप से बतलाया है कि धमनियाँ मृणाल या बिस के समान छोटी मोटी आकार की अन्तःसुषिर होती हैं और उनमें से रस का संवहन होता है। अर्थात् धमनी शरीरगत एक रस या रक्तवह नाली है, इसमें कोई संदेह नहीं है। वेद, उपनिषद्, स्मृति, महाभारत इत्यादि प्राचीन ग्रंथों में इसी अर्थ में धमनी का प्रयोग किया गया है—शतस्र धमनीनां सहस्रस्र हिराणाम्। अश्वुरिन् मध्यमा इमाः साकमन्तो अरिसत ॥ तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्य मे। कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद् धमनीर्मही।

अथर्ववेद १-१७-२, ३)। अस्थिभ्यस्ते मज्जन्त्यः स्त्रावभ्यो धमनीभ्यः। यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि ब्रूहामि ते। (अथर्ववेद २-३३-६)। तद्यद्रजतं सेयं पृथिवी यत्सुवर्णं सा वीर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बं स मेघो नीहारो या धमनयस्ता नवो यद्रा स्तेयमुदं स समुद्रः। छान्दोग्योपनिषद् ३-१९-२)। एकोनविंशलक्षणि तथा नव शतानि च। षट्पञ्चाशच्च जानीत सिराधमनिसंज्ञिताः। (३-१०१)। आक्रम्य मानुषं कण्ठमाच्छिद्य धमनीमपि। ऊष्मं नवं प्रपास्यामि फेनिलं रुधिरं बहु ॥ (महा-भारत, आदिपर्व १५२)। हाराणचन्द्र भी धमनी का अर्थ रक्तवाहिनी करते हैं। उनके मतानुसार स्नायु नर्व (Nerve) का कार्य करते हैं। स्मृतसंशोधन की सहायता से अंग-विनिश्चय करते समय नर्व स्नायुरज्जु या वृत्तस्नायु के साथ भूल जा सकती है; धमनी को नर्व समझने की भूल कदापि भी नहीं हो सकती क्योंकि दोनों में कुछ भी समता नहीं है। स्नायुरज्जु और नर्व दोनों ही शुभ्र, सूत्रमय ठोस होते हैं। इसलिए स्नायु को नर्व मानने की भूल क्षम्य है। शरीरविच्छेदन के समय इस प्रकार की

भूल कई बार हुआ करती है। नर्व के कार्य का ज्ञान मृत शरीर में कदापि नहीं हो सकता। हाराणचन्द्र लिखते हैं—तत्रादुरपरे यथा श्रोत्रादिगतासु तासु तासु स्नायुषु उष्मासु छिन्नासु वा संतोऽपि शब्दादयो नैव श्रोत्रादिविषयीभवन्ति, अपि चापरे केचिद्भावा विनश्यन्त्येकान्तेन न तथा धमनीषु तथाविधासु किमपीति ज्ञायव एव शब्दादीनभिवहन्ति न पुनर्धमन्य इति तत्तु न सम्यक्, धमन्यस्तावदाहारससमर्पणेन स्नायुर्विभ्रति विभ्रत्यस्तु ताक्षेद्विषयन्ते तर्ह्यणुना कालेन तदाश्रितत्वात् स्नायूनामपि समूलघातमुपहतत्वेनोपलम्भात् । न चैतदश्रदेयं राजा करोतीति मृत्यैः कृतेषु कर्मसु भर्तृकर्तृकत्वप्रसिद्धिदर्शनात् ॥ यदि कार्य के अनुसार अर्थ किया जाय तो जैसे घर की सेठानी को कपड़े धोते समय धोबिन, घर का काम करते समय नौकरानी, बच्चे का मल-मूत्र उठाते समय मिहतरानी कहने का अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होता है, वैसे ही धमनी को नर्व, सिरा, स्नायु कहने का प्रसंग उत्पन्न होता है। परंतु जैसे उपर्युक्त सब काम करने पर भी सेठानी सेठानी ही होती है, नौकरानी नहीं हो सकती; वैसे ही धमनी सब कुछ करने पर भी अंगविनिश्चय की दृष्टि से धमनी (Artery) ही रह जाती है। धमनी की व्युत्पत्ति रसयोग सागर के उपोद्घात (पृष्ठ १२६) में पं० हरिप्रपन्नजी देते हैं—धम्यते उच्छ्वसितिक्रियते पूर्व्ये पोष्यते वा शरीरं यामिस्ता धमन्य इति व्युत्पत्त्या साधारणतया यत्किञ्चिद्दहमार्गाद्युपस्थितावपि धमनी-शब्दस्य योगरूढत्वेन न सिरादिष्वतिव्याप्तिः । 'अतिसृग्धमन्यदय-वितृभ्योऽनिः' (उ० २।१०२) इत्यनिप्रत्यये 'षिद्वौरादिभ्यश्च' (पा० ४।१।४१) इति ङीष् धमनीति संप्रभवे । धमनीनां शरीर-रसधमनैककार्यत्वात् शुद्धरक्तवाहिन्य उच्यन्ते ।

पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः

पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति ।

पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा

पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले ॥१०॥

(धमनियों का माहात्म्य—) पञ्च इन्द्रियों में प्रसृत हुई धमनियाँ आत्मा को पञ्च इन्द्रियार्थों में पञ्चकृत्वा संयोजित किया करती हैं, (और इस तरह विनाश काल तक) आत्मा को पञ्च इन्द्रियार्थों के साथ मिलाकर शरीर विनाश के समय (स्वयं) पञ्चत्व को प्राप्त होती हैं ॥१०॥

वक्तव्य—पञ्चाभिभूताः—पञ्चेन्द्रियाण्याभिमुख्येन प्राप्ताः पञ्चेन्द्रियप्रसृता धमन्यः । पञ्चकृत्वा—आत्मा को ज्ञानप्राप्ति का साधन इन्द्रियाँ होती हैं। यद्यपि इन्द्रियाँ पाँच हैं तथापि मन एक होता है और जब तक मन इन्द्रियों के साथ नहीं मिलता, तब तक आत्मा से अर्थ ग्रहण नहीं होता है—आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन । (चक्रपाणिदत्त; चरक 'सूत्र' ८) । मन एक होने के कारण पाँच इन्द्रियों के अर्थों का ग्रहण करने के लिए आत्मा मन का पाँचों के साथ पाँच बार संयोग होने की आवश्यकता होगी । एक बार सब का संयोग और ग्रहण नहीं होगा । इसलिए पञ्चकृत्वा लिखा है । पञ्चेन्द्रियम्—पञ्चेन्द्रिययुक्त कर्म पुरुष या आत्मा ।

आत्मा को ज्ञान पञ्चेन्द्रियों द्वारा ही होता है—आत्मा जः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते । (चरक, शरीर) ।

इस श्लोक में धमनियों के संबंध में दो महत्त्व की बातें बताई गई हैं । प्रथम बात तो यह है कि आत्मा का ज्ञान का साधन जो इन्द्रियाँ, उनका आत्मा के साथ संबंध जोड़ने का काम धमनियाँ ही करती हैं । आत्मा हृदय में रहता है (४ अध्याय में ३४वें श्लोक का वक्तव्य देखो) । मन का स्थान हृदय ही है । वह मन हृदय से निकलने वाली धमनियों में से होकर इन्द्रियों में प्राप्त होता है और आत्मा को ज्ञानप्राप्ति हो जाती है । इसलिए यह धमनियाँ मनोवह भी कहलाती हैं—मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथक् नोक्तानि तथापि मनसः 'केवलमेवेदं शरीरमयनभूतम्' इत्यभिधानात् सर्व-शरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वान्मनसस्तदाश्रिता दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते । (चक्रपाणिदत्त, इन्द्रिय स्थान ५) । दूसरी बात यह है कि शरीर विनाशकाल की सूचना धमनियों द्वारा ही मिलती है । धमनियों का एक मुख्य गुण धमन या स्पन्दन है । यावज्जीव धमनियों का स्पन्दन जारी रहता है और इनका स्पन्दन बंद होने पर शरीरविनाश की सूचना मिलती है—सततं स्पन्दमानानां शरीरदेशानामस्पन्दनम् । तस्य चेन्मन्ये परिसृज्यमाने न स्पन्देयातां परासुरिति विधात् । (चरक, इन्द्रिय ३) । चतुर्थ अध्याय के ३०वें सूत्र के वक्तव्य में 'तदिशेषेण चेतनास्थानम्' इसकी टिप्पणी देखो ।

इस श्लोक के अर्थ के संबंध में बहुत मतभिन्नता दिखाई देती है । संदर्भ और क्रम के अनुसार जो अर्थ उचित मालूम हुआ, वह ऊपर दिया गया है । प्राचीन मत-मतान्तर डलहण की टीका में दिये हुए हैं । अतः वह टीका नीचे उद्धृत की जाती है—पञ्चाभिभूताः पञ्चभ्यो भूतेभ्योऽपि समन्ताद्भूताः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैर्वा पञ्चभिरभिभूता व्याप्ताः, आकाशपवनदहनतोयभूमिभिर्वा पञ्चभिरभिभूता व्याप्ता धमन्यः; कं ? पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषः; केसु ? पञ्चसु श्रोत्रादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु, कथं ? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान्, भावयन्ति योजयन्ति, आयायन्ति, आगच्छन्ति; काः धमन्यः, किं ? पञ्चत्वम्, किं कृत्वा ? भावयित्वा संयोज्य, किं तत् ? पञ्चेन्द्रियमिन्द्रियपञ्चकं सूक्ष्मरूपं, केसु ? पंचस्वाकाशादिषु महाभूतेषु; एतेनैतदुक्तं भवति—आकाशादिपंचभूतसमुदायसमुपपन्ना धमन्यः कर्मपुरुषमिन्द्रियाधिष्ठानेषु पञ्चवारान् भावयन्ति ततश्चेन्द्रियपञ्चकमाकाशादिषु भूतेषु संयोज्य विनाशकाले धमन्यो विनाशं यान्ति । अन्ये तु—'पञ्चादिभूतान्यथ पञ्चकृत्वा' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—आदिभूतान्याकाशादीनि पञ्चमहाभूतानि, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु योजयन्ति, ततश्च पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु भावयित्वा संयोज्य तानि पञ्च आदिभूतानि विनाशकाले पञ्चत्वमायान्ति । अपरे तु—'पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चधा वा' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—भावयन्ति योजयन्ति, काः ? पञ्चाभिभूता धमन्यः आयायन्ति किं ? पञ्चत्वं विनाशं, कं ? विनाशकाले, किं कृत्वा ? भावयित्वा संयोज्य, किं तत् ? पञ्चेन्द्रियं बुद्धीन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं च, केसु ? शब्दादिषु वचनादिषु च स्वकीयेष्वर्थेषु । अथवा पञ्चानामाकाशपवनदहन-

तोयभूमीनां पृथगाभिमुख्येन भूताः सत्तारूपेण व्यवस्थिता धमन्यः, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्, यथास्वं पञ्चसु चक्षुरादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु भावयन्ति योजयन्ति ॥ गयी त्वन्याऽऽपातनिकां विधाय व्याख्याति । यथा—अत्र रूपादिग्राहिणीनां धमनीनां पञ्चत्वात् पञ्चभिर्धमनीभिः पञ्चानामपि रूपादीनां युगपद्ग्रहणेन भवितव्यमित्याशङ्क्याह—पञ्चाभिभूता इत्यादि । अस्यायमर्थः—पञ्चसु रूपादिषु, पञ्चेन्द्रियं चक्षुरादिकं पञ्च धमन्यो भावयन्ति वेदयन्ति । स्वयं तावत् पञ्चेन्द्रियाणि रूपादिकं विन्दन्ति, ताश्च पञ्च धमन्यस्तेषु वेदयन्ति । कथं ? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान् । न च एकवारमेव पञ्चापि धमन्यः पञ्चापीन्द्रियाणि पञ्चस्वपि रूपादिषु वेदयन्ति । तत् कुतः पुनरिति हेतुर्गमविशेषणमाह—अभिभूता अभिमुखं प्राप्ताः । केन ? 'मनसा' इति शेषः । कस्मात् ? कर्तुमनःपुरःसरैर्विन्द्रियार्थग्रहणात् । मन्ता हि शरीरे एक एव, मनोऽप्येकमेव, तेन मनसा यैव धमनीशब्दादिवहामु धमनीष्वभिप्रपन्ना सैव धमनी स्वधर्मं ग्राहयति मन्तारं नान्येति; यतो मनःपुरःसरैर्विन्द्रियप्रवृत्तिः । इदानीं स्वस्थस्यैव रूपादिग्राहित्वमांसां न पुनरतिदोषाभिपन्नस्य मरणेऽपीत्याह—पञ्चत्वमित्यादि । विशिष्टनाशकाले पञ्चत्वं यान्ति; धमन्यः पाञ्चभौतिका विनाशकाले पृथक् पृथग्भूतभावेनावस्थानात् पञ्चतां गता उच्यन्ते । पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वेति पुनरप्यनुवादस्तेषां नियतस्वविषयग्राहित्वदर्शनार्थः । ग्रन्थान्तरे—रसवहनं कुर्वन्ति धमन्यः सततं तथा । शब्दादिग्रहणोच्छ्वासनिःश्वासवचनानि च ॥ भावयन्ति पृथक् पश्चात् प्रत्ययाः खलु पञ्चसु । तत्संख्याकरणं यान्ति नाशकाले तु पञ्चताम् ॥ शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् । पञ्चतत्त्वावशेषत्वात्पञ्चतां गतमुच्यते ॥ इति ॥

इस श्लोक के उत्तरार्ध के संबंध में हाराणचन्द्र लिखते हैं—अथ यदि इन्द्रियाभिमुखमेव प्रस्तास्ता धमन्यः किं तर्हि विनाशकाले 'पुरुषस्य प्रयतो बाह्वमनसि, मनः प्राणे इत्यादिनाश्रुतं पुनरिन्द्रियाणां प्रतिलोमगमनाभिनिर्वृत्त्यै प्राणोपसंहारं प्रति मार्गान्तरमभ्युपगच्छसि नेत्याह पञ्चेति । विनाशकाले पञ्चसु प्राणादिपञ्चके पञ्चेन्द्रियमिति 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायादुपदिश्यते बाह्यकरणनिचयमित्यर्थः । यदाह भगवान् भाष्यकारः 'प्राणश्च तदोर्ध्वेच्छासी स्वाहमभ्युपसंहृतबाह्यकरणः' इत्यादि । नेह प्राण इत्येकवचनं त्रिप्रतिषिद्धं भवति 'अतएव प्राणः' इति शारीरिकसूत्रभाष्ये प्राणस्य पञ्चवृत्तौ वातविकारे प्रसिद्धतरत्वेनाभ्युपगमात् । भावयित्वा प्रापयित्वा उपसंहृत्येति यावत् । इदमत्राकृतम्—विनाशकाले ऊर्ध्वेच्छासिप्राणाकर्षणविह्वलास्ता एव धमन्यः प्रतिलोमवृत्त्या सर्वप्राणैर्नेन्द्रियजातमाकर्षन्तं पञ्चतयं प्राणं प्रापयित्वेव निष्क्रियत्वेन पञ्चभूतावशेषत्वं प्राप्नुवन्ति । एवं च धमनीनामेव तादृशप्राणोपसंहारासाधनक्षमत्वेन तावत्कालमवस्थाननियमाच्च मार्गान्तरमपेक्षितव्यमित्यध्यवसेयम् ॥

इस अध्याय में धमनियों की संख्या का तथा उनकी शाखा-प्रशाखाओं का जो वर्णन तथा विवरण किया गया है, वह आधुनिक पद्धति के अनुसार शवविच्छेदनपूर्वक ज्ञान के आधार पर अधिष्ठित नहीं है, परन्तु यह वर्णन रक्त ही के द्वारा शरीर के सम्पूर्ण कार्य होते हैं । इस तत्त्व के अनुसार सजीव शरीर में जो विविध कार्य प्रत्यक्ष होते हैं, उनका समाधान करने की दृष्टि से अनुमान या कल्पना के आधार पर अधिष्ठित है । यह जरूर ध्यान में रखना आवश्यक है ।

इसलिए प्रत्येक प्राचीन धमनी के लिए आधुनिक प्रतिनिधि मिलना मुश्किल है, तथा जो आधुनिक प्रतिनिधि बतलाये गये हैं वे सोलहों आने प्राचीन धमनियों के साथ नहीं मिल सकते हैं । यह कथन प्राचीन अर्वाचीन सर्व तुलनाओं के लिए लागू होता है और इसी दृष्टि से इन तुलनात्मक बातों का विचार करना चाहिए ।

अत ऊर्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः । तानि तु प्राणान्नोदकरसररूमांसमेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्तववहानि, येष्वधिकारः, एकेषां बहूनि; एतेषां विशेषा बहवः ॥११॥

(स्रोतस, उनके नाम और संख्या—) अब इसके पश्चात् स्रोतसों के मूलवेध के लक्षण बतलायेंगे । जिनके ऊपर (शल्यशास्त्र का) अधिकार है वे प्राणवह, अन्नवह, उदकवह, रसवह, रक्तवह, मांसवह, मेदोवह, मूत्रवह, पुरीषवह, शुक्रवह और आर्तववह हैं । कई आचार्यों के अनुसार स्रोतस बहुत होते हैं; (परन्तु धन्वन्तरि कहते हैं कि स्रोतस इतने ही होते हैं) उनके विशेष (मेद) बहुत हैं ॥११॥

वक्तव्य—मूलविद्धलक्षणम्—स्रोतसों के प्रभव स्थान में वेध होने से उत्पन्न होने वाले लक्षण । प्राणोदकात्र इत्यादि—यहाँ पर ग्यारह भाव दिये हैं, जिनके बाह्य स्रोत होते हैं । प्रत्येक भाव के दो स्रोतस हैं, इस प्रकार बाईस स्रोतस हो जाते हैं । चरकसंहिता में कुल तेरह भावों के स्रोतस बताये गये हैं जिनमें अस्थिवह, मज्जवह और स्वेदवह स्रोतस अधिक हैं और आर्तववह स्रोतस नहीं दिये हैं, तथा प्रत्येक प्रकार के स्रोतस की संख्या सुश्रुत के समान दो न होकर बहुत होती है । एकेषां बहूनि—अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति सर्वगतत्वात्, सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपणप्रशमनानाम् । न त्वेदेतदेवम्, यस्य हि स्रोतांसि यच्च वहन्ति यच्चावहन्ति, यत्र चावस्थितानि, सर्वं तदन्यत्तेभ्यः । अतिबहुत्वात् खलु केचिदपरिसंख्येयान्याचक्षते स्रोतांसि, परिसंख्येयानि पुनरन्ये । (चरक, स्रोतोविमान) । स्रोतसों की संख्या के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि प्रत्येक प्रकार के स्रोतस एक माने जायें तो उनकी संख्या परिसंख्येय हो जाती है और यदि प्रत्येक स्रोतस को पृथक् पृथक् गिना जाय, याने प्रत्येक प्रकार के स्रोतसों की शाखा-प्रशाखाएँ पृथक् गिनी जायें तो स्रोतस अपरिसंख्येय हो जाते हैं । असंख्येय मानने का कारण शाखा-प्रशाखाएँ हैं, यह नीचे के मधुकोश के उद्धरण से स्पष्ट होगा—ननु अपां बाहिष्विति बहुवचनं विरुद्धं, 'दे उदकवहे' इति सुश्रुतेनोक्तत्वात् । नैवम्, तयोरेवानेकप्रतानयोगादिति । (तृष्णानिदान) । अब स्रोतसों के प्रकार किस आधार पर बनाये जाते हैं, इसके संबंध में चरक में लिखा है—यावन्तः पुरुषे मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसां प्रकारविशेषाः । (स्रोतोविमान) । शरीर में प्राण, अन्न, जल, सात धातु, तीन मल, तीन दोष और ब्रिंयों में शुक्र का प्रतिनिधि आर्तव इतने सत्रह ही मूर्तिमन्त भाव होते हैं । इनमें से त्रिदोष सर्वशरीरव्यापी होने से इनके लिए स्वतन्त्र स्रोतस नहीं होते । इसलिए

शरीर में स्रोतसों की संख्या प्रकारों के अनुसार केवल चौदह होती है। चरक में चौदह प्रकार के स्रोतस वर्णन किये हैं। सुश्रुत में अस्थिवह, मज्जवह, और स्वेदवह स्रोतसों का वर्णन नहीं किया गया है। इसके संबंध में डल्हणाचार्य लिखते हैं—अस्थिमज्जस्वेदवाहिषु स्रोतःसु सत्व-प्यनधिकारः, कथम् ? तत्रास्थिवहानां सकलानामेव मेदो मूलं मज्जवहानां च तेषां सकलान्येव अस्थिनि सकलशरीरगतानि, न च सकलशरीरगतविद्वलक्षणं साध्यादिज्ञाननिश्चायकम्, एवं स्वेदवहानामपि केवलं मेदो मूलमिति पूर्वैरेव समानम्, अतः शल्यतन्त्रे तेषां मूलविद्वलक्षणानधिकारः। अमुमेवार्थं चेतसि कृत्वाऽऽह, येष्वाधिकार इति। 'शल्यतन्त्रे' इति शेषः, कायचिकित्सायां तु स्रोतोदुष्टिलक्षणं वाच्यं तेन सकलाङ्गगतानामपि स्रोतसां काय-चिकित्सायामधिकारः। शल्यतन्त्राधिकारिषु नियतदेशस्थितेषु विद्वेषु वेदनाविशेषस्यातिसूक्ष्मत्वात् साध्यादिज्ञाननिश्चायकत्वमिति तेषामनधिकारः ॥ सुश्रुत में प्रत्येक प्रकार के स्रोतस दो बतलाये गये हैं। चरक में ऐसा नहीं है। स्रोतस क्या है ?—(१) स्रोतसों के संबंध में चरक में लिखा है—सर्वे हि भावा पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्त्वभिनिर्वर्तन्ते क्षयं वाप्यभिगच्छन्ति। स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन ॥ इस पर डल्हणाचार्य लिखते हैं—अभिनिर्वर्तन्त इति सन्तानन्यायेन। परिणाममापद्यमानानामिति पूर्वपूर्वसदिरूपतापरित्यागेनोत्तरोत्तररक्तादिरूप-तामापद्यमानानाम्। अयनार्थेनेति वचनात् स्थिराणां धातूनामभि-वाहीनि भवन्ति स्रोतांसि, किन्तु देशान्तरप्रापणेनाभिवाहीनि भवन्ति। एवं मन्यते—रक्तस्य वृद्धिः शोणितरूपतया परिणमता रसेन मिलितेन कर्तव्या स च स्थानान्तरस्थस्य रसस्य रुधिरणे समं मेलको न गमनमार्गं स्रोतःसंश्रमन्तरा भवति। अयं तावदभि-संधिः—स्रोतःकारणिको हि धातूनां प्रायो रक्तादीनामुत्तरधातुपोषक-भागपरिणामो भवति, तत्राप्युत्तरधातुपोषणं नान्तरेण स्रोतो भवति, यश्च रक्ते न्यायः स सर्वत्र शरीरे भावे, न चान्यस्रोतसाऽन्यधातुपुष्टिः संभवति, सर्वपोष्याणां भिन्नदेशत्वात्। न ह्यभिन्नेन स्रोतसा भिन्नदेशवृक्षयोः सेचनमस्ति ॥ इसका अभिप्राय यह है कि स्रोतस धातुओं के रूपान्तर में याने शरीरगत विविध भावों की उत्पत्ति में तथा उनके वहन में भाग लेते हैं। स्रोतसों का यह प्रथम और मुख्य लक्षण है। (२) स्रोतसों के वर्ण जिन धातुओं में होते हैं या जिनका वहन करते हैं उनके अनुसार होता है, वे गोल चपटे और सूक्ष्म होते हैं तथा पत्ते के प्रतान के समान वे फैले रहते हैं—स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थलान्यन्यनि च। स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च ॥ (चरक)। (३) स्रोतस नाली के समान या अवकाशयुक्त शरीरगत अदृश्य है—स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यो रस-वाहिन्यो नाड्यः पंथानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति। (चरक)। (४) स्रोतसों से रस का स्रवण भी होता है—स्रवणात्स्रोतांसि। (चरक)। स्रवणादिति रसा-देरेव पोष्यस्य स्रवणात्। (चक्रपाणिदत्त)। ये चार लक्षण प्रत्येक स्रोत के लिए आवश्यक नहीं हैं, किसी में एक किसी में दो लक्षण मिलते हैं, किसी में चारों मिलते हैं। इसलिए

स्रोतस से साधारणतया Ducts, tubular structures का बोध होता है। इसके सिवा स्रोतस से Blood vessels and capillaries का भी साधारण बोध होता है। क्योंकि धातु या मल की उत्पत्ति रसरक्त से ही होती है, जब रक्त विशिष्ट धातु में या विशिष्ट मलोत्पादक अंग में पहुँचता है। इस तरह संदर्भ के अनुसार यहाँ पर स्रोतस का अर्थ कर लेना चाहिए। इन अर्थों के सिवा आयुर्वेद में ऊपर तीसरे नंबर में बताये हुए सब पर्यायों के लिए भी स्रोत शब्द प्रयुक्त होता है।

तत्र प्राणवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्वस्य क्रोशनविनमनमोहनभ्रमण-वेपनानि मरणं वा भवति ॥१२॥

(प्राणवह स्रोतस—) इनमें प्राणवह दो हैं; इनका मूल हृदय और रसवाही धमनियाँ हैं। इनमें वेध होने से आक्रोश, शरीर का झुकना, मूर्च्छा, चक्कर, कंप अथवा मृत्यु होती है ॥१२॥

वक्तव्य—रसवाहिन्यश्च धमन्यः—इसके बदले 'प्राणवा-हिन्यश्च धमन्यः' ऐसा भी पाठ भेद है। इस पाठभेद से श्वासवाहिनियों (Bronchii) का बोध होता है। यह पाठभेद अच्छा है, इससे प्राणवह स्रोतसों में प्राणवायु का प्रवेश होता है—नाभिसः प्राणपवनः स्रष्टा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद्वि-र्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्। पीत्वा चान्वरपीयूषं पुनरायाति वेगतः ॥ (शार्ङ्गधर)। प्राणवहे द्वे—प्राणवह स्रोतसों से दोनों तरफ के दो फुफ्फुसों का ग्रहण करना उचित है। इन फुफ्फुसों का मूल हृदय याने हृदय से फुफ्फुस में जाने वाली धमनियाँ (Pulmonary arteries) तथा कण्ठनलिका से आने वाली श्वासनालियाँ होती हैं। धमनियों के द्वारा आया हुआ रक्त फुफ्फुस के भीतर केशिकाओं में फैलता है और श्वासनालियों से आये हुए प्राणवायु का ग्रहण करके फिर फुफ्फुस सिराओं द्वारा हृदय में चला जाता है। शरीर में प्राणवायु का ग्रहण और वहन करने का प्रधान अंग फुफ्फुस (Lungs) है। सुश्रुत में इसके वेध के जो लक्षण दिये हैं, वे सब ठीक हैं, परन्तु चरक में दिया हुआ लक्षण इसके वेध का प्रधान (Cardinal) है—अतिसृष्टमतिबद्धं कुपितमलाल्प-मभीक्ष्णं वा सशब्दशूलमुच्छ्वन्नन्तं दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टा-नीति विद्यात्। इसका अभिप्राय यह है कि प्राणवह स्रोतस दूषित होने पर साँस में सब प्रकार की कठिनाई होती है, उसके साथ शब्द (Wheezing) और पीडा होती है। इस लक्षण को श्वासकृच्छ्र (Dyspnea, Breathlessness) कहते हैं। प्राणवह स्रोतसों की दुष्टि के कारण—क्षयात् संघारणाद् रौक्ष्याद् व्याधामात् क्षुधितस्य च। प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतांस्य-न्यैश्च दारुणैः (कर्मभिः) ॥ (चरक)। स्थान, लक्षण और विकृति के कारणों को देखकर प्राणवह स्रोतसों से फुफ्फुस समझना ही उचित है। पं० हरिप्रपन्नजी प्राणवह स्रोतसों से Pulmonary arteries (फुफ्फुस धमनियाँ) समझते हैं। यदि दो शब्द के ऊपर अधिक जोर देना हो तो प्राणवह स्रोतसों से दो श्वासप्रणालियाँ (Bronchii) समझ सकते हैं।

अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्वस्याध्मानं शूलान्नद्वेषौ छर्दिः पिपासाऽऽन्ध्यं मरणं च ॥१३॥

(अन्नवह स्रोतस—) अन्नवह (स्रोतस) दो हैं, इनका मूल आमाशय और अन्नवाहिनी धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध होने से आध्मान (पेट का फूलना), शूल, अन्नद्वेष, वमन, प्यास, चकर अथवा मरण होता है ॥१३॥

वक्तव्य—अन्नवह स्रोतस—इससे अन्नप्रणाली (Oesophagus) और क्षुद्रान्त्र समझ सकते हैं। आमाशय अन्न का आधार है—तत्र आमाशयः, स चतुर्विधस्याहारस्थाधारः। (सूत्र २१)। अन्नप्रणाली आमाशय तक अन्न का वहन करती है और क्षुद्रान्त्र आमाशय से आगे की ओर अन्न का वहन करता है। अन्नवह स्रोतस दुष्टि के कारण—अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात्। अन्नवाहिनि दुष्यन्ति वैगुण्यात् पावकस्य च ॥ (चरक)। अन्नवह स्रोतसों के साथ आमाशय भी वैसे आ जाता है। आन्ध्यं मरणं वा—आमाशय या क्षुद्रान्त्र के ऊपर आघात होने से स्तब्धता या मूर्च्छा या हृद्भेद से (छठे अध्याय के २४वें सूत्र का वक्तव्य देखो) ये लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। क्षुद्रान्त्र से यहाँ पर ग्रहणी का ही ग्रहण विशेषतया करना चाहिए, क्योंकि उसी का संबंध अन्न से अधिक रहता है—अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता। नामेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भवृंहिता। अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः। दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति ॥ (चरक, ग्रहणीचिकित्सित)।

उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु क्लोम च, तत्र विद्वस्य पिपासा सद्योमरणं च ॥१४॥

(उदकवह स्रोतस—) उदकवह दो हैं, उनका मूल तालु और क्लोम है। उनका वेध होने से प्यास और मृत्यु होती है ॥१४॥

वक्तव्य—उदकवह द्वे—उदक से यहाँ पर जल (पीने का पानी) अभिप्रेत नहीं है, परंतु शरीरगत जल याने लसिका (Lymph) अभिप्रेत है। उदर में यही जल उदरगुहा में इकट्ठा होता है। इसलिए वह दकोदर कहलाता है—परिपाकात् परिणामेन दकोदरता सर्वेषामेव। अन्यानुदराणि परिपाकादुदकभावं भजन्ते, दकोदरं प्रागेवेति विशेषः। (इल्लहण, निदान अध्याय ७)। उदकवह स्रोतसों का संबंध अधिकतर उदररोग में आता है और उनके लिए अम्बुवाही या जलवाही शब्दों का भी प्रयोग होता है—पिवेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि। (सुश्रुत, उदरनिदान)। इस पर मधुकोश में लिखते हैं—तद्वहानि उदकवहानि। अन्नरस उपलेहन्यायेन बहिर्निःसृत्योदरं जनयतीत्यर्थः। ऊर्ध्वाधो धातवो रक्षा वाहिनीरम्बुवाहिनीः। कुर्युः उदरम् ॥ रक्षाऽन्तु-मार्गानिलः कफश्च जलमूर्च्छितः। वर्षयेतां तदेवाम्बु तत्स्यानादुरा-श्रितौ ॥ (अष्टांगहृदय, उदरनिदान)। उदररोग में लसिकावाहिनियों (Lymphatics) में खराबी होती है। यह सिद्ध बात है—Ascites is very common in

heart failure. It is also in part caused by portal congestion and by obstruction to the lymph flow from thoracic duct owing to the rise of venous pressure. In uncomplicated cases (of cirrhosis) the ascites is probably always in part due to the lymphagogue action of toxins normally destroyed by the liver, which increases the flow of fluid into the peritoneal cavity by injuring the vessel walls. *Practice of medicine by F. W. Price.* ये उदकवाही स्रोतस दो होने पर भी अनेक क्यों बतलाये गये हैं? इसका विचार पीछे ११वें सूत्र के वक्तव्य में मधुकोश के आधार पर किया गया है। उदकवह स्रोतस से, इसलिए लसिकावाहिनियाँ विशेष करके वाम और दक्षिण रसकूल्ये (Lymphatics, especially thoracic duct and right lymphatic duct) इनका ग्रहण करना उचित है। तयोर्मूलं तालु क्लोम च—रसकूल्या और लसिकावाहिनियों का ग्रहण उदकवह स्रोतसों के लिए करने पर उनका मूल या प्रभव स्थान संपूर्ण शरीर में होता है, किसी एक स्थान में नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में इनका मूल तालु मानने के कारणों का भी विचार करना आवश्यक है। उदकवह स्रोतसों का संबंध शरीरगत जल के साथ होता है तथा तृषा का संबंध शरीरगत जल के साथ होता है, ये दोनों बातें निर्विवाद हैं। उदररोग में अम्बुवाही स्रोतसों की दुष्टि होने से उदरगुहा में जल इकट्ठा होता है और उस समय तृषा भी मालूम होती है—स्रोतःसु रुद्धमार्गेषु कफश्चोदकमूर्च्छितः। वर्षयेतां तदेवाम्बु स्वस्यानादुराश्रितौ ॥ तस्य रूपाणि—अन्नकाह्ना पिपासा ॥ (चरक, उदरचिकित्सा)। पाश्चात्य वैद्यक में जलोदर के लक्षणों में यद्यपि पिपासा का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता तथापि जलोदर उत्पन्न होने के समय पिपासा उत्पन्न हो सकती है। इसका उल्लेख अप्रत्यक्षतया हर्बर्ट फ्रेंच अपनी किताब (Differential diagnosis) में करते हैं—Cases of extreme thirst may be subdivided into two main groups, namely, those with and those without polyuria. To the other group belong such conditions as excessive loss of fluid into serous membranes. उदकवह स्रोतसों का संबंध शरीरगत जलांश के साथ होता है। इसलिए उनकी दुष्टि में पिपासा की उत्पत्ति एक स्वाभाविक परिणाम है। चरक में केवल पिपासा ही लक्षण बतलाया है—जिह्वातात्वोष्ठकण्ठक्लोमशोषं पिपासां चातिप्रवृद्धां वृद्धोदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदृष्टानीति विचारः ॥ मनुष्यों को प्यास की संवेदना केवल गले के आस-पास के भाग में ही होती है, अन्यत्र नहीं होती। इसलिए पिपासा के समय हमेशा गल, तालु इत्यादि मुखगत प्रत्यङ्गों का उल्लेख होता है—Thirst is a sensation referred to the pharyngeal region rather than to the stomach. *Halliburton's physiology.* उदकवह स्रोतसों का संबंध जल के साथ, जल का संबंध पिपासा के साथ और पिपासा का

संबंध गले के या तालु के साथ होता है। इस विचारप्रणाली के आधार पर उदकवह स्रोतसों का संबंध, याने पर्याय से मूल तालु में माना गया होगा, ऐसा मालूम पड़ता है। पिपासा—इसकी उत्पत्ति के संबंध में पाश्चात्य पण्डितों का यह कथन है कि शरीरगत जलांश कम होने से लाला तथा मुखस्थ अन्य ग्रंथियों से चाव निकलना बंद होकर तालु, गला इत्यादि शुष्क हो जाते हैं और इस शुष्कता के कारण प्यास मालूम होती है—The theory postulates that the salivary and buccal glands, like other tissues, become dehydrated and consequently secrete less liquid or none at all. When insufficient fluid is provided to moisten the mucous membranes continually, the local discomfort provoked is interpreted as thirst. *Physiology in Health and Disease by Wiggers*. चरकसंहिता में भी पिपासा के संबंध में पर्याय से यही उपपत्ति वर्णन की गई है—पित्ता-निलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूश्च शोषयतः । रसवाहिनीश्च नालीजिह्वा-मूलगलतालुकोष्ठः । संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्त्वृणां महाबलावेतौ ॥ (नृणाचिकित्सित) । संक्षेप में उदकवह स्रोतसों का पिपासा से और पिपासा का तालु से जो स्वाभाविक संबंध है, उस संबंध के कारण उदकवह स्रोतस तालुप्रभव माने गये हैं। प्रत्यक्षशरीर की दृष्टि से तालु और उदकवह स्रोतसों में कोई खास संबंध नहीं होता। सद्यो मरणं च—यहाँ पर अधिकतर उदरस्थ उदकवह स्रोतस अभिप्रेत हैं, इसलिए उदर पर आघात होने से मृत्यु भी शीघ्र हो सकती है।

रसवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य शोषः प्राणवहविद्धवच्च मरणं तल्लिङ्गानि च ॥१५॥

(रसवह स्रोतस—) रसवह दो हैं; उनका मूल हृदय और रसवह धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध होने से शोष, प्राणवह (स्रोतोमूल) वेध के समान मृत्यु तथा (अन्य) लक्षण होते हैं ॥१५॥

वक्तव्य—रसवहे द्वे—रसवह स्रोतसों का मूल हृदय और चौबीस या दस रसवाही याने आधुनिक कल्पना के अनुसार रक्तवाही धमनियाँ हैं। इसलिए रसवह स्रोतसों से शरीरगत रसवह छोटी छोटी नालियाँ, जो आधुनिक परिभाषा में केशिकाएँ (Capillaries) कहलाती हैं, समझना चाहिए। प्राणवह स्रोतसों का भी वही मूल बतलाया गया है। दोनों में फर्क आधुनिक कल्पना के अनुसार निम्न प्रकार से कर सकते हैं। शरीर में रक्तपरिभ्रमण दो विभागों में बाँटा गया है—लघुपरिभ्रमण (Lesser circulation) और दीर्घ परिभ्रमण (Greater circulation); इनमें लघु का संबंध प्राणवायु वहन के साथ होकर फुफ्फुस में होता है और दीर्घ का संबंध संपूर्ण शरीर के पोषण के साथ होकर फुफ्फुसेतर अन्य हिस्से में होता है। इसलिए प्राणवह स्रोतसों से Pulmonary capillaries (फुफ्फुसगत केशिकाएँ) और रसवह स्रोतसों से Systemic capillaries

(शरीरगत केशिकाएँ) समझ सकते हैं। प्राणवहविद्धवच्च—दोनों का मूल हृदय होने से दोनों में भी वेध के लक्षण एक-से होते हैं, तथा मर्माघात के कारण मृत्यु भी हो सकती है।

रक्तवहे द्वे, तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य श्यावाङ्गता ज्वरो दाहः पाण्डुता शोणितागमनं रक्तेनेत्रता च ॥१६॥

(रक्तवह स्रोतस—) रक्तवह दो हैं; उनका मूल यकृत्, प्लीहा और रक्तवाही धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध होने से शरीर का कालापन, ज्वर, दाह, पाण्डुरवर्णता, रक्तचाव की अधिकता और आँखें रंजित होती हैं ॥१६॥

वक्तव्य—रक्तवह स्रोतस—आयुर्वेद में रक्तोत्पत्ति का स्थान यकृत् और प्लीहा माना गया है। इसलिए रक्तवह स्रोतसों का मूल यकृत्, प्लीहा और तद्वत् धमनियाँ मानी गई हैं। रक्तवह स्रोतसों से, अतः, यकृत् प्लीहागत केशिकाएँ मानना उचित है। आधुनिक कल्पना के अनुसार यकृतगत रक्तपरिभ्रमण (Portal circulation) स्वतन्त्र माना जाता है और उसी के अनुसार रक्तवह स्रोतसों को Portal capillaries कह सकते हैं। तत्र विद्धस्य—यकृत् और प्लीहा के ऊपर वेध होने से दोनों ही विदीर्ण (Rupture) होने का डर रहता है। विदीर्ण होने पर प्रायः मृत्यु हो जाती है। यदि वेध बहुत जोरदार न हो तो मृत्यु नहीं होती। श्यावाङ्गता—शरीर का वैवर्ण्य—यदा तु पाण्डोर्वर्णः नहीं होती। श्यावपीतकः । (चरक)। दाहः—जलन, यह स्वादरितः श्यावपीतकः । शोणितातिगमनम्—रक्तस्रावधिक्य। पीड़ा का उपलक्षण है। शोणितातिगमनम्—रक्तस्रावधिक्य। यह रक्तस्राव शरीर के बाहर न होकर यकृत् प्लीहा के भीतर होता है या उदरगुहा के भीतर होता है। रक्तेनेत्रता—रक्त का अर्थ यहाँ पर लाल न करके रंजित (Coloured) करना उचित है। प्रायः आँखों में कुछ पीलापन आ जाता है। यह पीलापन शरीरगत रक्तशोषण के समय उत्पन्न हुई कामला का परिणाम है। नीचे पाश्चात्य शल्यतन्त्र से यकृत् वेध के लक्षण दिये जाते हैं, जो इन लक्षणों के साथ बहुत कुछ मिलते हैं—The chief symptoms are shock, Pain and tenderness and the evidences of loss of blood. The process is usually attended by certain amount of jaundice. Well-marked pyrexia may follow the initial shock. *Rose and Carless' manual of surgery*. वेध के बदले यदि चरक के अनुसार, ये रक्तवह स्रोतोदुष्टि के लक्षण माने जायँ, तब भी ये लक्षण यकृत् प्लीहा की खराबी जिन रोगों में हुआ करती है (जैसे—काला अजार, विषम ज्वर, विविध पाण्डुरोग, कामला) उन रोगों के लक्षणों के साथ बहुत मिलते हैं।

मांसवहे द्वे, तयोर्मूलं स्नायुत्वचं रक्तवहाश्च धमन्यः । तत्र विद्धस्य श्वयथुर्मांसशोषः सिराग्रन्थयो मरणं च ॥१७॥

(मांसवह स्रोतस—) मांसवह दो हैं। उनका मूल स्नायु, त्वचा और रक्तवाही धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध

होने से सूजन, मांसशोष, सिराओं का गठीलापन और मृत्यु होती है ॥१७॥

वक्तव्य—मांसवह स्रोतसों से पेशीगत केशिकाएँ (muscular capillaries) समझ सकते हैं । तत्र विद्वस्य—इनका मूल त्वचा और स्नायु होने के कारण त्वचा और स्नायु पर चोट होने के लक्षण इसमें मिलते हैं । मरण च—मामूली त्वचा पर वेध होने से मृत्यु होने का कारण नहीं है, परंतु सिर या ग्रीवा की त्वचा में चोट लगने से और वह घ्नन दूषित होने से उपत्वचाशोथ (Cellulitis) के कारण मृत्यु हो सकती है ।

मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्षौ च, तत्र विद्वस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषः स्थूल-शोफता पिपासा च ॥१८॥

(मेदोवह स्रोतस—) मेदोवह दो हैं । उनका मूल कटी और वृक्ष हैं । वहाँ पर वेध होने से पसीना आना, अङ्गों की स्निग्धता, तालु की खुश्की, स्थूल सूजन और प्यास होती है ॥१८॥

वक्तव्य—तयोर्मूलं कटी वृक्षौ च—चरक में मेदोवह स्रोतसों का मूल वृक्ष और वपावहन बतलाया है—मेदोवहानां स्रोतसां वृक्षौ मूलं वपावहनं च ॥ (स्रोतोविमान) । कटी (नितंब प्रदेश) और वपा इन दोनों स्थानों में मेदोवृद्धि अधिक हुआ करती है—वपावहनं वपा उदरस्या स्निग्धवर्तिका यमाहुर्जनास्तैलवर्तिकेति । (चक्रपाणिदत्त, स्रोतोविमान) । वपावहनं मेदःस्थानं तैलवर्तिकेति ख्यातम् । (चक्रपाणिदत्त, शरीर ७) । वपानाम (Great omentum) उदर्यायाः कलायाः स्तरचतुष्टयात्मको भाग आन्त्याग्रप्रसिद्धो येन स्थूलजवनिकारूपेण पुरस्तात् संच्छाद्यन्तेऽन्वाणि । (प्रत्यक्षशरीर) । वृक्षों का कार्य—आयुर्वेद में वृक्षों का उल्लेख अनेक स्थानों में मिलता है—पंचदश कोष्ठाङ्गानि ग्रीवा च वृक्षौ च वस्तिश्च । यानि मातृतः संभवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः । वृक्षौ च वस्तिश्च । वृक्षजायां विद्वध्या पृष्ठकटिग्रहः । (चरक) । रक्तमेदप्रसासाद् वृक्षौ । वृक्षयोः पार्श्वसंकोचः । (सुश्रुत) । वृक्षौ पृष्ठिकरौ प्रोक्तौ जठरस्य मेदसः । (शार्ङ्गधर) । वृक्षौ कुक्षिगोलकौ । (डहण) । वृक्षौ कुक्षिगोलकौ, तौ तु रक्तप्रसादसंभवौ, अतएव जठरस्य मेदसः पृष्ठिकरौ कथितौ, तत्संभवात् । (शार्ङ्गधरदीपिका) । इन सब उल्लेखों में कई बार वस्ति और वृक्ष, इनका साहचर्य होने पर भी कहीं भी वृक्षों का मूत्रोत्पत्ति के साथ संबंध नहीं बताया गया है, परंतु मेदोत्पत्ति के साथ बताया गया है । उदरगुहा में आमाशय, क्षुद्रान्त्र, स्थूलान्त्र, मलाशय, यकृत, ग्रीवा, मूत्राशय, गर्भाशय और वृक्ष ये प्रधान अवयव होते हैं । इन सब अवयवों के कार्य आयुर्वेद में वर्णित हैं । वस्ति और वृक्षों के कार्यों को छोड़कर शेष अवयवों के कार्य आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी ठीक हैं । मूत्ररोगों का एकमात्र अधिष्ठान वस्ति बतलाया गया है—सर्वेषां मूत्ररोगाणामधिष्ठानं वस्तिः । (अष्टांगसंग्रह) । और मेदोत्पत्ति का अधिष्ठान वृक्ष बतलाया गया है—वृक्षौ पृष्ठिकरौ प्रोक्तौ जठरस्य मेदसः । (शार्ङ्गधर) । मूत्र

रोगों के लिए वस्ति का जो अधिष्ठान बतलाया गया है, उसमें कुछ तथ्य है परंतु जो वृक्षों का मेदोत्पत्ति में संबंध बतलाया गया है, उसमें उतना भी तथ्य नहीं है । यह दोष कैसे उत्पन्न हुआ ? इसको जानने के लिए मृतसंशोधन की ओर ध्यान देना चाहिए । मृत मनुष्य की उदरगुहा खोलने पर उसमें कई अवयव और कई पदार्थ मिलते हैं । वस्ति में मूत्र मिलता है, जिससे वस्ति का और मूत्र का संबंध निश्चित हो जाता है । मृतशरीर में वृक्षों में न मूत्र मिलता है, न मूत्रोत्पत्ति के साथ संबंध जोड़ने का कोई मोटा साधन उपलब्ध रहता है । वृक्षों से निकलने वाली गवीनी (Ureter) वस्ति तक जाती है, परंतु वह बहुत पतली होने के कारण स्नायुसूत्रों के समान समझी जा सकती है । इसलिए, केवल मृतशरीरसंशोधन से वृक्षों का संबंध मूत्रोत्पत्ति के साथ जोड़ना असंभव है । वस्ति का संबंध मूत्र के साथ जोड़ना आसान है और इसी कारण से वस्ति मूत्ररोगों का प्रधान स्थान माना गया है । अब वृक्षों का मेदोत्पत्ति के साथ संबंध जोड़ने के कारणों का विचार करना है । उदरगुहा में वपा में बहुत मेद मिलता है । इसके सिवा वृक्षों के आसपास और वृक्षों के ऊपर भी मेद होता है—The kidneys are situated in the posterior part of the abdomen, one on either side of the vertebral column, behind the peritoneum, and surrounded by a mass of fat and loose areolar tissue. The kidney and its vessels are imbedded in a mass of fatty tissue, termed the adipose capsule. Behind the renal fascia is a considerable quantity of fat which constitutes the paranephric body. Grey's Anatomy. जैसे, अन्न और आमाशय, मल और मलाशय, मूत्र और मूत्राशय इनका नित्यसाहचर्य देखकर इनका आपस में कार्यकारण या आश्रयाश्रयिसंबंध माना गया है, वैसे ही वृक्षों के ऊपर और आसपास मेद (वृक्ष ठोस होने से इनके भीतर मेद नहीं हो सकता) का साहचर्य देखकर दोनों का आपस में जनक-जन्य भाव माना गया है, ऐसा मालूम पड़ता है । ऐसी अवस्था में मेदवह स्रोतसों का ठीक पर्याय बताना कठिन है । तथापि यदि पर्याय देना हो तो Capillaries of the perinephric tissues and omentum दे सकते हैं ।

मूत्रवहे द्वे, तयोर्मूलं वस्तिर्मेदू च । तत्र विद्वस्य-स्थानद्ववस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेदूता च ॥१९॥

(मूत्रवह स्रोतस—) मूत्रवह दो हैं, उनका मूल वस्ति और मेदू है । वहाँ पर वेध होने से वस्ति का फूलना, मूत्र का रुक जाना और शिथिल की सख्ती होती है ॥१९॥

वक्तव्य—मूत्रवह स्रोतस—आयुर्वेद में मूत्रोत्पत्ति की कल्पना यह है कि आन्त्र में ही मूत्र पृथक् होकर आन्त्र से असंख्य सूक्ष्म स्रोतसों द्वारा वस्ति में आता है । अर्थात् इन स्रोतसों का ऊपर का सिरा आन्त्र से और नीचे का वस्ति से

संबंधित रहता है । आन्त्र में मलधर कला से पृथक् हुआ तरल मल पाचक अग्नि और समान वायु के कार्य से इन स्रोतसों में बहते समय पूर्णतया मूत्र में परिवर्तित होकर बस्ति में आता है—पकाशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः । तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागरं यथा ॥ सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः । नाडीभिरुपनीतस्य मूत्रस्यामाशयान्तरात् ॥ (सुश्रुत, निदान ३) । इसका वक्तव्य भी देखो । अधोमुखो हि वस्तिर्हि मूत्रवाही सिरामुखैः । पार्श्वेभ्यः पूर्यते सूक्ष्मैः स्यन्दमानैरनारतम् ॥ (अष्टांगहृदय) । सिरामिस्तज्जलं नीतं वस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात् । (शार्ङ्गधर) । इस विषय के विशेष विवरण के लिए ग्रंथकार की Ayurvedic conception about urine formation नामक पुस्तक देखो । प्रत्यक्ष शारीर कार्य की दृष्टि से आयुर्वेद की यह सूत्रोत्पत्ति की कल्पना ठीक नहीं है । इसलिए मूत्रवह स्रोतसों का कोई ठीक अंग्रेजी पर्याय नहीं दिया जा सकता । यदि आधुनिक शारीरकार्य विज्ञान के अनुसार इनका अर्थ करना हो तो मूत्रवह स्रोतसों से वृक्स्थ मूत्रस्रोत (Renal tubules) याने वृक्कान्तर्गत सूत्रोत्पादक नालियाँ समझ सकते हैं । और यदि बस्ति का संबंध ठीक रखना हो तो तात्पर्य की दृष्टि से गवीनीयुक्त वृक् (Kidneys with ureters) इनसे समझ सकते हैं । हाराणचन्द्र तथा कुछ अन्य लोग मूत्रवहे द्वे से गवीनी (Ureters) समझते हैं—मूत्रवहे द्वे वृक्तः प्रसृते एव । परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि चरक में मूत्रवाही स्रोतसों की दुष्टि के कारण दिये हैं तथा उनकी चिकित्सा मूत्रकृच्छ्र के समान बतलाई है—मूत्रितोदकमक्ष्यलोसेवनान्मूत्रनिग्रहात् । मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्वातिकृशस्य च ॥ मूत्रविदस्वेदवाहानां चिकित्सा मौत्रकृच्छ्रिकी ॥ आयुर्वेद में या पाश्चात्य वैद्यक में वृक्विहीन गवीनियों का कोई ऐसा रोग नहीं है । इसलिए यदि गवीनी अर्थ करना हो वृक्युक्त गवीनी करना उचित है । मेद् च—इसका उल्लेख मूल में परम्परा की दृष्टि से किया गया है ।

पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पकाशयो गुदं च, तत्र विद्वस्यानाहो दुर्गन्धता ग्रथितान्त्रता च ॥२०॥

(पुरीषवह स्रोतस—) पुरीषवह दो हैं, उनका मूल पकाशय और गुद है । वहाँ पर वेध होने से उदर का फूलना, (मल में) दुर्गन्ध और गाँठें उत्पन्न होती हैं ॥२०॥

वक्तव्य—पुरीषवह स्रोतस से उण्डुक और स्थूलान्त्र का ग्रहण करना चाहिए । तत्र विद्वस्य—पकाशय या गुद के ऊपर वेध होने से मलावरोध या प्रवाहिका उत्पन्न हो सकती है । मलावरोध होने पर पेट फूलना, दुर्गन्ध और मल अधिक देर तक रहने से गाँठदार होना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं । ग्रथितान्त्रता—ग्रथितमलान्त्रता, मल की गाँठें उत्पन्न होने की स्थिति । चरक में साफ लिखा है—कृच्छ्रेणाप्याल्पं सशब्दशूलमतिद्रवमतिग्रथितमतिबहु चोपविशन्तं दृष्ट्वा पुरीषवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विधात् ॥

शुकवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च, तत्र विद्वस्य क्लीबता चिरात् प्रसेको रक्तशुक्रता च ॥२१॥

(शुकवह स्रोतस—) शुकवह दो हैं, उनका मूल स्तन और वृषण हैं । वहाँ पर वेध होने से पंढता, देर से वीर्य-स्खलन और रक्तयुक्त वीर्य (का निकलना ये लक्षण) होते हैं ॥२१॥

वक्तव्य—शुकवहे द्वे—शुकवह दो नालियों से Ductus deferens का ग्रहण करना चाहिए और उनसे जो अनेक स्रोतस आगे वृषण की ओर होते हैं, उनसे Ductuli efferentes and rete testes का ग्रहण करना चाहिए । वृषणग्रंथि में उत्पन्न हुआ शुक्र इनके द्वारा बाहर आता है । क्लीबता—वीर्य के न निकलने से यह पंढता उत्पन्न होती है । स्तनौ—वास्तव में यहाँ पर स्तनों का कोई संबंध नहीं है । परन्तु शुक्रोत्पत्ति और स्तन्योत्पत्ति का मानसिक और शरीरकार्य की दृष्टि से बहुत घनिष्ठ संबंध होता है (निदान के १०वें अध्याय के १९-२१ श्लोक और उनका वक्तव्य देखो) इसलिए यहाँ पर उसका उल्लेख किया गया है । यह एक स्वतन्त्र वाक्य है, जिसकी पूर्ति इस प्रकार से कर सकते हैं—स्तन्यवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ । तत्र विद्वस्यास्तन्यता, चिरात् प्रसेको रक्तस्तन्यता च । स्तन्यवह स्रोतसों से Tubuli lactiferi of mamma समझ सकते हैं ।

आर्तववहे द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्तववाहिन्यश्च धमन्यः । तत्र विद्वस्या वन्ध्यत्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्तवनाशश्च ॥२२॥

(आर्तववह स्रोतस—) आर्तववह स्रोतस दो हैं, उनका मूल गर्भाशय और आर्तववाही धमनियाँ हैं । वहाँ पर वेध होने से वन्ध्यता, मैथुन कर्म को सहन न करना और आर्तवनाश होता है ॥२२॥

वक्तव्य—आर्तववह स्रोतस—आर्तव शब्द के दो अर्थ दूसरे अध्याय के प्रारंभ में बताये गये हैं—आर्तवशोणित (Menstrual blood) और स्त्रीबीज (Ova); इन दो अर्थों के अनुसार आर्तववह स्रोतस के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) आर्तवशोणितवहन करने वाले स्रोतस Blood vessels and capillaries of the uterus. (२) बीजबाहक स्रोतस Fallopian tubes । पं० हरिप्रपञ्चजी तथा अन्य कुछ लोग आर्तववह स्रोतस का दूसरा अर्थ करते हैं, परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं । इसका कारण यह है कि इन आर्तववह स्रोतसों का संबंध स्त्रीबीज वहन के साथ न होकर आर्तव रक्तवहन के साथ होता है । इसका स्पष्ट निर्देश चतुर्थ अध्याय के निम्न वचन के 'दृश्यते' शब्द से मालूम होता है—गृहीतगर्भाणामार्तववहानां स्रोतसां वर्तमान्यवरुध्यन्ते गर्भेण तस्माद् गृहीतगर्भाणामार्तवं न दृश्यते ॥ पीछे २३वें सूत्र का वक्तव्य भी देखो । आर्तववह के समय गर्भाशय की श्लेष्मल कला के नीचे रक्तवाहिनियाँ (आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार आर्तव स्रोतस) बहुत विस्फारित होती हैं और श्लेष्मल कला को तोड़कर मासिक स्राव के समय आर्तवशोणित को उत्सर्गित करती हैं । इन आर्तव स्रोतसों के मार्ग गर्भाधान होने पर श्लेष्मल कला की मोटाई काफी बढ़ जाने से बंद हो जाते हैं, जिससे गर्भवती स्त्रियों में आर्तव दर्शन नहीं

होता—The uterine mucous membrane undergoes extensive changes as a result of pregnancy. The mucosa as a whole grows to four or five times its former thickness. *Introduction to sexual Physiology by Marshall*. चरक में इन आर्तववह स्रोतसों (रजोवह) का संबंध प्रदर में वर्णन किया है—रक्तं प्रमाणमुक्तम्य गर्भाशयगताः सिराः । रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः ॥ यस्माद्विवर्धयत्याशु रसभावादिमानता । तस्मादसुन्दरं प्रादुरेतत्तन्विशारदाः ॥ (चिकित्सा) । इससे यह स्पष्ट होगा कि आर्तववह स्रोतसों से गर्भाशयगत रक्तवाहिनियों का ग्रहण उचित है, क्योंकि गर्भाशयगत रक्त ही आर्तव बनता है—तथा रक्तमेव च स्त्रीणां मासे मासे गर्भकोष्ठमनुप्राप्य त्र्यहं प्रवर्तमानमार्तवमित्याहुः ॥ (अष्टांगसंग्रह, शारीर १) । पं० गंगाधर शास्त्री आर्तववह स्रोतसों से गर्भाशय की श्लेष्मल कला (Uterine mucosa) समझते हैं । परंतु यह अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि श्लेष्मल कला आर्तव का वहन नहीं करती है, परंतु स्वयं आर्तव में प्रवाहित हो जाती है और गर्भाधान होने पर आर्तववह स्रोतसों का मार्ग अवरुद्ध करती है । आर्तववाही धमनियाँ—Uterine and ovarian arteries । तत्र विद्यायां वन्ध्यात्वम्—गर्भोत्पादन के असामर्थ्य को वन्ध्यात्व (Sterility) कहते हैं । पुरुषों की वन्ध्याता का विवरण पीछे २ अध्याय के २ सूत्र में किया गया है । स्त्रियों के वन्ध्यात्व का विवरण यहाँ पर दिया जाता है । हारीतसंहिता में स्त्रियों के वन्ध्यात्व के तीन प्रधान कारण विभाग दिये हैं—वन्ध्या स्यात् षट्प्रकारेण बाल्येनाप्यथवा पुनः । गर्भकोषस्य भङ्गाद्वा, तथा धातुक्षयादपि । जायते न च गर्भस्य संभूतिश्च कदाचन ॥ (३-४८-७) । बाल्येन—बाल्यावस्था में गर्भाशयादि अंगों की जो स्थिति होती है वैसी ही स्थिति युवावस्था में होने से । इस विभाग में Infantile uterus, cochleate uterus तथा अन्य सहज (Congenital) विकृतियों का समावेश कर सकते हैं । (२) गर्भकोषभङ्ग—इसमें जन्मोत्तर (Acquired) गर्भाशय में होने वाले निज या आगंतुक विकारों का समावेश कर सकते हैं । (३) धातुक्षय—इसमें सार्वदैहिक विकारों (General conditions) का समावेश कर सकते हैं, जिनके कारण शरीरगत धातुओं का क्षय या दौर्बल्य हुआ करता है—जैसे, उचित आहार का न मिलना, रक्तक्षय, पाण्डुरोग, वृद्धावस्था इत्यादि । यहाँ पर वन्ध्यात्व का जो कारण दिया है वह दूसरे विभाग में आता है । वन्ध्याता के निम्न चार महत्त्व के प्रकार हारीतसंहिता में वहाँ पर दिये हैं—काकवन्ध्या भवेच्चैका, अनपत्या द्वितीयका । गर्भस्त्रावी तृतीयाथ कथिता मुनिसत्तमैः । मृतवत्सा चतुर्थी स्यात् ॥ (१) काकवन्ध्या—जिसको एक बार गर्भधारणा हुई है और पश्चात् जो वन्ध्या हो गई है, वह काकवन्ध्या कहलाती है । काकीवदेकमात्रापत्यजननेन वन्ध्यात्वं प्राप्ता । काकवन्ध्या च या नारी मृतापत्या च या भवेत् । बहूपत्या जीववत्सा सा भवेच्चात्र संशयः ॥ (पद्मपुराण) । काकवन्ध्याता को One child sterility कहते हैं । इसका कारण यह है कि प्रथम गर्भधारणा के समय स्त्री के शरीर

में कोई खराबी न होने पर भी प्रसूति के समय या पश्चात् गर्भाशय में उपसर्ग पहुँचने (Infection) के कारण गर्भाशय या फल्लोप (Fallopian tubes) में खराबी होने से दूसरी बार गर्भधारणा नहीं होती । औपसर्गिक प्यूमेड या सोजाक (Gonorrhoea) और राजयक्ष्मा (T. B.) इस प्रकार की वन्ध्याता के प्रधान कारण हैं । आगंतुक कारणों की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रसूति के समय मूलाधार पीठ का विदीर्ण होना (Laceration of Perineum) या गर्भाशय ग्रीवा का विदीर्ण होना (Laceration of cervix uteri) और वैसा ही रहना या चोट लगने के कारण इनका विदीर्ण होना और पश्चात् इनका द्वार पूर्णतया बंद हो जाना (Acquired atresia) ये प्रधान होते हैं । (२) अनपत्या—इसका अर्थ यद्यपि जीवित अपत्यविरहित ऐसा भी हो सकता है तथापि यहाँ पर 'जिसको गर्भधारणा कदापि नहीं हुई है, ऐसी स्त्री' यह अधिक प्रशस्त है । इस प्रकार की वन्ध्याता को Absolute sterility कहते हैं । इसके कारण प्रायः सहज होते हैं । आगंतुक कारणों में वेधजन्य गर्भाशय-ग्रीवा या योनिस्कोच प्रधान कारण हैं । (३) गर्भस्त्रावी—जिस स्त्री को गर्भधारणा होती है, परंतु तीन चार महीने में गर्भ का स्त्राव या पात प्रत्येक समय होता है, वह गर्भस्त्रावी कहलाती है । इसके कारण कुछ सहज और कुछ जन्मोत्तर होते हैं—जैसे, योनिगर्भाशय के अन्तःस्तर के विकार (Endometritis, Vaginitis etc.) तथा गर्भाशय के स्थानापसरण (Displacements) तथा उनके स्वाभाविक आकार की विकृति—जैसे, ग्रीवा और शरीर के बीच में अधिक वक्रता होना (Acute Flexions) इत्यादि । (४) मृतवत्सा—जो गर्भधारणा होने के सातवें महीने के (२८वें सप्ताह के) पश्चात् प्रत्येक समय मृतगर्भ को जन्म देती है, वह मृतवत्सा कहलाती है । जो बालक जन्म के समय १३ इंच लम्बाई में (सिर से पैर के तुल्य तक) होता है और जो माता से स्वतन्त्र होने पर भी चैतन्यहीन (चैतन्य का स्थान जो हृदय वह जिसका कार्यहीन होता है, ऐसा) होता है, वह मृतवत्स या मृतगर्भ (Still born) कहलाता है । ऐसे मृतगर्भ जन्म को still birth कहते हैं । गर्भस्त्राव के जो कारण होते हैं, वे इसके भी होते हैं । इनके सिवा कुछ अज्ञात कारण भी हो सकते हैं । मैथुनासहिष्णुत्वम्—मैथुन सहन करने का असामर्थ्य । यह असामर्थ्य मैथुन कर्म के समय होने वाली पीड़ा से उत्पन्न होता है । इस अवस्था को डिस्पारयूनिआ (Dyspareunia) कहते हैं । यहाँ पर वेध के कारण योनिगर्भाशय तथा उनके आस-पास के भाग पर घाव या व्रण होने से मैथुन में असहिष्णुता उत्पन्न होती है । इस आगंतुक कारण के सिवा गुद, वस्ति, मलाशय, योनि, गर्भाशय, बीजकोष इनके विकारों में विशेष करके शोथजन्य (Inflammatory) विकारों में भी मैथुनासहिष्णुता होती है । यह असहिष्णुता योण्याक्षेप (Vaginismus) से होती है । यह योण्याक्षेप या योनि का संकोच उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त मानसिक

परिस्थिति (जैसे, पति पर प्रेम न होना) के कारण भी उत्पन्न होता है ।

**सेवनीच्छेदादुजाप्रादुर्भावः; वस्तिगुदविद्ध-
लक्षणं प्रागुक्तमिति ॥२३॥**

सेवनी पर वेध होने से वेदना उत्पन्न होती है । वस्ति और गुद के वेध के लक्षण पहले कह चुके हैं ॥२३॥

वक्तव्य—सेवनी—गुद से शिशूमूल तक जाने वाली रेखा Perineal raphe । प्रागुक्तम्—वस्तिभेद के लक्षण १९वें सूत्र में आनन्दवस्तिता इत्यादि और गुदवेध के लक्षण २०वें सूत्र में आना हो, इत्यादि । यह सूत्र अश्मरीशस्त्रकर्म में भी (चिकित्सा अध्याय ७) दिया गया है ।

**स्रोतोविद्धं तु प्रत्याख्यायोपचरेत् । उद्धृतशल्यं
तु क्षतविधानेनोपचरेत् ॥२४॥**

(स्रोतोवेध की साध्यासाध्यता और चिकित्सा—) स्रोतोमूल में विद्ध हुए को असाध्य समझकर (उसकी) चिकित्सा करे । शल्य निकाले हुए का क्षतचिकित्सा के अनुसार उपचार करे ॥२४॥

वक्तव्य—स्रोतोविद्धम्—यहाँ पर अब तक स्रोतोमूल विद्ध के ही लक्षण बताये गये हैं । इसलिए स्रोतोविद्ध से स्रोतोमूलविद्ध समझना उचित है । इसके सिवा प्रत्याख्याय (असाध्य) से भी वही अर्थ निकलता है, क्योंकि हृदय वस्ति तथा अन्य मूल मर्मांग होते हैं ।

भवति चात्र—

**मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत् ।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम् ॥२५॥**

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने धमनीव्याकरणशारीरं
नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

(स्रोतस की व्याख्या—) मूल छिद्र से शरीर में फैला हुआ, (रसादि का) जो वहन करता है, और सिरा-धमनी से जो पृथक् है उस अवकाश को स्रोतस जानना चाहिए ॥२५॥

वक्तव्य—मूलात् खात्—हृदयादि अवकाशयुक्त या अन्तःसुषिर अंगों से । सिराधमनिवर्जितम्—सिरा और धमनी को छोड़कर । इस श्लोक का तात्पर्य इतना ही है कि शरीर में जो बड़ी बड़ी सिराएँ और धमनियाँ होती हैं, उनको छोड़कर जो नालियाँ होती हैं और जो किसी अन्तःसुषिर अंग से संबंध रखकर उससे रसादि तरल पदार्थ का वहन करती हैं, वे स्रोतस हैं ।

अब इसके बाद धमनी और स्रोतसों का कोष्ठक अंग्रेजी पर्यायों के साथ दिया जाता है ।

धमनीकोष्ठक

नाम	पर्याय
शब्दवहा धमनी	Internal auditory artery
रसवहा धमनी	Lingual artery

गन्धवहा

घोषकरा

भाषण

अश्रुवाही

स्तन्यवहा

प्रश्वासोच्छ्वासादिका

अन्नवाहिनी

मूत्रवहा

शुक्रवहा

शुक्रविसर्ग

आर्तववहा

वर्चोनिरसनी

ऊर्ध्वगामी धमनियाँ

अधोगामी धमनियाँ

तिर्यग्गामी धमनियाँ

प्राणवह स्रोतस

अन्नवह

उदकवह

रसवह

रक्तवह

मांसवह

मेदोवह

मूत्रवह

पुरीषवह

शुक्रवह

स्तन्यवह

आर्तववह

Sphenopalatine branch of the internal maxillary

Laryngeal artery

Sublingual artery

Lacrymal artery

Mammary artery

Phrenic and intercostal artery

Superior mesenteric and colic arteries

Renal or Vesical arteries

Testicular and spermatic arteries

Artery supplying epididymus, seminal vesicle etc.

Uterine and ovarian arteries

Inferior mesenteric and Colic arteries

Aortic arch and thoracic aorta and branches

Abdominal aorta and its branches

Cutaneous vessels.

स्रोतस कोष्ठक

Lung capillaries

Oesophagus, duodenum

Lymphatics

Capillaries

Capillaries of the liver and spleen

Capillaries of the muscles

Capillaries of the perinephric tissue and omentum

Renal tubules

Caecum and Colon

Ductus deferens

Tubuli lactiferi

Blood vessels of the uterus

इति भास्करशर्मा गोविंदात्मजेन विरचितायामासुर्वेदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां धमनीव्याकरणं शारीरं
नाम नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥९॥

दशमोऽध्यायः ।

अथातो गर्भिणीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः ।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके बाद गर्भिणीव्याकरण नामक शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरिजी ने किया था ॥१॥

वक्तव्य—गर्भिणीव्याकरण—व्याकरण शब्द के व्यवस्था-
करण और विस्तारकरण इस प्रकार दो अर्थ होते हैं। शारीर
स्थान के गर्भव्याकरण, शरीरसंख्याव्याकरण और घननी-
व्याकरण इन स्थानों में व्याकरण शब्द का प्रयोग विस्तार-
करण के लिए किया गया है। यहाँ पर प्रथम अर्थ के लिए
किया गया है। आहार, विहार, प्रसूति इत्यादि गर्भिणी-
संबंधित बातों की व्यवस्था जिसमें वर्णन की गई है, वह
अध्याय गर्भिणीव्याकरण कहलाता है।

गर्भिणी प्रथमदिवसात् प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा
शुच्यलङ्कृता शुक्लवसना शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मण-
गुरुपरां च भवेत्, मलिनविकृतहीनगात्राणि न
स्पृशेत्, दुर्गन्धदुर्दर्शनानि परिहरेत्, उद्वेजनीयाश्च
कथाः, शुष्कं पर्युषितं कुथितं क्लिन्नं चान्नं नोप-
भुञ्जीत, बहिर्निष्क्रमणं शून्यागारचैत्यश्मशानवृक्षा-
श्रयान् क्रोधभयसङ्करांश्च भावानुच्चैर्भाष्यादिकं च
परिहरेद्यानि च गर्भं व्यापादयन्ति, न चाभीक्ष्णं
तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि निषेवेत्, न चायासये-
च्छरीरं, पूर्वोक्तानि च परिहरेत्, शयनासनं
मृद्वास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपेतमसंबाधं च विद-
ध्यात्, हृद्यं द्रव्यं मधुरप्रायं स्निग्धं दीपनीयसंस्कृतं
च भोजनं भोजयेत्, सामान्यमेतदप्रसवात् ॥२॥

(गर्भिणी सामान्य परिचर्या—) गर्भिणी प्रथम दिन से
लेकर प्रतिदिन प्रसन्नचित्त, पवित्र, अलङ्कारों से विभूषित,
श्वेतवस्त्र धारण करने वाली, शान्तिहोम, मंगलकर्म, देवता,
ब्राह्मण और गुरु इनकी पूजा करने वाली होवे; मैले, रोगी
और हीन (जाति के) शरीरों को स्पर्श न करे; दुर्गन्धयुक्त
(पदार्थों), दुर्दर्शन (दृश्यों) और उद्वेग उत्पन्न करने
वाली कथाओं का परित्याग करे; सूखा, बासी, सड़ा हुआ,
क्लिन्न अन्न सेवन न करे; बाहर निकलना, शून्यगृह, चैत्य,
श्मशान, वृक्षाश्रय, क्रोध और भययुक्त भाव, ऊँची आवाज़
से बोलना इनको तथा गर्भ का नाश करने वाले अन्य भावों
का परित्याग करे; तैल की मालिश और उबटन आदि का
बार बार सेवन न करे; शरीर को (बहुत) न थकावे;
पहले बताये हुए (अपथ्यों) का परिहार करे; लेटने का
और बैठने का स्थान (गद्दी तकिया इत्यादि) मृदु वस्त्रों से
युक्त, न बहुत ऊँचा, अपाश्रय युक्त और बाधाविरहित
बनावे; हृद्य, तरल, मधुरप्राय, स्निग्ध, अग्निदीपक (मरिच,
जीरा इत्यादि) द्रव्यों से संस्कृत भोजन खिलावे। प्रसूति
तक यह साधारण (परिचर्या) है ॥२॥

वक्तव्य—प्रथमदिवसात् प्रभृति—गर्भस्थिति का ज्ञान
'श्रमो ग्लानिः पिपासा' (तीसरे अध्याय का १३वाँ सूत्र)
इत्यादि लक्षणों से होने के दिन से लेकर प्रसूति तक। यह
शब्दप्रयोग तीसरे अध्याय के १६वें सूत्र के 'तदाप्रभृति'
शब्द प्रयोग के अर्थ में किया गया है। इसका दूसरा भी
अर्थ कर सकते हैं। ऋतुकाल के प्रथम दिन से याने ऋतुज्ञात

दिन से। ऋतुकाल प्रारंभ दिन के संबंध में तीसरे अध्याय
के छठे सूत्र का वक्तव्य देखो। अपत्य की इच्छा करके
स्त्री-पुरुष जब समागम करते हैं तब गर्भधारणा होगी, इस
कल्पना से ऋतुज्ञात दिन से ही स्त्री को शारीरिक और
मानसिक स्वास्थ्य रखना अधिक हितावह होता है। इससे
गर्भधारणा की संभावना भी बढ़ती है तथा जिस गर्भ
का आधान होता है, उसके लिए पहले से ही सब तरह से
अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न की जाती है। शान्तिमंगल
इत्यादि—ये सब उपाय आस्तिकों के लिए हैं। इससे
मनःशान्ति तथा मनोबल प्राप्त होता है। क्लिन्नम्—सड़ने के
कारण जिससे पानी निकल रहा है। चैत्य—इसके कई
अर्थ बताये जाते हैं—चैत्यं देवताधिष्ठितो वृक्षः, अन्ये बौद्धालय-
माहुः। (डल्हन)। चैत्यस्तु विशिष्टदेवताधिष्ठितो लोकप्रसिद्धो
वृक्षविशेषः। बुद्धालय इत्यन्ये। (अरुणदत्त, अष्टांगहृदय,
सूत्र २)। चैत्यवृक्ष के ऊपर श्रीरामकृष्णादि सात्विक
देवताओं का वास नहीं होता परंतु भूत, प्रेत, पिशाचादि
तामस देवताओं का वास होता है। इसलिए चैत्य के
पास जाना अनुचित माना गया है। यदि चैत्य से बौद्धालय
माना जाय तो वह परधर्म का होने के वजह से उसका
निषेध किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। श्मशान—
श्मानः शवाः शेरतेऽप्रेति श्मशानम्। दहन और दफन करने
का स्थान। शुक्लवसना—शुश्रूषा निर्मलता का उच्च आदर्श
होता है, इसलिए शुश्रूषा परिधान करने के लिए कहा
है। क्षेमकुतूहल में शुश्रूषा के निम्न गुण वर्णन किये हैं—
शुश्रूषं च सुखं वक्षं शीतातपनिवारणम्। न चोष्णं न च वा शीतं,
शुश्रूषं वक्षं च धारयेत् ॥ मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत्—
जो मनुष्य हमेशा गंदे रहते हैं, जो रोगों से पीड़ित होते
हैं, तथा चमार, चण्डाल इत्यादि हीन जाति के जो लोग
होते हैं और जो हमेशा गंदे रहते हैं उनसे दूर रहना
चाहिए। यहाँ पर 'हीन' शब्द हीन जाति के लिए और
'गात्र' शब्द शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। पूर्वोक्तानि—
तीसरे अध्याय के १९वें सूत्र में बताये हुए। अपाश्रयोपेतम्—
अपाश्रयते आच्छाद्यतेऽनेन इति अपाश्रयः, तेन सहितम्।
अपाश्रय शामियाना की तरह ऊपर लगाने की एक वस्तु
होती है। यहाँ पर इसका मतलब इतना ही है कि हमेशा
ऐसे स्थान पर सोवे, जो ऊपर से खुला न हो। जैसे खुले
आँगन में सोना। खुले स्थान में सोने में ओस या हवा से
(Exposure) बीमार होने का डर रहता है। इसलिए
गर्भिणी स्त्री हमेशा जो स्थान ऊपर से बंद हो, ऐसे स्थान
में अपना विस्तार लगावे। चरकसंहिता में विवृत स्थान
में सोना गर्भिणी के लिए दोषावह माना गया है और
उसका परिणाम गर्भ की उन्मत्तावस्था बतलाया है—
विवृतशायिनी नक्तंचारिणी चोन्मत्तं जनयति। (चरक, शारीर ८)।
विवृते अनावृते देशे शयनशीला विवृतशायिनी। विवृतशायिनी
तथा नक्तंचारिणी च रक्षःप्रभृतिभूताभिगमनीया भवति; ततश्च
भूतैरभिभूतो गर्भ उन्मत्तो भवतीति युक्तम्। (चक्रपाणिदत्त)।
इससे यह स्पष्ट होगा कि ऊपर अपाश्रयोपेत का जो अर्थ
किया गया है, वही युक्त है। किंवा अपाश्रय से तकिया

(अपाश्रयोपेत शिरः यत्र) भी समझ सकते हैं । अपाश्रयोपेत से सिर के नीचे या बैठने के लिए जिस पर तकिया इत्यादि कुछ आश्रय स्थान हो, ऐसा । हाराणचन्द्र अपाश्रय से चन्द्रातप समझते हैं—अपाश्रयश्चन्द्रातपश्चेति पर्यायौ । और डल्हन अपाश्रय से प्रतिवाहक समझते हैं—अपाश्रयोपेतं प्रतिवाहकसहितम् । ये दोनों अर्थ गौण मालूम होते हैं । असंवाधम्—नींद में जिससे बाधा न उत्पन्न हो जाय, उस प्रकार का । जैसे जाड़ों के दिनों में गरम कपड़ों से युक्त, गरमियों के दिनों में हल्के पतले कपड़ों से युक्त, मच्छर होने पर मशहरी से युक्त, खटमल विरहित इत्यादि । हृषम्—इसके दो अर्थ होते हैं—(१) हृदयाय हितम् । हृदय के लिए हितकर अर्थात् हृदय को बल देने वाला अथवा हृदय को तकलीफ न देने वाला । कुछ अन्न ऐसे होते हैं कि जो सेवन करने पर हृदयप्रदेश में जलन या बेचैनी पैदा करते हैं । जैसे उष्ण, अम्ल, तीक्ष्ण मसाले युक्त खाद्य द्रव्य—विदाहिद्रव्यसुद्गारमल्लं कुर्यात्तथा तृणम् । हृदि दाहं च जनयेत् पाकं गच्छति तच्चिरात् ॥ (भावप्रकाश) । इसी कारण से चरक और अष्टांगसंग्रह में विदाही द्रव्यों का गर्भिणी के लिए (आगे देखो) निषेध किया गया है । इसके सिवाय हृद्य का संबंध कुछ अन्न की मात्रा के साथ भी होता है । अधिक मात्रा में अन्न सेवन करने पर उसका दबाव हृदय के ऊपर पड़ता है, जिससे हृदय में धड़कन, बेचैनी इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं—अपीडनं भवेत् कुक्षेः पार्श्वयोरवपीडनम् । अन्नेन हृदयाबाधो जठरस्य तु गौरवम् ॥ अर्थात् अधिक मात्रा में अन्न का सेवन अहृद्य होता है । (२) हृदयस्य प्रियम् । यहाँ पर हृदय शब्द मन के लिए प्रयुक्त होता है । ऐसा अन्न हो, जो मन को पसंद हो जाय अर्थात् रुचिकर । संक्षेप में हृद्य से हृदय को याने शरीर को बल देने वाला, मध्यम मात्रा में सेवन किया हुआ, जो विदाही न हो तथा मन को पसंद होने वाला, याने रुचिकर हो, ऐसा अन्न अभिप्रेत होता है । हृद्य सार्वत्रिक अन्न का एक महत्त्व का गुण है—आयुःसत्त्व-बलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः । रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सार्वत्रिकप्रियाः ॥ (भगवद्गीता १८) ।

गर्भिणी के स्वस्थवृत्त का विवरण इस सूत्र के सिवा पीछे तीसरे अध्याय के १९वें सूत्र में तथा उसके वक्तव्य में किया जा चुका है । यहाँ पर उन्हीं विषयों का पृथक्करण-आत्मक दृष्टि से फिर से संक्षेप में विचार किया जाता है । (१) आहार—गर्भिणी का आहार विशेष महत्त्व का होता है । इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि गर्भिणी को अपना तथा अपने गर्भ का पोषण करना पड़ता है । उससे उसके पाचक अंगों—और वृक्क, त्वचा, फेफड़े इत्यादि मलोत्सर्जन के अवयवों पर विशेष करके वृक्कों पर अधिक काम पड़ता है । इसलिए आहार सुपाच्य, सुशोष्य और पौष्टिक होना चाहिए, उससे शरीर में विषैले पदार्थ कम बनने चाहिए, मलावरोध न उत्पन्न होना चाहिए, उसमें खटिक (चूना Calcium) उचित मात्रा में होना चाहिए और जीवद्रव्य उपस्थित होने चाहिए । गर्भ अपने पोषण के लिए आवश्यक सब पदार्थ माता से ग्रहण करता है, और जब माता के

आहार में उन पदार्थों की कमी होती है, तब माता को क्षति पहुँचाकर उसके शरीर से लेता है । इसका विशेष महत्त्व का उदाहरण खटिक है । बालक को अपनी अस्थियों के लिए खटिक की अधिक आवश्यकता होती है । यदि माता के आहार में खटिक पर्याप्त मात्रा में हो तो कोई कठिनाई नहीं होती । जब माता के आहार में इसकी कमी होती है तब गर्भ माता की अस्थियों से तथा दाँतों से खटिक का ग्रहण कर लेता है, जिससे माता में अस्थिमृदुता (Osteomalacia) कृमिदंत ये विकार उत्पन्न होते हैं । जीवद्रव्य 'डी' खटिक के साल्मीकरण के लिए आवश्यक होता है । उसके न होने से आहार में खटिक होने पर भी उसका उपयोग अस्थिविकास में नहीं हो सकता । जीवद्रव्य 'ए' उपसर्गनाशक होता है । उसकी कमी से माता का औपसर्गिक (Infectious) रोगों की शिकार होने की संभावना होती है, विशेष करके प्रसूतिज्वर होने का बड़ा डर रहता है । जीवद्रव्य 'बी' की कमी से गर्भपात—गर्भत्वाव, अकाल-प्रसव, मृतवत्सज्जन्म इत्यादि आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं । इस दृष्टि से माता के आहार में दूध, मट्ठा, माखन, घी, ज़ावरल, गेहूँ की रोटी, अण्डा, प्याज, गोभी, मूली, पालक, टोमाटो, शलगम, गाजर, आलू इत्यादि साग-सब्जियाँ, संतरा, सेब, आम, अनार, द्राक्षा इत्यादि फल होने चाहिए । मांस, मद्य, चाय, काफी इत्यादि उत्तेजक पदार्थ; मिर्च, मसाले, अचार इत्यादि तीक्ष्णोष्ण पदार्थ बहुत कम होने चाहिए । संक्षेप में गर्भिणी का आहार सार्वत्रिक हो, प्रत्येक बार वह मध्यम मात्रा में उसको सेवन करे, जिससे कुक्षि में पीड़ा न हो सके । परंतु दिन रात में आहार की राशि इतनी हो कि वह उसके लिए तथा उसके बालक की वृद्धि के लिए पर्याप्त हो जाय—वृंहयेद्, गर्भिणीसूतिकावाल-वृद्धान् । मांसक्षीरसितासर्पिर्मधुरस्निग्धवस्तिभिः ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र २४) । न मदकराणि मद्यान्यभ्यवहरेत्, न मांसमश्नीयात् । (चरक, शारीर ४) । गर्भस्त्वामगर्भेण । (आप्यायते) । (चरक, शारीर ६) । गर्भस्त्वामगर्भेणेत्यत्र आमगर्भेणाण्डादिरूपेण समुदितानां मांसादीनां सम्यगनिष्पन्नानां च वृद्धिरुच्यते । (चक्रपाणिदत्त) । समासतः सर्वमतिगुरुणीक्ष्णरूक्षमन्नपानं (गर्भोपघातकरत्वाच्च सेवेत) । (अष्टांगसंग्रह, शारीर २) । नवनीतदृष्टक्षीरैः सदा चैनामुपाचरेत् ॥ उपवासाध्वतीक्ष्णोष्णगुह-विष्टम्भिभोजनम् (त्यजेत्) । (अष्टांगहृदय, शारीर १) । निषिद्ध आहार और कुछ द्रव्यों के अतियोग के संबंध में चरक में लिखा है—मधुनित्या पिपासाकुम्पलप्लवितमनवस्थितचित्तं वा, गोधामांसप्राया शार्करिणमभरिणं शनैर्मेहिणं वा, वराहमांसप्राया रक्ताक्षं क्रथनमतिपरुषरोमाणं वा, मत्स्यमांसनित्या चिरनिमेघं स्तब्धाक्षं वा, मधुरनित्या प्रमेहिणं मूकमतिस्थूलं वा, अम्लनित्या रक्तपित्तं त्वगक्षिरोगिणं वा, लवणनित्या शीघ्रबलीपलितं खालित्यरोगिणं वा, कटुकनित्या दुर्बलमव्यशुकमनपत्यं वा, तिक्तनित्या शोषिणमवलमनुपचितं वा, कषायनित्या श्यावमानाहिनमुदावर्तिनं वा । यच्च यस्य यस्य व्याधेर्निदानमुक्तं तत्तदासेवमानाऽन्तर्वली तन्निमित्तविकारबहुलमपत्यं जनयति । तस्मादहितानाहारविहारान् प्रजासम्प्रदिमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण

वर्जयेत् ॥ (चरक, शारीर ८) । डा० निकोलस गर्भवती स्त्री के आहार के संबंध में लिखते हैं—Her diet should be moderate, simple, pure and perfectly healthful; consisting chiefly of brown bread and its equivalents, Fruit, milk, vegetables, with little, if any, flesh meat, no heating or exciting condiments, and no tea, coffee, or alcoholic stimulents. *Esoteric Anthropology*. (२) स्वच्छता—इसमें शरीर की अन्तर्बाह्य स्वच्छता का समावेश होता है । बाह्य स्वच्छता में स्नान के द्वारा त्वचा की सफाई, निर्मल शुभ्र-वस्त्रपरिधान, मलिन विकृतादि दूर रहना, स्नान के समय तथा मलमूत्र विसर्जन के पश्चात् प्रत्येक समय गुद्भागों की स्वच्छता, इनका समावेश होता है । अन्तःस्वच्छता में मलमूत्र के आवेगों को न रोकना (वेगविधारणं त्यजेत् । अष्टांग-हृदय), पर्याप्त मात्रा में जल सेवन करके मूत्र के द्वारा विषैले पदार्थों को बाहर निकालना, मलावरोधक आहार को न सेवन करके जिससे कब्ज पैदा न हो ऐसे साग, सब्जी, फल—इनका सेवन करना, मलावरोध होने पर मृदु विरेचन (जैसे, परंढी का तेल, लिक्विड पैराफिन) से कब्ज को दूर करना, खुली हवा में प्रतिदिन सुबह-शाम थोड़ी देर तक टहलकर फुफ्फुस के द्वारा रक्तशुद्धि करना इत्यादि बातों का समावेश होता है । बहिर्निष्क्रमणम्—यहाँ पर इसका विचार करना आवश्यक है । बाहर जाने का निषेध इस सूत्र में किया गया है । इसका अभिप्राय यह नहीं है कि स्त्री घर के बाहर ही न निकले, न खुली हवा में टहलने के लिए जाय । बहिर्निष्क्रमण का निषेध दो दृष्टि से किया गया है । प्रथम दृष्टि स्थान की होती है । चैत्य, इमशान, कब्रस्थान, चत्वर, शून्यस्थान, वध्यस्थान इत्यादि मन में उद्वेग, विषण्णता, भय इत्यादि भाव उत्पन्न करने वाले स्थानों में जाने का निषेध इसलिये होता है कि ये भाव माता के द्वारा गर्भ पर भी खराब परिणाम करते हैं । दूसरी दृष्टि स्त्री की होती है । लज्जा स्त्री का एक स्वाभाविक गुण है । स्त्री का यह गुण पुरुषसमाज में जाने पर अधिक प्रकट होता है । उसमें भी यदि स्त्री गर्भवती हो तो अधिकतम स्पष्ट हो जाता है । लज्जा के मारे स्त्री सिर नीचा करके और छाती सिकोड़कर चलती है । ऐसी अवस्था में बहिर्निष्क्रमण से उसको कुछ भी फायदा नहीं हो सकता । इसलिये गर्भवती स्त्री को ऐसे स्थान में न जाना उचित है, जहाँ पर उसको अधिक लज्जा मालूम हो और लज्जा के मारे चलने फिरने में बाधा उत्पन्न हो जाय । देवताओं और साधु-संतों के दर्शन के लिए, कथा पुराण प्रवचनादि धार्मिक कथा सुनने के लिए बाहर जाने में कोई आपत्ति नहीं होती है । प्राचीन काल में स्त्रियाँ इन्हीं कारणों के लिए बाहर जाया करती थीं । आधुनिक काल के समान केवल टहलने के लिए बाहर जाने का रिवाज उस काल में नहीं था । देवता-ब्राह्मण-गुरुपरता जैसे घर में होती थी, वैसे ही बाहर जाकर उनके दर्शनों और पूजाओं द्वारा भी होती थी । इसलिये बहिर्निष्क्रमण का निषेध चैत्यादि स्थानों के लिए तथा जहाँ पर स्त्री को मानसिक स्वतन्त्रता

नहीं मिल सकती, उन स्थानों के लिए समझना उचित है । (३) मनःशान्ति—उत्तम आहार, पर्याप्त गाढ निद्रा, अनुकूल अनुद्वेगकर इन्द्रियार्थ, आस्तिक्य, ये मनःशान्ति प्राप्त करने के उपायों में महत्त्व के उपाय हैं । इनमें 'हृषं द्रवं शुष्कं पर्युषितम्' से उत्तम आहार का दिग्दर्शन, 'शयनास्तरणम्' से रात में उत्तम गाढ निद्रा प्राप्त होने के उपाय का दिग्दर्शन, 'दुर्गंधदुर्दर्शनानि उद्वेजनीयाश्च कथाः, क्रोधभयसंकराश्च भावान्' इस से अनुकूल इन्द्रियार्थ (चरक में लिखा है—सर्वेन्द्रियप्रतिकूलं भावान् दूरतः परिवर्जयेत् । शारीर ४), 'शान्तिमंगल' से आस्तिक्य दिग्दर्शन किया गया है । गर्भिणी के स्वस्थवृत्त में उसकी मानसिक स्थिति एक महत्त्व का अंग है । यह मनःस्थिति गर्भ के ऊपर कैसे और कितने अंश में परिणाम करती है । यह यद्यपि ठीक नहीं कहा जा सकता तथापि गर्भिणी का मनःस्वास्थ्य गर्भस्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक है, इसको प्राश्नास्य पण्डित भी मानते हैं—The mental condition and the surroundings of the pregnant woman are of importance, in as much as they largely influence her physical well being and hence that of the foetus. A pregnant woman should, as far as possible be sheltered from all influences which tend to give rise excitement, annoyance or depression. *Gellet's Midwifery*. No work should worry her no anxiety disturb her, no lust excite or torment her. *Esoteric Anthropology*. (४) प्रत्यक्ष गर्भघातक कर्म—यद्यपि उपर्युक्त तीनों विषय अप्रत्यक्षतया गर्भ के लिए घातक हो सकते हैं, तथापि उनका प्रत्यक्ष गर्भ से कोई संबंध नहीं है । परंतु अतिव्यवाय, अतिव्यायाम, अधिक भारी बोझ उठाना, उत्कटकासन, वेगविधारण, उदर के ऊपर प्रहार, प्रपीडन, अतिमात्रसंशोभक यान में सवारी करना, तीव्र वमन विरेचन ये तथा इस प्रकार के अन्य दारुण कर्म गर्भपात या गर्भह्रास में प्रत्यक्ष सहायता करते हैं ।

संक्षेप में गर्भिणी को पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक आहार सेवन करना चाहिए । शरीर की अन्तर्बाह्य स्वच्छता रखनी चाहिए, मन को प्रसन्न और शान्त रखना चाहिए और मन की शान्ति को बिगाड़ने वाले तथा गर्भ के लिए घातक कर्मों से दूर रहना चाहिए ।

विशेषतस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुरशीतद्रवप्रायमाहारमुपसेवेत, विशेषतस्तु तृतीये षष्टिकौदनं पयसा भोजयेच्चतुर्थे दध्ना पञ्चमे पयसा षष्ठे सर्पिषा चैत्येके, चतुर्थे पयोनवनीत-संस्पृष्टमाहारयेज्जाङ्गलमांससहितं हृद्यमन्नं भोजयेत्, पञ्चमे क्षीरसर्पिःसंस्पृष्टं, षष्ठे श्वदंष्ट्रासिद्धस्य सर्पिषो मात्रां पाययेद् यवागूं वा, सप्तमे सर्पिः पृथक्-पण्यादिसिद्धम्, एवमाप्यायते गर्भः, अष्टमे बद-रोदकेन बलातिबलाशतपुष्पापलपयोदधिमस्तु-

तैललवणमदनफलमधुघृतमिश्रेणास्थापयेत् पुराण-
पुरीषशुद्ध्यर्थमनुलोमनार्थं च वायोः, ततः पयो-
मधुरकषायसिद्धेन तैलेनानुवासयेत्, अनुलोमे हि
वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति, अत ऊर्ध्वं
स्निग्धाभिर्यवाण्भिर्जाङ्गलरसैश्चोपक्रमेदाप्रसवका-
लात्; एवमुपक्रान्ता स्निग्धा बलवती सुखमनु-
पद्रवा प्रसूयते ॥३॥

(गर्भिणी का मासानुमासिक आहार-क्रम—)
विशेषतया गर्भिणी प्रथम, द्वितीय और तृतीय महीने में
मधुर, शीतवीर्य, तरलभूयिष्ठ आहार सेवन करे । विशेष
करके तीसरे महीने में सांठी चावल के भात को दूध के
साथ खिलावे, चौथे (महीने) में दही से, पाँचवें (महीने)
में (फिर) दूध से, छठे (महीने) में घी से ऐसा कुछ
आचार्यों का कथन है । चौथे महीने में दूध और मक्खन
के साथ, जांगल (प्राणियों के) मांस से युक्त दूध
(रुचिकर) अन्न खिलावे । पाँचवें (महीने) में दूध और
घी से युक्त (अन्न खिलावे) । छठे (महीने) में गोखरू
से सिद्ध घी या यवागू मात्रानुसार पिलावे । सातवें में
पृथक्पर्णी (विदारिगन्धादि गण) आदि द्वारा साधित घृत
(पिलावे) । इस प्रकार गर्भं परिवर्धित होता है । आठवें
में बला, अतिबला, शतपुष्पा, पल्ल, दूध, दही का पानी,
तेल, नमक, मैनफल, शहद और घी (इन वस्तुओं) से
मिश्रित बेर के काथ से पुराने मल के विशोधन के लिए
तथा (अपान) वायु के अनुलोमन के लिए आस्थापन
(निरूहवस्ति) करावे; उसके पश्चात् दूध और मधुर (गण
की ओषधियों के) काढे से सिद्ध किये हुए तेल का
अनुवासन करावे । वायु अनुलोम होने पर (गर्भिणी स्त्री
बालक को) सुख से जन्म देती है और उपद्रवविरहित
होती है । इसके पश्चात् प्रसव काल तक स्निग्ध यवागुओं
और जांगल (प्राणियों के मांस) रसों द्वारा (उसकी)
चिकित्सा करे । इस प्रकार (प्रथम मास से प्रसव काल
तक) उपक्रान्ता (गर्भिणी) स्निग्ध और बलवान्
(होकर) उपद्रव के सिवा सुख से प्रसूत होती है ॥३॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भिणी का मासानुमासिक
आहारक्रम वर्णन किया है । इत्येके—यह मतभेद 'विशेषत-
स्तु तृतीये षट्कौदनम्' से 'षष्ठे सर्पिषा' तक है । पृथक्पर्णी—
पृथक्पर्णी; विदारिगन्धादिगणगत ओषधि । आदि शब्द
से विदारिगन्धादिगण का ग्रहण कर सकते हैं । पल्ल—
पल्लशब्देनात्र ग्राम्यजाङ्गलमांसयोरेव परिग्रहः क्रियते । अत्र
बलादीनां चतुर्णां शरावमितः काथः पयःप्रभृतीनां त्रयाणामर्ध-
शरावो मधुतैलघृतानां प्रत्येकशः कर्षो लवणमदनयोस्तु शाण
एवालमास्थापनाय ॥ (हाराणचन्द्र) ।

सातवें महीने से उदर पर किकिस (तीसरे अध्याय
के १५वें सूत्र का वक्तव्य देखो) तथा कण्डु उत्पन्न होती
है । उसकी चिकित्सा चरक में लिखी है—तत्र कोलोदकेन
नवनीतस्य मधुरौषधसिद्धस्य पाणितलमात्रं काले कालेऽस्यै पानार्थं

दद्यात् । चन्दनमृणालकल्कैश्चास्याः स्तनोदरं विमृष्टीयात् । शिरीष-
धातकीसर्पपमधुकचूर्णैर्वा, कुटजाजकबीजमुस्तहरिद्राकल्कैर्वा,
निम्बकोलसुरसमजिष्ठाकल्कैर्वा, पृष्ठहरिणशशरुधिरयुतया त्रिफलया
वा; करवीरपत्रसिद्धेन तैलेनाभ्यङ्गः, परिषेकः पुनर्मालती-
मधुकसिद्धेनाम्भसा, जातकण्डुश्च कण्डूयनं वर्जयेत्स्वर्गमेदवैरूप्य-
परिहारार्थम्, असंख्यायां तु कण्ड्वामुन्मर्दनोद्धर्षणाभ्यां परिहारः
स्यात् । मधुरमाहारजातं वातहरमल्पमस्त्रेहलवणमल्पोदकानुपानं
च भुञ्जीत । (शारीर ८) । अनुवासयेत्—चरकसंहिता में
अनुवासनवस्ति के लिए प्रयुक्त तैल से गर्भिणी की योनि
में तैलपिचु रखने के लिए लिखा है—अतश्चैवास्यास्तैलात्
पिचुं योनौ प्रणयेद्गर्भस्थानमार्गस्त्रेहनार्थम् ॥ योनि में रखने की
ओषधियुक्त रुई को मेडिकेटेड टम्पून (Medicated
tampoon) कहते हैं । गर्भस्थानमार्ग स्त्रेहन करने के लिए
योनि में तैलपिचु (Oiled tampoon) रखने की कृति में
बहुत व्यावहारिक तत्त्व भरा है । तैलपिचु एक प्रकार से
योनिमार्ग का अभ्यंग है । अभ्यंग से जैसे त्वचा मृदु होती
है, उसकी रूक्षता दूर होती है, स्फुटन नहीं होता, वह
तनाव सहन कर सकती है, वैसे ही तैलपिचु से योनिमार्ग
मृदु होता है, उसकी रूक्षता दूर होती है, उसमें स्फुटन
नहीं होता और वह तनाव सहन कर सकता है । ये सब
गुण प्रसूति के समय योनिमार्ग में आवश्यक होते हैं
क्योंकि उस समय उसमें काफी तनाव पैदा होता है ।
यदि उसमें मृदुता और तनाव सहन करने की शक्ति न हो
तो उस समय उसमें विदार (Laceration) उत्पन्न होने
का डर रहता है । आधुनिक काल में प्रसूति के समय
जननेन्द्रिय की सफाई करने के लिए, विविध प्रकार के
जीवाणुनाशक या उपसर्गनाशक ओषधियों के घोल प्रयुक्त
करते हैं । इनके संबंध में इस बात पर ध्यान दिया जाता
है कि इनके प्रयोग से जननेन्द्रिय में सख्ती पैदा न हो
जाय, बल्कि कुछ स्त्रेहन हो । इस दृष्टि से रसकपूर का घोल
यद्यपि उत्तम जीवाणुनाशक होता है तथापि सख्ती पैदा
करने के कारण पसंद नहीं किया जाता, क्योंकि उसके
उपयोग से विदारण होने की संभावना होती है । लायसोल
(Lysol) इसलिये पसंद किया जाता है कि उससे कुछ
मृदुता तथा स्त्रेहन पैदा होता है—In all cases, the
external genitals must be well washed by the
nurse with soap and water and then bathed with
an unirritating antiseptic. For this purpose
lysol is most suitable. The use of corrosive
sublimate for this purpose during labour is
contraindicated, as it constricts the parts, and
so makes them prone to lacerate. Gellat's Mid-
wifery. इसलिये, नौवें महीने से योनि में तैलपिचु धारण
करने की पद्धति प्रसूति के समय अपत्यमार्ग विदारण से
बचने के लिए बहुत उत्तम है, इसमें कोई संदेह नहीं है
और इसका उपयोग जरूर करना चाहिए । रात में सोने
के समय इसका प्रयोग करने से और सुबह के समय उसको
निकाल देने से स्त्री को किसी प्रकार की असुविधा या

तकलीफ या बेचैनी नहीं मालूम होगी । अनुपद्रवा प्रसूयते—यहाँ पर केवल प्रसूति के समय के उपद्रवों का विचार करना है । प्रसूति के पूर्व और पश्चात् जो उपद्रव होते हैं, उनका विचार आगे १८वें श्लोक में किया गया है । प्रसवकालीन उपद्रव अधिकतर गर्भाशय की विकृति से उत्पन्न होते हैं । गर्भाशय में अत्यंत प्रबल संकोच उत्पन्न होने से साहस प्रसव (Precipitate labour) होता है, जिसमें अत्यल्पकाल में बालक तोप के गोले की तरह अचानक बाहर फेंका जाता है । यदि अपत्यमार्ग ठीक विस्फारित न हुआ हो तो उसमें विदारण पैदा होता है और प्रसवोत्तर रक्तस्राव भी होता है । कभी कभी गर्भाशय में कमजोरी के कारण संकोच उत्पन्न ही नहीं होते या अल्पबल होते हैं, जिससे गर्भ आशय के बाहर नहीं आ सकता । इस संकोच-हीनावस्था को गर्भाशयासंग (Uterine inertia) कहते हैं । इसका उल्लेख सूत्रस्थान के ३३वें अध्याय के १२वें श्लोक में 'गर्भकोष परासंग' करके किया गया है । इस गर्भाशय की विकृति के सिवा प्रसव के समय अपत्यमार्ग का विदारण भी होता है । इस सूत्र में तथा इसके पहले और तीसरे अध्याय के १६वें सूत्र में बताये हुए आहार-विहार के अनुसार गर्भिणी की परिचर्या करने से कालप्रसवपूर्व प्रसवकालीन तथा कुछ अंश में प्रसवोत्तर उत्पन्न होने वाले उपद्रव टल जाते हैं ।

नवमे मासि सूतिकागारमेनां प्रवेशयेत् प्रशस्ततिथ्यादौ, तत्रारिष्टं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिप्रदेशेषु विल्वन्यग्रोधतिन्दुकभल्लातकनिर्मितं सर्वांगारं यथासङ्ख्यं तन्मयपर्यङ्कमुपलितमिति सुविभक्तपरिच्छदं प्राग्द्वारं दक्षिणद्वारं वाऽष्टहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामङ्गलसंपन्नं विधेयम् ॥४॥

(सूतिकागार—) नौवें महीने में शुभ तिथ्यादि पर उसको सूतिका घर में प्रवेश करावे । यह सूतिकागृह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों (की स्त्रियों) के लिए क्रमशः सफेद, लाल, पीली और काली भूमि पर बेल, बरगद, तिन्दुक और भिलावे (की लकड़ी) से निर्मित, इन्हीं (की लकड़ी) से निर्मित पलंगयुक्त, जिसकी दीवाल लीप-पोतकर अच्छी तरह साफ की गई हो, जिसमें (प्रसवोपयोगी सब) सामग्री यथास्थान रक्खी गई हो, जिसका द्वार पूर्व या दक्षिण की ओर हो, आठ हाथ लम्बा और चार हाथ चौड़ा और रक्षामङ्गलसंपन्न, ऐसा बनावे ॥४॥

वक्तव्य—सूतिकागारम्—यत्र गर्भिणी प्रसूता यत्र च तिष्ठति तत् सूतिकागारमुच्यते । (चक्रपाणिदत्त) । नवमे मासि—नौवें महीने में गर्भिणी सूतिकागृह का आश्रय करती है, इसलिए सूतिकागृह आठवें महीने के अन्त तक सब तैयार हो जाना चाहिए—प्राक् चैवास्या नवमान्मासात् सूतिकागारं कारयेत् । (चरक) । प्रशस्ततिथ्यादौ—तिथ्यादि पंच अंगों

की प्रशस्तता जिस समय हो, उस समय पर—तिथिवारंश्च नक्षत्रं योगः करणमेव च ॥ नौवाँ महीना प्रारंभ होने पर सर्वप्रथम जो तिथ्यादि शुभ योग मिलेगा, उस योग पर । चरकसंहिता में सूतिकागार प्रवेश की विधि निम्न प्रकार से वर्णन की गई है—ततः प्रवृत्ते नवमे मासे पुण्येऽहनि प्रशस्तनक्षत्रयोगमुपगते प्रशस्ते भगवति शशिनि कल्याणे च करणे मैत्रे मुहूर्ते शान्तिं हुत्वा गोब्राह्मणमग्निमुदकं चादौ प्रवेश्य गोभ्यस्तृणोदकं मधुलाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽक्षतान् सुमनसो नान्दीमुखानि च फलानीष्टानि दत्त्वोदकपूर्वमासनस्येभ्योऽभिवाद्य पुनराचम्य स्वस्ति वाचयेत् । ततः पुण्याहशब्देन गोब्राह्मणं समनुवर्तमाना प्रदक्षिणं प्रविशेत् सूतिकागारम् । (शारीरस्थान ८) । सूतिकागार में एक बार प्रवेश करने पर स्त्री वहीं पर प्रसवकाल तक रहती है और उसके पास हमेशा प्रजननकुशल स्त्रियाँ भी रहा करती हैं—तत्रोदीक्षेत सा सृतिं सूतिका परिवारिता । (अष्टांगहृदय) । अहमत्र प्रसविष्ये इति चेतसि विधाय सा गर्भिणी तत्राऽसीदित्यर्थः । किंभूता सूतिका परिवारिताऽनेकवारप्रसवानुभूततत्कालोचितव्यवहारकुशलभिः स्त्रीभिः परिवारिता । (अरुणदत्त) । अरिष्टम्—सूतिकागारम्—अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा । (रघुवंश ३) । ब्राह्मणक्षत्रिय इत्यादि—चरकसंहिता में ब्राह्मणक्षत्रियादि वर्णों की दृष्टि से भूमि और काष्ठ की प्रशस्तता न बतलाकर साधारण प्रशस्तता बतलाई है—अपहतास्त्रिशर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ वैल्वानां काष्ठानाम् आगारं कारयेदिति संबंधः । (चक्रपाणिदत्त) । तैन्दुकैर्जुदकानां भल्लातकानां वारुणानां खादिराणां वा । (चरक) । सर्वांगारम्—प्रसूतिगृह का जो भाग लकड़ी से बनाया जाता है—जैसे, चौखट, किवाड़, खिड़कियाँ, अलमारियाँ, खूँटियाँ इत्यादि—वह सर्व भाग जिसमें उपर्युक्त वृक्षों की लकड़ी से निर्माण किया गया है । यथासंख्यम्—इसका संबंध भूमि, लकड़ी और पलंग के साथ है । अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण के लिए भूमि श्वेतवर्ण हो, मकान की लकड़ी बेल की हो, और खटिया भी उसी की बनाई जाय । इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भी समझ लेना चाहिए । सुविभक्तपरिच्छदम्—जिसमें प्रसवोपयोगी साधन-सामग्री (परिच्छद) इस प्रकार विभक्त याने व्यवस्थित रक्खी हुई है कि आवश्यकता के समय वहाँ की प्रत्येक वस्तु आसानी से और शीघ्रता से मिल सके । चरकसंहिता में प्रसवोपयोगी साधन-सामग्री का वर्णन निम्न प्रकार से मिलता है—तत्र सर्पिस्तैलमधुसैन्धवसौवर्चलकालविल्वलवणविडङ्गकुष्ठकिल्मिनागरपिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीमण्डूकपर्णैलालाङ्गलीवचाचव्यचित्रकचिरविल्वहिंगुसर्षपलशुनकतककणकम्बिकानीपातसीबल्लवजभूर्जकुलत्थमैरेयसुरासवाः सन्निहिताः स्युः, तथाऽश्मानौ दौ, द्वे च (कुण्ड)मुसले, द्वे उदूखले, खरवृषभश्च, द्वौ च तीक्ष्णौ सूचीपिप्पलकौ सौवर्णराजतौ, शस्त्राणि च तीक्ष्णायसानि, द्वौ च विल्वमयौ पर्यङ्कौ, तैन्दुकैर्जुदानि च काष्ठान्यग्निस्त्रिभुक्षपानि ॥ वसनालेपनाच्छादनापिधानसंपेदुपेतम् ॥ दक्षिणद्वारं वा—चरक में दक्षिण के बदले उत्तर दिशा में द्वार बतलाया है—प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा । साधारणतया दक्षिण दिशा यम की

होने के कारण अशुभ मानी जाती है । अष्टहस्तायतं चतुर्हस्त-विस्तृतम्—आधुनिक परिभाषा के अनुसार २१-१४ फुट लम्बा और ६-७ फुट चौड़ा प्रसवागार होगा । केवल स्त्री के लिए यह स्थान पर्याप्त हो सकता है, परंतु प्रसूति की दृष्टि से यह स्थान अपर्याप्त मालूम होता है । चरकसंहिता में कई जगह गृहों का वर्णन किया गया है । जैसे—कुमारागार, सूतिकागार (शारीर ८), वैद्यगृह इत्यादि । परंतु कहीं पर रोगी के लिए स्थान की मर्यादा नहीं बताई है । इनमें वैद्यगृह का वर्णन एक दृष्टि से आदर्श वर्णन है, इसलिए उसका वर्णन नीचे दिया जाता है—दृढं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचारमनुपत्यकं धूमातपजलरजसामनभिगमनीय-मनिधानां च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सोदपानोदूखलमुसलवर्चः-स्थानस्नानभूमिमहानसं वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं गृहमेव तावत् पूर्वमुपकल्पयेत् । (सूत्रस्थान १५) । जहाँ पर स्त्री तीन चार महीनों तक रहेगी वहाँ पर स्नान करना, पाखाना, पेशाब करना, रसोई बनाना, उपर्युक्त सब साधनसामग्री रखना, प्रसूता के पास रहने वाली कोई स्त्री या नौकरानी का रहना इन सबों के लिए स्थान की आवश्यकता होगी । केवल एक गर्भवती या प्रसूता स्त्री की खटिया रखने से काम नहीं चलेगा । चरकसंहिता में इन सब बातों का विचार करके लिखा है—सूतिकागारं कारयेत्, वास्तुविद्या हृदययोगाग्निसिलिलोदूखलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृत्सुखं च ॥ अर्थात् सूतिकागृह काफी विस्तृत होना चाहिए, जिसमें स्नानगृह, वर्चःगृह (पाखाना), महानस (रसोई घर) तथा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए काफी स्थान हो । इसके सिवा सब साधन-सामग्री रखने पर भी उसमें संचार करने के समय किसी प्रकार की कठिनाई न होनी (सुखप्रविचारम्) चाहिए । इससे यह स्पष्ट होगा कि ८×४ हाथ का यहाँ पर वर्णन किया हुआ सूतिकागृह स्त्री के उठने, बैठने, लेटने का ही स्थान समझना चाहिए । उसमें स्नानगृहादि का समावेश नहीं हो सकता । रक्षामङ्गलसंपन्नम्—भूत, प्रेत, पिशाचादि से रक्षा करने के लिए ऋग्यजुःसामाथर्ववेद के मंत्रों का पाठ तथा सर्षपादिष्ट का धूपन (सूत्रस्थान १९-२६, २७ देखो) इत्यादि का प्रबंध जिसमें किया गया हो—भूषितार्चितसंमृष्टं मशकाद्यपवर्जितम् । ब्रह्मघोषैः सवादित्रैर्वादित्रं वेश्म शस्यते ॥ (काश्यपसंहिता, जातिसूत्रीय शारीराध्याय) । किंवा चरक के अनुसार निम्न प्रबंध जिसमें किया गया हो—आदनी-खदिरकैर्कन्धुपीलुपल्लवकशालाभिरस्या गृहं समन्ततः परिवारयेत् । सर्वतश्च सूतिकागारस्य सर्षपातसीतण्डुलकणकणिकाः प्रकियेयुः । द्वारे च मुसलं देहलीमनुतिरश्चीनं न्यसेत् । वचाकुष्ठसौमकहिङ्गु-सर्षपातसीलशुनकणकणिकानां रक्षोघ्नसामाख्यातानामौषधीनां पोष्ट-लिकां बद्ध्वा सूतिकागारस्योत्तरदेहल्यामवसृजेत्, तथैव च द्वयो-र्द्वारपक्षयोः । अनुपंतरप्रदानमङ्गलाशीःस्तुतिगीतवादित्रं च तद्वेश्म कार्यम् । (शारीर १०) । सूतिकागार कैसा होना चाहिए ?—चरक तथा सुश्रुत में सूतिकागृह का जो वर्णन मिलता है, उससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय प्रसूति के लिए रहने के मकान से स्वतन्त्र स्थान बनाने की पद्धति प्रचलित थी । प्रत्येक समय अस्थायी स्वरूप की शोपड़ी की तरह ये

सूतिकागृह बनाये जाते थे, ऐसा मालूम होता है । आधुनिक परिस्थिति में इस प्रकार का प्रबंध कुछ अव्यावहारिक मालूम पड़ता है । परंतु यदि इस प्रकार के गृह स्थायी और पक्के बनवाये जायें तो इनकी तुलना आधुनिक प्रसूति-गृहों (Maternity-homes) के साथ की जा सकती है । कुछ भी हो यह पद्धति उत्तम है, इसमें कोई शक नहीं है । आधुनिक प्रसूतिगृह सब साधन-सामग्री से सुसज्ज, सुप्रकाश युक्त, स्वच्छ और हवादार होते हैं । अब हमारे यहाँ इस समय प्रसूति के लिए घर में ही एक कमरा दिया जाता है । यदि उसकी ओर ध्यान दिया जाय तो वह अत्यंत अँधेरा, हवाबंद और अत्यंत गन्दा होता है । इस प्रकार का स्थान प्रसूति के लिए देना अस्वास्थ्यजनक ही नहीं, बल्कि हानिकारक है । इसके साथ साथ आधुनिक प्रसूति-गृहों में पाश्चात्त्यों की देखा-देखी प्रकाश और हवा का जो अतियोग होता है, वह भी ठीक नहीं है । प्रसूति-गृह में प्रकाश और हवा का प्रबंध प्रसूता स्त्री और नवजात बालक की दृष्टि से होना आवश्यक है । प्रसूता स्त्री बीमार नहीं है कि उसके शरीर से तथा श्वास-प्रश्वास से खराब चीजें और वायु अधिक मात्रा में निकलती हों । प्रसूता स्त्री प्रसववेदना और रक्तस्राव के कारण अत्यंत परिश्रान्त होती है । प्रसूता स्त्री के रोग के असाध्य होने के कारणों में इसी कारण का ही प्रामुख्य से निर्देश किया गया है—गर्भवृद्धिक्षयितिशियलसर्व-धातुत्वात्, प्रवाहणवेदनाद्धेदररक्तनिःसृतिविशेषश्च शरीरत्वाच्च । (चरक) । परिश्रान्त दुर्बल मनुष्य आराम करने के लिए हमेशा हवा के शोकेक्षपाटे से दूर (निवात) और कुछ अँधेरा ही स्थान पसंद करता है, और डाक्टर या वैद्य भी ऐसे ही स्थान में आराम करने की सलाह उसको देते हैं । अब गर्भ की दृष्टि से विचार किया जायगा । गर्भ महीनों तक हवा और प्रकाश के लिए बंद स्थान में रहता है । जन्म के पश्चात् वह हवा और प्रकाश के स्थान में आता है । जन्म के पश्चात् बालक को हवा की आवश्यकता होती है परंतु प्रकाश की नहीं होती । एक दृष्टि से देखा जाय तो उसकी आँखें प्रकाश सहन करने की स्थिति में नहीं होतीं । निम्न श्रेणी के प्राणियों में, पक्षियों में, बच्चों की आँखें कुछ दिनों तक बंद रहती हैं, पश्चात् धीरे धीरे खुलती हैं । इसमें तत्त्व है । सभी लोक जानते हैं कि जो मनुष्य सजा होने के कारण अँधेरी कोठरी में महीनों तक रहा है, वह मनुष्य छुटकारा होने पर भी प्रकाशयुक्त स्थान में जाना पसंद नहीं करता और न उसकी आँखें प्रकाश को सहन कर सकती हैं । अगर जबरदस्ती वह मनुष्य अँधेरी कोठरी से प्रकाश के स्थान में लाया जाय तो उसकी आँखें खराब होने की संभावना होती है । जिसको बहुत दिनों से अन्न नहीं मिल रहा है, या जिसने बहुत दिनों तक अन्न-सत्याग्रह किया है, उसको प्रारंभ से ही भरपेट अन्न देने की सिफारिश कोई नहीं करेगा, क्योंकि उससे अन्नसत्याग्रही के नाश होने का डर होता है । यही संबंध बालक की आँखों में और प्रकाश में होता है, और होना भी चाहिए । परंतु इस बात की ओर पाश्चात्त्य ढंग के अनुसार प्रसूति-

गृहों का प्रबंध करने वाले लोगों का बहुत कम ध्यान जाता है। इन बातों में आयुर्वेद का मत सुवर्णमध्यम (Golden mean) के समान ग्रहण करने योग्य है। आयुर्वेद में इनके स्थान हमेशा प्रवातैकदेश, निवात, आतपवर्जित और अतमस्क होने चाहिए, ऐसा आदेश किया जाता है—प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचौ आतपवर्जिते। निवाते न च रोगाः स्युः शरीरागन्तुमानसाः ॥ (सुश्रुत, सूत्रस्थान १९-३)। इस श्लोक का वक्तव्य भी देखो। वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं रम्यमतमस्कं निवातं प्रवातैकदेशं कुमारगारं कुयात् ॥ (चरक, शारीर १०)। इसका मतलब यह है कि सूतिकागार में एक रास्ते से हवा आती जाती रहे, जिससे कमरे के भीतर हवा की खुलासगी (Ventilation) अच्छी होती रहे, परंतु हवा के आवागमन का उपसर्ग प्रसूता स्त्री तथा उसका बालक जहाँ पर रहता हो, उस स्थान पर कदापि भी न पहुँच सके। अर्थात् प्रसूता और बालक का स्थान निवात हो और अन्य स्थान में हवा प्रवाह के रूप में बहती रहे। प्रकाश के बारे में भी ऐसा ही होना चाहिए। कमरे में इतना अँधेरा न हो कि भीतर कोई दिखाई ही न दे, तथा इतना असह्य प्रकाश भी न हो कि प्रसूता स्त्री तथा उसके बालक को प्रकाशसंत्रास (Photophobia), याने प्रकाश के कारण आँखें मूँदने की नौबत पैदा हो जाय। प्रकाश के लिए अभ्यस्त बालक को प्रकाश सहन करने का अभ्यास कराने का बहुत उत्तम विधान आयुर्वेद में वर्णन किया है। वह यह है कि प्रथम महीने में बालक को सूर्योदय के समय सूर्य का और प्रदोष में चन्द्र का दर्शन प्रतिदिन करावे—अथ खलु शिशोर्जातस्य तत्कर्मण्यभिनिर्वृते प्रथम एव मासि कृतरक्षाहोममङ्गलस्वस्थयनस्य सूर्योदयदर्शनोपस्थानं, प्रदोषे चन्द्रमसः ॥ (काश्यपसंहिता, जातकर्मोत्तर अध्याय)। इस विधि से यह स्पष्ट होगा कि जो दृष्टिकोण ऊपर बतलाया गया है, उसी दृष्टिकोण से बालक का कमरा आतपवर्जित रक्खा जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी इसमें कोई अवैज्ञानिक बात नहीं मालूम होती, बल्कि युक्ति-युक्त मालूम होती है। संक्षेप में, जैसे कि आयुर्वेद में वर्णन किया गया है, सूतिकागार स्वच्छ, सब साधन-सामग्रियों से सुसज्जित, स्नान-गृहादि सुविधाओं से युक्त, प्रशस्त, सुख-प्रविचारक, ऋतु के अनुसार सुखकर, प्रवात परंतु निवात, आतपवर्जित परंतु अतमस्क, और यदि हो सके तो मुख्य गृह से पृथक् होना उचित है।

जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबन्धने।

सश्ले जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी ॥५॥

(प्रसवसामीप्य के लक्षण—) कुक्षि में शिथिलता उत्पन्न होने पर, हृदय का बंधन मुक्त होने पर और जघन (प्रदेश) में पीड़ा होने पर स्त्री प्रजायिनी समझनी चाहिए ॥५॥

वक्तव्य—इस श्लोक में प्रसव समीप आ रहा है, इसके लक्षण बताये हैं। प्रत्यक्ष प्रसव-प्रारंभ के लक्षण नहीं बताये हैं। इनको प्रसवपूर्व लक्षण (Premonitory symptoms) कहते हैं। ये लक्षण प्रसव से लगभग दो

सप्ताह के पूर्व उत्पन्न होते हैं। जाते हि शिथिले कुक्षौ—गर्भाशय में गर्भ का आधान होने के पश्चात् मास प्रतिमास गर्भाशय की वृद्धि होती जाती है और उसकी वृद्धि का परिचय भगास्थि के ऊपर प्रतिमास उसकी ऊँचाई नापने से हो जाता है। नौवें महीने के अन्त तक गर्भाशय उदर-गुहा में बराबर ऊपर की ओर बढ़ता जाता है (तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक के वक्तव्य में गर्भाशयवृद्धि देखो), और माता की कुक्षि याने उदर खूब तन जाती है। इसके बाद गर्भाशय कुछ नीचे की ओर आता है और माता को कुक्षि में कुछ ढीलापन महसूस होने लगता है। मुझे हृदयबन्धने—नौवें महीने के अन्त तक गर्भाशय की इतनी वृद्धि होती है कि वह उदरगुहा को प्रायः पूर्णतया व्याप्त करता है और उसका ऊपर का सिरा महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm उदर और वक्ष के मध्य की प्राचीर) के ऊपर दबाव डालता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भिणी स्त्री को साँस लेने में कठिनाई होती है तथा हृदय महाप्राचीरा पेशी के ऊपर स्थित होने से उसके कार्य में याने संकोच-विकास में कुछ कठिनाई होती है, जिसको स्त्री भी अच्छी तरह महसूस करती है। इस गर्भवृद्धि का परिणाम यह होता है कि स्त्री को अपना हृदयप्रदेश जकड़ा हुआ सा मालूम होता है। गर्भावस्था के अन्तिम दो सप्ताहों में गर्भाशय कुछ नीचे की ओर आता है और उसका उदर में स्थान आठवें महीने के अन्त के बराबर हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि स्त्री का हृदय-बंधन छूट जाता है और उसको श्वास-प्रश्वास में आसानी मालूम होने लगती है। चरकसंहिता में साँस की इस कठिनाई को लक्ष्य में रखकर इस लक्षण का वर्णन 'विमुक्त-बन्धनत्वमिव वक्षसः' ऐसा किया गया है। काश्यपसंहिता में कुक्षि अर्थात् गर्भाशय के नीचे आने का स्पष्ट उल्लेख किया है—कुक्षेक्ष स्यादवसंसस्त्वधोभागस्य गौरवम्। (जातिसूत्रीय शारीराध्याय)। अर्थात् अन्तिम कुछ दिनों में स्त्री को कुछ हलकापन (Lightening) मालूम होता है—During the last two weeks of pregnancy, or occasionally rather earlier, the uterus sinks a little. If the patient has suffered from a sense of oppression and difficulty in breathing, she will now feel more comfortable and breathe with more freedom. This is sometimes spoken off as 'lightening'. Ten teacher's Midwifery. हाराणचन्द्र हृदय का अर्थ योनि और हृदयबन्धनमुक्ति का अर्थ गर्भाशयप्रीवा-मुखविस्तृति (Dilatation of the os) समझते हैं—रोहितमत्स्यस्य मुखाकारत्वेनोपदिष्टा हि योनिरवश्यं हृदयमप्यनुकरोति भूयिष्ठं तदाकारत्वात्। विशेषतश्चापन्ने गर्भे समं गर्भाभिवृद्ध्याऽभिवृद्धा अपि चोपस्थिते प्रजननकाले बहिर्द्वारं प्रत्यक्षुल्यग्राभिलक्षितत्वेनासन्नमुखी निसर्गत एव विमुक्तबन्धना भवत्वात्येन तदिदमुच्यते मुक्त इति। तथा च सिंहो माणवक इतिवद्गोप्यं हृदयशब्दो योनिं लक्षयतीति हृदयबंधने योनिमुखवन्धे मुक्ते अंगुल्यग्रेण स्फुटितत्वेनानुभूत इत्यर्थः।

हाराणचन्द्रजी का अर्थ निम्न कारणों से ठीक नहीं मालूम होता—(१) हृदय का सरल अर्थ कर सकते हैं, सरल अर्थ प्रत्यक्ष स्थिति के साथ भली भाँति मिलता है और किसी प्रकार का विरोध नहीं करता । ऐसी अवस्था में हृदय से योनि समझने का जो अति दूरान्वय किया गया है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती । (२) इस श्लोक में जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे प्रजायिनी स्त्री के हैं । आगे के सूत्र में जो लक्षण दिये हैं, वे आसन्नप्रसवा के हैं । अर्थात् ये दोनों अवस्थाएँ भिन्न हैं, इसमें कोई संदेह नहीं । प्रजायिनी स्त्री वह है, जिसका प्रसवकाल समीप आ गया है । प्रत्यक्ष प्रसव के लक्षण उसमें नहीं दिखाई देते । ये लक्षण गर्भिणी स्त्री के घर वालों को सावधान करने के लिए दिये गये हैं, क्योंकि इनके उत्पन्न होने पर प्रसव किसी दिन प्रारंभ हो सकता है । इसलिए ये प्रसवपूर्व लक्षण कहलाते हैं और इन लक्षणों से युक्त काल प्रसवपूर्व स्थिति (Premonitory stage) कहलाता है । इस स्थिति में गर्भाशयमुखविस्तृति नहीं होती है, प्रसव प्रारंभ होने के पश्चात् होती है । इसका विवरण आगे के सूत्र के वक्तव्य में किया जायगा अर्थात् यह लक्षण आसन्नप्रसवा स्त्री के लक्षणों में रखने योग्य है, प्रजायिनी के लक्षणों में रखने योग्य नहीं है । इसलिए इस श्लोक में यह अर्थ ठीक संगत नहीं मालूम होता । (३) अगर मान लिया जाय कि प्रसवपूर्व स्थिति में गर्भाशय मुख की कुछ विस्तृति होती है, जैसे कि जेलेट ने अपनी (Manual of Midwifery नामक) पुस्तक में वर्णन किया है, तब भी यह लक्षण केवल बहुप्रसवा (Multiparae) स्त्री में ही दिखाई देता है—In multiparae, the external os usually begins to dilate some days before the onset of labour, so that the finger may be passed a short way into the cervical canal. ये प्रसवपूर्वकालीन लक्षण प्रथमगर्भा स्त्री में अधिक दिखाई देते हैं और अनेकगर्भा स्त्रियों में बहुत कम दिखाई देते हैं या नहीं दिखाई देते; इसका स्पष्ट निर्देश जेलेट करते हैं—In primiparae the symptoms are well marked, in multiparae they may be slight or altogether absent. अब शारीरस्थान में ऋतु, ऋतुकाल, पुरुषसमागम, गर्भाधान, गृहीतगर्भा के लक्षण, प्रसव इत्यादि जो विषय वर्णन किये हैं उनका यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि ये सब विषय स्त्री में प्रथम बार यानि उसकी आयु में पहले पहल होने वाली घटनाओं के संबंध में लिखे गये हैं । अर्थात् इनका उपयोग बार बार होने वाली इन घटनाओं में होता है, यह दूसरी बात है । परंतु असल में ये प्रथमगर्भा स्त्री के निमित्त लिखे गये हैं । अर्थात् इस श्लोक के प्रसवपूर्वस्थिति के लक्षण भी प्रथमगर्भा स्त्री के ही हैं । अब जेलेट, जो बहुप्रसवा स्त्री में प्रसवपूर्वस्थिति में गर्भाशयमुखविस्तृति होती है, ऐसा लिखते हैं । वे कहते हैं कि प्रथमगर्भा स्त्री में इस प्रकार की विस्तृति नहीं होती—

In primiparae, there is, as a rule, no dilatation of either the internal or the external os until labour has actually begun. इस विवरण का तात्पर्य यह है कि हृदयबन्धन का अर्थ किसी भी दृष्टि से योनिमुख-विस्तृति नहीं हो सकता । सश्ले जघने—जघन से यहाँ नाभि और गुह्येन्द्रिय के बीच का भाग, यानि पेडू प्रदेश अभिप्रेत है । इस प्रदेश में प्रसवपूर्वकाल में कुछ पीड़ा होती है । यह पीड़ा पचनसंस्थान की खराबी से ही प्रायः हुआ करती है और विरेचन से या कोष्ठशुद्धि करने से दूर होती है । प्रसव के पूर्व होने से इसको प्रसववेदना या आवी (Labour pains) समझते हैं, परंतु यह पीड़ा आवी नहीं है । इसको अंग्रेजी में मिथ्यावी (False pains) कहते हैं । आवी और मिथ्या आवी में भेद—(१) मिथ्यावी प्रसव के पूर्व और आवी प्रसव के समय उत्पन्न होती है । (२) मिथ्यावी आन्त्रगत वायु या अन्य कारण से और आवी गर्भाशयसंकोच से उत्पन्न होती है । (३) मिथ्यावी आन्त्र में और आवी पीठ के नीचे के हिस्से में मालूम होती है । (४) मिथ्यावी का उद्भव अनियमित समय पर और आवी का नियमित समय पर होता है । (५) मिथ्यावी मालूम होने के समय गर्भाशय पर हाथ रखने से वह कड़ा नहीं मालूम होता, परंतु आवी के समय गर्भाशय कड़ा मालूम होता है । (६) यदि गर्भाशय का मुख विस्तृत हुआ हो, जैसे कि बहुगर्भा स्त्री में हुआ करता है, तो उसमें अँगुली डालने से मिथ्यावी के समय गर्भ के आवरण में कोई तनाव नहीं प्रतीत होता, परंतु आवी के समय होता है ।

इस तरह प्रसवपूर्व स्थिति में गर्भाशय का कुछ नीचे उतरना, उसके कारण हृदय के ऊपर का दबाव कम होकर श्वास-प्रश्वास में आराम मालूम होना और उदर में कुछ पीड़ा होना ये तीन लक्षण होते हैं । अब इसके बाद प्रसव प्रारंभ होने पर होने वाले लक्षण वर्णन करते हैं । इस प्रसव पूर्वकाल में मलमूत्रशुद्धि पर अधिक ध्यान देना चाहिए । यदि मलावरोध हो जाय तो बस्ति से कोष्ठशुद्धि कर लेनी चाहिए—तत्र (सूतिकागारे) अनुलेमनैराहार-विहारैरनुलेमितवातमूत्रपुरीषा प्रसवकालमुदीक्षेत । स्वल्पेऽपि च विण्मूत्रविबन्धे फलवर्तीः प्रणिदधात् । (अष्टांगसंग्रह, शारीर ३) ।

तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद् वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च ॥६॥

(आसन्नप्रसवा के लक्षण—) उपस्थितप्रसवा (स्त्री के कटी (समीपवर्ती) पीठ के पास तथा चारों ओर बार बार पीड़ा होती है, मल (का उत्सर्ग करने) की प्रवृत्ति होती है, मूत्र का स्राव होता है और योनिमुख से श्लेष्मा निकलता है ॥६॥

वक्तव्य—उपस्थितप्रसवा—जिसका प्रसव प्रारंभ हुआ है, ऐसी स्त्री । कटीपृष्ठ—कटीपृष्ठ का संधिस्थान यानि त्रिक (Sacrum)—स्फिक्सवन्धोः पृष्ठवंशास्त्रोः संधिस्तत्र त्रिक मतम् । अभीक्ष्णम्—इसका संबंध वेदना, मूत्र और श्लेष्मा का

प्रसेक तथा पुरीष प्रवृत्ति के साथ होता है। पुरीषप्रवृत्तिभूतं प्रसिच्यते—प्रसव के समय गर्भ का सिर नीचे की ओर आता है और मलाशय तथा मूत्राशय के ऊपर दबाव डालता है। इसके साथ साथ गर्भाशय में, जो कि मलाशय और मूत्राशय के बीच में है, संकोच उत्पन्न होता है। इन कारणों से स्त्री को बारबार मल-मूत्र त्याग करने की इच्छा हुआ करती है। योनिमुखाद् श्लेष्मा च—प्रथमगर्भा स्त्री में प्रसव के प्रारंभ से और बहुगर्भा स्त्री में उससे भी कुछ दिन पहले से गर्भाशय का मुख फैलने लगता है। संपूर्ण गर्भावस्था में प्रसवकाल तक योनिमुख बंद रहता है तथा उसमें मार्गविरोधक श्लेष्मा (Operculum) भी भरा रहता है। प्रसव के समय गर्भाशयमुख धीरे धीरे प्रसारित होता है। इसके प्रसारित होने से मुख के पास संसक्त हुआ गर्भावरण (जरायु) मुख से पृथक् होने लगता है। इसके पृथक् होने से कुछ रक्त और लसिका मुख के अभ्यन्तरीय स्थान से निकलने लगती है। इस तरह गर्भाशयमुख के प्रसारित होने से मुखस्थ श्लेष्मा तथा कुछ रक्त योनि से स्रवने लगता है। प्रसवारंभ के रक्तमिश्र श्लेष्मास्राव को शो (Show) कहते हैं। इससे यह पता चलता है कि गर्भाशयमुख प्रसारित हो रहा है। बहुप्रसवा स्त्री में यह लक्षण प्रसवपूर्वकाल में भी मिल सकता है क्योंकि उसके गर्भाशय का मुख कुछ पहले प्रसारित होने लगता है।

प्रसव की अवस्थाएँ—आधुनिक पाश्चात्य व्यवस्था के अनुसार प्रसव तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है। (१) प्रसरणावस्था (Stage of dilatation)—गर्भ बाहर निकलने के लिए गर्भाशयमुख काफी चौड़ा होने की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में यह मुख धीरे धीरे प्रसारित होता है। प्रथमप्रसवा स्त्री में प्रसारण के लिए अधिक समय (१२ घंटे या इससे अधिक) और अनेकप्रसवा में थोड़ा समय (५-७ घंटे) लगता है। यह अवस्था प्रसववेदना (आवी) के प्रारंभ से गर्भाशयमुख की पूर्ण विस्तृति तक होती है। (२) गर्भजन्मावस्था (Stage of expulsion of the child)—यह अवस्था गर्भाशयमुख की पूर्ण विस्तृति के समय से प्रारंभ होकर गर्भ का जन्म होने पर समाप्त होती है। प्रथमप्रसवा स्त्री में इसका काल साधारणतया १-२ घंटे का और अनेकप्रसवा में १०-१५ मिनट का होता है। (३) अपराजन्मावस्था (Placental stage)—यह अवस्था गर्भजन्म होने से प्रारंभ होकर अपरा के निकल आने पर समाप्त होती है। यदि अपरा को निकलवाने में कुछ सहायता दी जाय तो यह अवस्था १०-१५ मिनट में समाप्त होती है; परंतु कुछ भी मदद न दी जाय तो इसका काल कई घंटों का हो सकता है। साधारणतया हस्तकौशल से ही अपरा निकाली जाती है।

प्रसरणावस्था—इस सूत्र में प्रसरणावस्था के ही लक्षण वर्णन किये गये हैं। इस अवस्था के निम्न लक्षण होते हैं—

(१) प्रसववेदना या आवी (labour pains)—इस अवस्था का यह प्रधान लक्षण है और इसी के कारण अन्य लक्षण

उत्पन्न होते हैं। प्रसववेदना गर्भाशय के आकुञ्चनों से उत्पन्न होती है। ये आकुञ्चन अनैच्छिक, सान्तर और नियमित होते हैं। प्रारंभ में ये देर में याने आधे आधे घंटे में उत्पन्न होते हैं, अल्पबल और अल्पकालीन होते हैं। धीरे धीरे इनके बीच का काल कम होता जाता है और इनका बल और काल बढ़ता है, जिससे प्रसववेदना उत्तरोत्तर प्रबल और तीव्र होती जाती है। यह प्रसववेदना अनैच्छिक (अपने मन का या इच्छा का जिस पर अधिकार नहीं होता, ऐसी) होने पर भी लज्जा, घबराहट इत्यादि मानसिक विकारों से और मल और मूत्र से भरे हुए मल-मूत्राशय की रूकावट से कम हो जाती है; और गरम पानी की बस्ति, भगपीठ पर दबाव इत्यादि से अधिक हो जाती है। यह वेदना पीठ के निचले हिस्से में याने त्रिक में और उसके आस-पास (कटीपृष्ठ प्रति समन्तात्) इस अवस्था में मालूम होती है—During the first stage of labour, the pain is principally referred to the region of the sacrum, Gellat's midwifery. वेदना के समय गर्भाशय कड़ा हो जाता है। प्रारंभ में गर्भाशय का आकुञ्चन औसत बीस मिनट पर एक बार होता है। धीरे धीरे यह आन्तराकुञ्चन काल कम होता जाता है और प्रथमावस्था के अन्त में तीन-चार मिनट का होता है। अर्थात् प्रारम्भ में प्रसववेदना प्रत्येक बीस मिनट पर हुआ करती है और धीरे धीरे यह समय कम होकर प्रथमावस्था के अन्त में प्रत्येक तीन-चार मिनट पर हुआ करती है।

(२) गर्भाशयमुखविस्तृति (Dilatation of the os)—पेशीतन्तुओं के कार्य की दृष्टि से गर्भाशय के दो विभाग होते हैं—शरीर और ग्रीवा शरीर के पेशीतन्तु गर्भाशय की लंबाई में और ग्रीवा के पेशीतन्तु चौड़ाई में होते हैं। ग्रीवातन्तुओं के संकोच से गर्भाशय का मुख पूर्णतया बंद हो जाता है। प्रसव प्रारंभ होने के पूर्व ये तन्तु संकोच-युक्त अवस्था में रहते हैं, जिससे बाहर से कोई वस्तु गर्भाशय के भीतर नहीं जा सकती, न भीतर का गर्भ बाहर आ सकता है। गर्भाशय-शरीर-तन्तुओं के संकोच से गर्भाशय की भीतरी समाई कम हो जाती है और भीतर का गर्भ बाहर निकालने का कार्य होता है। इस तरह गर्भाशयशरीर और ग्रीवा के पेशीतन्तुओं के कार्य में विरोध होता है। अगर यह विरोध हमेशा के लिए होता तो अनवस्थाप्रसंग उत्पन्न हो जाता। परंतु यह सहकार्य का विरोध होता है। गर्भावस्था में ग्रीवापेशीसंकोच रहता है और शरीरपेशी शिथिलता रहती है, जिसमें पूर्णकाल तक गर्भ गर्भाशय में रह सकता है। प्रसवकाल के समय शरीरपेशीसंकोच होता है और ग्रीवापेशी-शिथिलता हो जाती है, जिससे गर्भ के बाहर आने में सहायता होती है। इनकी शिथिलता के कारण तथा ऊपर से गर्भ के दबाव के कारण ग्रीवामुख धीरे धीरे विस्तृत होता जाता है और प्रथमावस्था के अन्त में गर्भनिर्गम के लिए जितनी विस्तृति आवश्यक होती है, उतनी हो जाती है। ग्रीवा और शरीर के

संकोच-विकास का यह विरोध जैसे स्वभाव से उत्पन्न होने वाले संकोच-विकास में होता है, वैसे ही कृत्रिम पद्धति से उत्पन्न किये हुए संकोच-विकास में होता है। कभी कभी प्रारम्भ में गर्भाशय में उत्पन्न होने वाले संकोच कुछ काल के पश्चात् कमजोरी के या अन्य कारण से बंद हो जाते हैं। उस अवस्था में हाथ की अंगुलियों से या यन्त्र की सहायता से ग्रीवामुखविस्तृति करने से गर्भाशय-शरीर में संकोच शुरू होकर प्रसव ठीक हो जाता है। किंवा जब कमजोर संकोच के कारण गर्भाशय ग्रीवामुख की ठीक विस्तृति नहीं होती, तब पिच्युट्रिन (Pituitrin) का इन्जेक्शन देकर गर्भाशय के संकोच जोरदार करने से ग्रीवामुखविस्तृति होकर प्रसव हो जाता है। गर्भाशय के शरीर और ग्रीवा के संकोच-विकास का जो यह नियम है उसको अंग्रेजी में ध्रुवधर्म (Law of polarity) कहते हैं। इस प्रकार के सहकारी विरोधी कर्म शरीर के अनेक कर्मों में दिखाई देते हैं—जैसे, आँखों की पुतली फैलने के समय एक प्रकार के तन्तु संकुचित और दूसरे प्रकार के शिथिल हो जाते हैं, तथा पुतली छोटी होने के समय प्रथम शिथिल हुए संकुचित होते हैं और संकुचित शिथिल हो जाते हैं। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि शरीरगत सम्पूर्ण कर्मों का नियमन इस प्रकार के सहकारी विरोधी कर्मों के ऊपर निर्भर होता है। कविकुलगुरु कालिदास ने चन्द्र-सूर्य के अस्तोदय को देखकर ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में जो एक नियम बताया है, (शाकुन्तल ४-९) वही नियम निम्नभेद करके शरीर के लिए भी यथार्थ होता है—कर्मद्वयस्य युगपदसोनोदयभ्यां देहो नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु। गर्भाशय शरीर संकोच के कारण उसकी ग्रीवा छोटी और उसका मुख काफी विस्तृत हो जाता है। (३) योनिमुख से सरक्त श्लेष्मा का स्राव। इसका विवरण पीछे किया गया है। तीसरा और चौथा लक्षण प्रथमप्रसवा स्त्री में इस समय में ही मिलता है। बहुप्रसवा स्त्री में इससे कुछ पहले भी मिल सकता है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि ग्रीवामुखविस्तृति उस समय में अधिक नहीं होती। (४) शिरोऽवग्रहण (Fixation of the head)—गर्भाशय के संकोच के कारण उसकी समाई कम होती है तथा गर्भ ऊपर से नीचे को दबाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भ का सिर, जो पहले बस्तिगुहा (Pelvis) के किनारे के ऊपर था, नीचे बस्तिगुहा के किनारे पर उचित व्यास पर दृढ़ हो जाता है। चरकसंहिता में 'बस्तिशिरोऽवग्रहणाति' इस पद का प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में किया गया है—स यदा जानीयाद्विमुच्य हृदयमुदरमस्यास्त्वाविशति बस्तिशिरोऽवग्रहणाति स्वरयन्त्येनामाव्यः परिवर्ततेऽथो गर्भ इति। (शारीर १०)। काश्यपसंहिता में भी गर्भशिर ग्रहण का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—कालेन चोदितो गर्भो विमुच्य हृदयोदरम् । बस्तिशीर्षमधोभागमवग्रहणाति जन्मनि ॥ (जाति-सूत्रीय शारीराध्याय)। (५) जरायुविदारण (Rupture of the membranes)—गर्भाशयमुख विस्तृत होने के कारण गर्भावरण का नीचे का आधार टूट जाता है और ऊपर से संकोच के कारण दबाव पड़ता है। इसका परिणाम यह

होता है कि मुख की काफी विस्तृति होने पर उसके सामने की जरायु विदीर्ण होकर गर्भोदक बाहर निकलता है—आवीना-मनुजन्मातस्ततो गर्भोदकवृत्तिः। (अष्टांगहृदय)। ततोऽनन्तर-मावीनां प्रादुर्भावः, प्रसेकश्च गर्भोदकस्य ॥ कभी कभी गर्भाशय-मुख पूर्ण विस्फुट होने पर भी जरायु विदीर्ण नहीं होती और गर्भोदक का स्राव नहीं होता। ऐसी अवस्था में योनि में अंगुली डालकर उसके दबाव से सावधानी से जरायु को विदीर्ण करना चाहिए। प्रसव के प्रारम्भ में गर्भाशय में संकोच प्रारम्भ होने पर गर्भ का सिर नीचे की ओर श्रोणी के किनारे पर दबाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि सिर के सामने का आवरण कुछ जल के साथ पीछे के जल से पृथक् हो जाता है। सिर के सामने जो जल होता है, उसको प्रसवपूर्वजल (Fore-waters) और पीछे जो होता है, उसको प्रसवोत्तर जल (After-waters) कहते हैं। प्रसवपूर्व जल जरायु के साथ सिर के सामने एक छोटी पानी से भरी हुई मोट के समान होता है। इसको पानमोटरी (Bag of membranes) कहते हैं। गर्भ के सिर की अपेक्षा गर्भाशय का मुख विस्तृत करने में यह पानमोटरी बहुत उपयोगी होती है। इसका दबाव गर्भाशय के मुख पर चारों ओर से समान पड़ता है, जिसके कारण गर्भाशय के प्रत्येक संकोच के समय मुख धीरे धीरे विस्तृत होता है। जब पूर्ण विस्तृत हो जाता है, तब पानमोटरी निराधार होने के कारण फूटती है और उसका गर्भोदक योनि के बाहर निकलता है। प्रथमावस्था के अन्त तक पानमोटरी के अविदीर्ण रहने के लिए गर्भ का नीचे की ओर आने वाला अंग और कटीर के नीचे के किनारे में कुछ मेल (Fit) होने की आवश्यकता होती है। जब गर्भ प्रतिलोम या विषम स्थिति में आता है या कटीर टेढ़ा या संकुचित (Contracted pelvis) होता है, उस समय इन दोनों में ठीक मेल न होने से पानमोटरी बहुत पहले फूट जाती है और गर्भोदक बहुत पहले बाहर आता है। इसके निम्न परिणाम होते हैं। गर्भाशय का मुख विस्तृत होने के लिए काफी देर लग जाती है और प्रथमावस्था विलंबित होती है। (२) गर्भ का नीचे का अंग और कटीर में मेल न होने से पीछे के जल को आगे को आने के लिए कुछ मार्ग मिलता है, जिससे पीछे का जल धीरे धीरे स्रवता रहता है और कुछ समय के पश्चात् गर्भाशय के भीतर का गर्भोदक करीब करीब नष्ट हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय के संकोच से गर्भ सीधा दबाया जाता है, जल के द्वारा उसका जो रक्षण होता था वह नहीं होता। इससे कभी कभी गर्भ की मृत्यु हो जाती है। (३) गर्भाशयमुख का किनारा भगस्थ और सिर के बीच में पकड़ जाने का डर रहता है। इस तरह पकड़ जाने पर वह किनारा काफी फूलता है और प्रसव के मार्ग में रुकावट पैदा करता है। ऐसी अवस्था में उस किनारे को अंगुलि से ऊपर की ओर एक तरफ दबा देना चाहिए। कभी कभी जरायु के साथ बालक का जन्म होता है। यदि जरायु आप से आप न विदीर्ण हो या कृत्रिम रीति से विदीर्ण न किया गया हो। आगे १९वें सूत्र का वक्तव्य देखो।

प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां कुमारपरिवृतां पुत्रामफलहस्तां स्वभ्यक्तामुष्णोदकरिषिक्लामयैनां सम्भृतां यवागूमाकण्ठात् पाययेत् । ततः कृतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णे शयने स्थितामाभु-
ग्नसक्थीमुत्तानामशङ्कनीयाश्चतस्रः स्त्रियः परिण-
तवयसः प्रजननकुशलाः कर्तितनखाः परिचरेयु-
रिति ॥७॥

(प्रथमावस्था का कर्म—) मङ्गल और स्वस्तिवाचन (पुण्याहवाचन) की हुई, कुमारों से घेरी हुई, हाथ में पुत्रामफल ग्रहण की हुई, तैल से अभ्यङ्ग और गरम पानी से स्नान की हुई, प्रसूत होने वाली स्त्री को बलकर यवागू कण्ठ तक (भरपेट) पिलावे । तदनन्तर मृदु, विस्तीर्ण, (सिरहाने में) तकिया रखे हुए बिस्तरे पर टाँगों को सिकोड़कर उत्तान (पीठ के बल) लेटी हुई स्त्री की अशङ्कनीय, वृद्ध, प्रसवकुशल, कर्तितनख चार स्त्रियाँ परिचर्या करें ॥७॥

वक्तव्य—कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनाम्—प्रत्येक महत्त्व के कर्म के पूर्व वेदों के मन्त्रोच्चारपूर्वक पुण्याहवाचन करने की जो विधि है, उसके अनुसार प्रसवकर्म के पूर्व मङ्गल और पुण्याहवाचन करके । कुमारपरिवृताम्—कुमार से यहाँ पुमान् अपत्य अभिप्रेत है । छोटे छोटे बालक स्त्री के चारों ओर रखने से 'अपने को भी पुत्र हो जायगा' इस कल्पना से स्त्री को प्रसववेदना की तकलीफ कम मालूम होगी, इस दृष्टि से यह कर्म किया जाता है । हाराणचन्द्र कुमार से छोटे छोटे बाल समझते हैं, जिसमें बालक और बालिकाएँ भी शामिल हो सकती हैं—कुमारपरिवृतामिति हर्षेण क्लेशापवार-
णार्थमुपदिश्यते इति गम्यते । अतः कुमारशब्देन लिम्धानां कुमारी-
णामपि परिग्रहो न्यायः ॥ पुत्रामफलहस्ताम्—पुँल्लिंगी जिसका नाम हो ऐसा कोई फल जिसके हाथ में हो, ऐसी । ऐसा पुँल्लिंगी फल भी पुत्र की दृष्टि से ही स्त्री के हाथ में दिया जाता है । गर्भ के लिंग की सूचना देने की दृष्टि से पहले भी इस प्रकार का शब्द प्रयोग किया गया है—बाहुल्याच्च पुत्रामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिधायति । (शारीर ६) । हाराणचन्द्र पुत्राम फल से पुत्राग समझते हैं—पुत्रामा पुत्रागः, 'पुत्रागः पुरुषस्तुङ्गः पुत्रामा पाटलद्रुमः' इति राज-
निघण्टुः । पुत्रामफलहस्तत्वं पुनः सुखप्रसवं प्रत्येनां त्वरयतीत्या-
चक्षते तदिदमुक्तं पुत्रामेति । पहले पाँचवें श्लोक के वक्तव्य में बताया गया है कि शरीरस्थान की गर्भाधान प्रसवादि घटनाएँ प्रथमगर्भा स्त्री के संबंध में लिखी गई हैं । प्रथम-
गर्भा स्त्री को तथा उसके पति तथा घर वाले अन्य लोगों को पुत्र उत्पन्न होने की जबरदस्त इच्छा होती है । इसी इच्छा के कारण ही पुंसवन विधि का आविष्कार हुआ है । अर्थात् प्रसव के समय भी उसके आसपास की स्थिति इस प्रकार बनाये रखने की कोशिश की जाती है कि उसको पुत्र उत्पन्न होगा, ऐसा ही विचार उसके मन में हमेशा पैदा हो । प्रत्यक्ष प्रसव के समय भी 'पुत्र हुआ, पुत्र हुआ, धन्य हो' ऐसे शब्द प्रयोग किये जाते हैं—'प्रजाता प्रजाता धन्य

धन्यं पुत्रम्' इति । तथाऽस्या हर्षेणाप्यायन्ते प्राणाः ॥ (चरक) । इसलिए यहाँ पर कुमार में पुमान् अपत्य और पुत्रामफल से पुमान्वाचक फल (जिसमें पुत्राग भी आ सकता है, परंतु अन्य पुँल्लिंगी फल भी चल सकते हैं) ही लेना उचित है । जैसे, अष्टांगहृदय में भी लिखा है—हस्तस्थपुत्राम-
फलम् । इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—तथा हस्तस्थ पुत्राम दाडिमादिफलं यस्यास्ताम् ।

उष्णोदकपरिषिक्ताम्—उष्णोदक से गर्भिणी को नहलाने के लिए जेलेट भी कहते हैं—It is also a good thing for the patient to have a warm bath during the premonitory stage. स्नान से शरीर की और जननेन्द्रिय की सफाई होती है, पेशियाँ अधिक कार्यक्षम होती हैं और गर्भिणी प्रसव-वेदनाओं को अच्छी तरह सह सकती है । सम्भृतां यवागूम्—क्षीर, घृत इत्यादि से युक्त होने के कारण पुष्टिकर । प्रसव के परिश्रम में शक्ति देने के लिए यवागू दी जाती है । कृतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णे शयने—रूई की मृदु गद्दी पर सिरहाने में तकिया युक्त विस्तृत बिछौना । आधुनिक काल में गद्दी और चादर की रक्षा रक्तादि से करने के लिए उस पर जलामेब म्याकिन्टोश (Mackintosh) बिछाने की पद्धति है । अष्टांगसंग्रह में शयन के ऊपर चर्म-
प्रच्छद का प्रयोग करने के लिए लिखा है । इसका भी उपयोग म्याकिन्टोश के समान हो सकता है—ततः सुर-
क्तार्षभचर्मप्रच्छदे मृदुनि भूमिशयने । (शारीर ३) । आभुग्न-
सक्थीमुत्तानाम्—जानु सिकोड़कर पीठ पर लेटना । इस आसन को डॉर्सल पोजिशन (Dorsal position) कहते हैं । अशङ्कनीयाः—यासां लज्जाभयादिकं न करोति गर्भिणी । (डल्हन) । किंवा जिनके शील, शौच, आचार, विनय, सौहार्द, अनुरक्ति इत्यादि गुणों के संबंध में (आगे चरक का वचन देखो) शंका न हो । चतस्रस्त्रियः—चरक और अष्टांगसंग्रह में अनेक स्त्रियाँ उपस्थित रखने के लिए लिखा है—स्त्रियश्च बहवो बहुशः प्रजाताः । इनके लिए पृथक् पृथक् काम भी बताये गये हैं—(एका) स्त्री पादतोऽस्या निषण्णाया योनिमनुलोममनुसुखमभ्यज्य स्फिजौ पादाभ्यां पीड-
येत् । अन्या (द्वितीया) तु वामकर्णेऽस्या मन्त्रमिमं जपेत् 'क्षिति-
जलम्' इत्यादि (आगे ८वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में देखो) तथा परा(तृतीया)नुशिष्यात्, अनागतायां वेदनायां मा प्रवाहिषाः । तद्वचन्यतमा (चतुर्थी) स्त्री जातमात्रमेव बालं बालो-
पचरणीयेन विधिनापपादयेत् । (अष्टांगसंग्रह, शारीर ४) । इसमें संदेह नहीं है कि, काम ये ही हों या आधुनिक काल के अनुसार दूसरे हों, प्रसव के समय अनेक स्त्रियाँ होने से काम करने में सब प्रकार की सुविधा होती है । इसलिए प्रसव के समय अनेक स्त्रियाँ रखने की प्राचीन पद्धति आधुनिक काल में भी अनुकरण करने योग्य है । प्रजनन-
कुशलाः—प्रतिपत्तिकुशलाः । (चरक) । गर्भनिष्कासने कुशलाः । (इन्दु) । कर्तितनखाः—योनि में हाथ प्रवेश करते समय अंगुलियों के नख व्रण उत्पन्न कर सकते हैं । इसलिए उनको कटवाना बहुत आवश्यक है । इसके सिवा नखों के नीचे बहुत मल (आधुनिक परिभाषा के अनुसार

Septic matter) इकट्ठा होता है, जो योनि में प्रवेश करके रोग उत्पन्न कर सकता है। नाखून काटने पर उनके नीचे इकट्ठा हुआ मल चला जाता है और हाथों की सचमुच सफाई होती है। नाखूनों के अतिरिक्त हाथों के अन्य हिस्से में कोई विशेष खराबी नहीं होती। आधुनिक काल में भी शस्त्रकर्म के पूर्व हाथों की सफाई में नाखूनों के ऊपर ही ज्यादा ध्यान दिया जाता है और काटने के पश्चात् उनको बुश से रगड़कर स्वच्छ किया जाता है। शरीर की स्वच्छता की दृष्टि से आयुर्वेद में हमेशा नाखून कटवाने का उपदेश किया गया है—नीचरोमनखदमश्रुनिर्मलाग्रिमलायनः । (अष्टांग-हृदय) । पंचरात्रात्रखदमश्रुकेशरोमाणि कर्तयेत् । (योगसूत्राकर) । चरकसंहिता में प्रसवोपयोगी स्त्रियों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—स्त्रियश्च बह्वयो बहुशः प्रजाताः सौहार्दयुक्ताः सततमनुरक्ताः प्रदक्षिणाचाराः प्रतिपत्तिकुशलाः प्रकृतिवत्सलास्त्यक्तविषादाः क्लेशसहिन्योऽभिमताः । चरक के इस वर्णन में 'बहुशः प्रजाताः' यह गुण बहुत महत्त्व का है। जो स्त्री स्वयं कई बार प्रसूत हुई है, वही स्त्री प्रसूति के समय स्त्री को कितना कष्ट उठाना पड़ता है, कितनी लाचारी होती है, कितनी लज्जा (जो कि स्त्री का परम भूषण है) छोड़नी पड़ती है, और इन बातों का परिणाम आसन्नप्रसवा विशेषतया प्रथमप्रसवा स्त्री के मन पर कैसे होता है, इसको समझ सकती है। इसलिए बहुशःप्रजाता स्त्री प्रसव रूप आपत्ति (एक दृष्टि से आपत्ति ही कहना उचित है यद्यपि वास्तव में वह आपत्ति नहीं है) में फँसी हुई स्त्री के साथ जितना सौहार्द, अनुराग और सहसंवेदना (सहानुभूति) प्रकट कर सकती है उतनी सहानुभूति क़ारी, वन्ध्या या बालविधवा स्त्री नहीं प्रकट कर सकती। क्योंकि जैसे 'न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम्' वैसे ही—कुमारी न विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम् । आधुनिक काल में दाई (Midwife) का व्यवसाय हो गया है, जिसमें फीस लेकर दूसरे का काम किया जाता है। इसमें प्रेम, अनुरक्ति और सहानुभूति का संबंध बहुत थोड़ा होता है। इसके सिवाय ये स्त्रियाँ प्रायः क़ारी, या विधवा या वन्ध्या (स्वाभाविक या कृत्रिम) होती हैं। इसलिए प्रसववेदना से पीड़ित स्त्री को सान्त्वना देने के बदले ये स्त्रियाँ कई बार उसकी दिल्लगी उड़ाती हुई देखी जाती हैं। यह कथन अधिकतर अस्पताल के लिए लागू है, घर के लिए नहीं। कुछ भी हो, एकाग्र अपवाद या सुखभावी स्त्री को छोड़कर क़ारी या वन्ध्या स्त्री की अपेक्षा बहुशःप्रजाता स्त्री प्रसव के काम के लिए अधिक अच्छी होती है, इसमें कोई संदेह नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम मनुष्य के मन पर जैसे होता है, वैसे उस अनुभव की कल्पना करने से नहीं होता। सौहार्दयुक्ता, सततमनुरक्ता, प्रकृतिवत्सलाः—स्निग्धता, अनुरक्ति ये परिचारक के गुण (सूत्रस्थान ३४-२३ और उसका वक्तव्य देखो) हैं। प्रसूता यद्यपि रोगी नहीं है तथापि उसकी परिचर्या रोगी के समान करनी पड़ती है। अर्थात् सौहार्द और अनुराग ये गुण स्त्रियों में बहुत आवश्यक हैं। इनके सिवा और एक गुण प्रसूता की परिचारिका में होना आवश्यक है,

जो अन्य परिचारिका में उतना आवश्यक नहीं है। वह गुण है प्रकृतिवत्सलता, याने दिल से बच्चों को प्यार करने का स्वभाव। त्यक्तविषादाः—प्रसव के समय प्रसूता की लाचारी को और दुःख को देखकर विषाद उत्पन्न होता है। उसमें अगर विलम्बित प्रसव, मूढगर्भ, रक्तस्राव इत्यादि आपत्तियाँ खड़ी हो जायँ, तो विषण्णता और भी बढ़ जाती है। विषाद से चेतोभंग होता है—विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः । अर्जुन को भारतीय युद्ध के पूर्व विषाद हुआ था। विषाद से शरीर की क्या दशा होती है, उसका सुंदर वर्णन भगवद्गीता में मिलता है—सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति । वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ गाण्डीवं संसते हस्तात्त्वक्चैव परिदहते । न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ (प्रथम अध्याय २९-३०) । यदि प्रसव के समय स्त्री की ऐसी अवस्था हो जायगी तो उससे कुछ भी काम नहीं होगा। इसलिए प्रसव कराने वाली स्त्रियों में त्यक्त-विषादत्व यह एक महत्त्व का गुण है। अहतवासाः—अष्टांगसंग्रह में उपर्युक्त शब्दों के अतिरिक्त यह शब्द अधिक है। इससे प्रसाविका के कपड़े की स्वच्छता की ओर ध्यान खींचा गया है। प्रसाविका को अपने हाथों और कपड़ों की स्वच्छता पर बहुत ध्यान देना चाहिए। इसका निर्देश 'अहतवासा' और 'कृत्तनस्त्रा' से किया गया है। इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रसाविका किसी रोग से पीड़ित न हो। विशेष करके त्वचा के और मुख तथा श्वसनसंस्थान के रोगों से पीड़ित होना भयावह होता है। इससे योनि, गर्भाशय दूषित होने का डर होता है। डाक्टर या वैद्य भी अगर प्रत्यक्ष प्रसव में भाग लेने वाले हों तो वे भी मुख या श्वसनसंस्थान के और त्वचा के रोगों से मुक्त और स्वच्छहस्तवस्त्रयुक्त होने चाहिए। प्रसाविका के समान प्रसूत होने वाली स्त्री के लिए भी जो जो वस्त्र प्रयोग में आते हैं, वे सब स्वच्छ-निर्मल होने चाहिए। प्रसूत होने वाली स्त्री के कपड़े प्रसव के बाद खराब हो जाते हैं, इसलिए उसको प्रसव के समय पुराने गन्दे कपड़े देने का रिवाज कई जगह देखा जाता है। परंतु यह रिवाज बहुत खराब है। भोजन करने के पश्चात् थाली खराब हो जाती है, इसलिए भोजन करने के लिए जब खराब थाली लेने का कहीं पर रिवाज नहीं है तब इसमें इस प्रकार का रिवाज क्यों? भोजन के लिए स्वच्छ थाली की जितनी आवश्यकता है, उससे प्रसव के कपड़ों के लिए कहीं अधिक स्वच्छता की आवश्यकता है। इसलिए प्रसव के साथ संबंध रखने वाली सब चीजों (जैसे—वस्त्र, जल, पात्र, यन्त्र, शस्त्र इत्यादि) का स्वच्छ और निर्मल होना आवश्यक है। आधुनिक काल में ये सब चीजें ऊष्मविशोधन से शुद्ध करके ली जाती हैं।

प्रथमावस्था की व्यवस्था—प्रसववेदना के प्रारंभ से प्रथमावस्था का प्रारंभ होता है। इसका प्रारंभ होते ही गर्भिणी को एरण्ड का तैल या यष्टिमध्वादि चूर्ण या अन्य विरेचन देकर कोष्ठ शुद्धि करना चाहिए और प्रथमावस्था के मध्य में बस्ति देकर मलाशय को खाली करना चाहिए।

इससे गर्भ के रास्ते में मलाशय की रुकावट नहीं होती तथा प्रसव के समय मल से अपत्यमार्ग तथा अन्य वस्त्रादि खराब होने का डर नहीं रहता। कोष्ठशुद्धि ठीक होने से बार बार मलोत्सर्ग करने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। इस अवस्था में बार बार मूत्र त्यागने की इच्छा भी होती है। इसके लिए बार बार मूत्र त्यागना ही उचित होता है। यदि गर्भ सिर के दबाव के कारण मूत्र त्यागने में कठिनाई मालूम होती हो तो सलाई से मूत्राशय खाली करना उचित है। मलाशय और मूत्राशय खाली रहने से गर्भ का मार्ग निष्कण्टक हो जाता है। (२) स्नान और जननेन्द्रिय की स्वच्छता—गरम पानी से स्नान और स्नान के समय ही गरम पानी से जननेन्द्रिय की अन्तर्बाह्य स्वच्छता करना। (३) लघु आहार का सेवन—प्रसववेदना में माता की थकावट होती है, इसलिए इस अवस्था में माता को सुपाच्य बलकर आहार देना चाहिए। इस दृष्टि से यवागू देने की पद्धति उत्तम है, क्योंकि यवागू हलकी, बलकारक, वृषा और क्षुधा की शामक होती है—Patients should be encouraged to take light food during the first stage. *Ten Teachers' Midwifery*. काश्यपसंहिता में दुर्बल स्त्री को मद्य देने का एकीय मत दिया है, परंतु काश्यप उसको पसंद नहीं करते—दुर्बलां पाययेन्मद्यमित्येके, नेति काश्यपः। (जात्रिसूत्रीय शरीराध्याय)। (४) गर्भिणी का आसन—यदि प्रसववेदना बहुत तीव्र हो और माता को थकावट मालूम होती हो तो बिस्तरे पर लेटना ठीक है। परंतु यदि ये मामूली हो तो माता को खड़े रहकर टहलना ही उचित है—कारयेत् जृम्भचक्रमम्। (अष्टांगहृदय)। जृम्भणं चक्रमणं च पुनरनुष्ठेयमिति। (चरक)। प्रसववेदना तीव्र होने पर ग्रीवामुखविस्तृति होने में देर नहीं लगती, परंतु जब मंद होती है तब देर लगती है। ऐसी अवस्था में गर्भिणी के खड़ी होकर चल फिरने से गुरुत्वाकर्षण के कारण गर्भोदक तथा गर्भ का दबाव ग्रीवा के ऊपर पड़ता है, जिससे गर्भाशय का मुख विस्तृत होने में सहायता होती है। इसके सिवाय ग्रीवा के ऊपर दबाव पड़ने से तथा उसका मुख विस्तृत होने से गर्भाशय के आकुञ्चन भी जोरदार होने लगते हैं। जृम्भण के समय फुफ्फुस के भीतर साधारण श्वास की अपेक्षा अधिक हवा भीतर जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उदरवक्षमध्यस्थ महा प्राचीरा पेशी अधिक नीचे को जाती है और गर्भाशय को अधिक नीचे की ओर दबाती है। संक्षेप में, जृम्भण और चक्रमण प्रसववेदना बढ़ाने के अनपायी उपाय हैं—The uterine contractions of the first stage act more advantageously when the patient is in erect posture, as the action of gravitation increases the downward pressure of the ovum. *Jellie's Midwifery*. चरकसंहिता में अन्य आचार्यों का सुसल ग्रहण करके ओखली में धान्य कूटने के व्यायाम का जो मत दिया है, उसका खण्डन वहीं पर भगवान् आत्रेयजी ने किया है। अतः उस मत के अनुसार दारुण व्यायाम

इस अवस्था में न करना चाहिए। इसके सिवा यह भी देखा जाता है कि प्रथमावस्था में गर्भिणी स्वयं बिस्तरे पर घंटों तक लेटे रहने की अपेक्षा टहलना ही पसंद करती हैं। प्रथमावस्था की अवधि अधिक होने के कारण यदि गर्भिणी प्रारंभ से ही बिस्तरे पर लेटी रहे तो उसका मन प्रसव जल्दी न होने के कारण कुछ निराशायुक्त और चिंतित हो जाता है, क्योंकि शुरु से ही वह प्रसव होने के फेर में रहती है। टहलने से उसका मन कुछ इधर-उधर जाता है, जिससे वेदना कुछ कम मालूम होती है। तथापि यह वेदना कितनी ही कम क्यों न हो, इससे स्त्री को जरूर कुछ बेचैनी मालूम हो सकती है। ऐसी अवस्था में स्त्री के पीठ, कमर, पार्श्व इत्यादि स्थानों में गरम तैल का मालिश करने से उसको कुछ आराम मालूम होता है—तस्याश्वात्तरान्तरा कटीपार्श्वपृष्ठसन्निधेशानीषदुष्णेन तैलेनाभ्यज्यानुसुखमवमृदीयात्। (चरक)। Many women experience a feeling of relief and comfort when the lower part of the back is pressed on or rubbed during a pain. *Ten Teachers' Midwifery*. इसलिए यदि आवश्यक हो तो स्त्री का पृष्ठभाग वेदना के समय मर्दन करना उचित है। इस प्रकार प्रथमावस्था में गर्भिणी की परिचर्या करनी चाहिए। अब द्वितीयावस्था का कर्म वर्णन करते हैं—

अथास्या विशिखान्तरमनुलोममनुसुखमभ्यज्या-
नुब्रूयाच्चैनामेका—सुभगे प्रवाहस्वेति, न चाप्राप्ता-
वी प्रवाहस्व, ततो विमुक्ते गर्भनाडीप्रवन्धे सश्लेषु
श्रोणिवङ्गणवस्तिशिरःसु च प्रवाहेथाः शनैः शनैः
(पूर्व), ततो गर्भनिर्गमे प्रगाढं, ततो गर्भे योनिमुखं
प्रपन्ने गाढतरमाविशत्यभावात्; अकालप्रवाहणाद्
बधिरं मूकं कुञ्जं व्यस्तहनुमूर्ध्वाभिघातिनं कास-
श्वासशोषोपद्रुतं विकटं वा जनयति ॥८॥

(द्वितीयावस्था के कर्म—) अब उन (स्त्रियों) में से एक (स्त्री) उस (गर्भिणी) के अपत्यद्वार पर अनुलोम और सुख से (तैल का) मालिश करके उसको कहे कि हे सुभगे ! (अब) प्रवाहण करो, आवी न होने पर प्रवाहण न करो। (प्रथम) गर्भमार्ग का बन्धन खुल जाने पर और श्रोणी, वङ्गण और वस्ति शिर में पीडा होने पर धीरे धीरे प्रवाहण करो, गर्भ के बाहर निकलने के समय अधिर जोर से (प्रवाहण करो) और पश्चात् गर्भ-योनिमुखद्वार पर पट्टुं चने पर (योनिमार्ग गर्भ रूप) शल्यविरहित होने तक अत्यधिक जोर से (प्रवाहण करो)। अकाल में प्रवाहण करने से (गर्भिणी) बहरे, गूँगे, कुबड़े, व्यस्तहनु के, सिर पर घातित, कास श्वास और शोष से युक्त अथवा विकृताकारी (अपत्य) को जन्म देती है ॥८॥

वक्तव्य—विशिखान्तरम्—विशिखाया अपत्यमार्गस्यान्तर-
मभ्यन्तरं विशिखान्तरम्। अपत्यमार्ग का अभ्यन्तर भाग

याने योनि—स्त्रीयोनिमनुलोममनुसुखमभ्यज्य । (अष्टांग-संग्रह) । अनुलोममनुसुखमभ्यज्य—ऊपर से नीचे की ओर मृदुता से तैल से मालिश करके । प्रवाहण—निकुन्थनं कुरु; 'वाह' प्रत्यये, इत्यस्य धातोरात्मनेपदिनः प्रयोगः । (डल्हण) । प्रवाहण से गर्भाशय को संकोच के समय चारों ओर से आधार दिया जाता है तथा गर्भाशय नीचे की ओर दबाया जाता है । प्रवाहण में उदर-प्राचीर की पेशियाँ, उदरवक्ष-मध्य महाप्राचीरा पेशी, वक्ष की पेशियाँ मुख्यतया सहायता (Accessory muscles of labour) करती हैं । इनके सिवा इनका कार्य ठीक होने के लिए शाखाओं की पेशियों से भी सहायता ली जाती है, जो वक्ष और उदर को स्थिर किया करती हैं । इन सहायक पेशियों के संकोच से उदर की समाई कम होकर गर्भाशय में दबाव पड़ता है । जैसे कि मलमूत्रोत्सर्ग के समय कुन्थन से मलमूत्रोत्सर्ग में सहायता होती है, वैसे ही गर्भनिष्कासन के लिए उत्पन्न हुई प्रसववेदना के समय प्रवाहण या निकुन्थन (Bearing down efforts) से गर्भनिष्कासन में सहायता होती है । न चाप्राप्तावी प्रवाहस्व—गर्भनिष्कासन का कार्य आवी का याने गर्भाशयसंकोच का है, प्रवाहण उसमें सहायता करता है । अर्थात् गर्भजन्म में आवी प्रधान और प्रवाहण गौण कारण है । इसलिए जिस समय आवी नहीं होती उस समय प्रवाहण कितने ही जोर से क्यों न किया जाय, वह आवी का काम नहीं कर सकता, व्यर्थ होता है और माता को थकावट पैदा होती है । चरकसंहिता में अकाल प्रवाहण का सुन्दर वर्णन किया है—या ह्यना-गतावीः प्रवाहते व्यर्थमेवास्यास्तत् कर्म भवति । यथा हि क्ष्वयूद्गार-वातमूत्रपुरीषवेगान् प्रयतमानोऽप्यप्राप्तकालान्न लभते कृच्छ्रेण वाऽप्यब्रामोति, तथाऽनागतकालं गर्भमपि प्रवाहमाणा । (शारीर ८) । विमुक्ते गर्भनाडीप्रबन्धे—गर्भस्य नाड्या मार्गस्य प्रबन्धः प्रकर्षेण गतिरोधो यत्र तस्मिन् गर्भनाडीप्रबन्धे गर्भाशयमुखे विमुक्ते प्रस्फुटिते इत्यर्थः ॥ नाडी शब्द यहाँ पर मार्ग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—नाड्यः पंथानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि । (चरक) । संक्षेप में, गर्भाशयमुख पूर्णतया प्रस्फुटित होने पर । गर्भनिर्गमे—गर्भ गर्भाशय से चलित होने पर—स्वस्थानाद्गर्भस्य निःसरणाय गमनं गर्भनिर्गमस्तस्मिन् गर्भनिर्गमे । (डल्हण) । योनिमुखम्—योनि का बाह्य द्वार या भग-द्वार (Vulval orifice) । गर्भ को योनिद्वार पर बाहर निकलने के लिए कुछ रुकावट होती है । गर्भाशय मुख से बाहर निकल आने पर गर्भ योनि में आता है । योनि की दीवार श्रोणिगुहाभूमि (Pelvic floor) पर आधारित होती है । यह भूमि पेशियों से बनती है । गर्भाशय के संकोच से तथा प्रवाहण से योनि में आया हुआ गर्भ (अर्थात् गर्भ का सिर) संकोच के मध्यकाल में श्रोणिभूमि पेशियों के द्वारा फिर से ऊपर दबाया जाता है । इस तरह भगद्वार तक आया हुआ गर्भ कई बार फिर योनि में चला जाता है । धीरे धीरे गर्भाशय के जोरदार संकोचों से तथा प्रवाहण से श्रोणिभूमि इतनी तन जाती है कि वह गर्भ को ऊपर दबाने में असमर्थ होती है, जिससे योनिद्वार पूर्णतया

विस्फुटित होकर गर्भ का शिर द्वार में स्पष्टतया और पूरा दिखाई देता है । इसको शीर्षदर्शन (Crowning of the head) कहते हैं । गाढतरमाविशस्यभावात्—गाढतरमाप्रसवात् । अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—गर्भस्य योनिमुखप्रतिपत्तौ गाढतर-माप्रसवादिति । (शारीर ३) । अर्थात् गर्भ का जन्म होने के समय तक । डल्हणाचार्य 'अपरासहितगर्भप्राप्त्यर्थम्' लिखते हैं । परंतु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि गर्भ के साथ अपरा बाहर नहीं आती, थोड़ी देर के बाद आती है; इसका स्पष्ट उल्लेख 'अथ प्रसूताया न चेदपरा पतति ततः' (अष्टांग-संग्रह) इस वाक्य में मिलता तथा व्यवहार में देखा जाता है । इसके सिवा अपरापतन के लिए गाढतर प्रवाहण की भी आवश्यकता नहीं होती । वह गर्भाशय के संकोच से ही नीचे चली आती है । यहाँ पर शल्य शब्द का जो प्रयोग किया है वह एक दृष्टि से बहुत योग्य है और उसका तथा गाढतर प्रवाहण का संबंध भी होता है । गर्भ या बालक माता को कितना ही प्यार क्यों न हो, माता की योनि के लिए वह शल्य (Foreign body) रूप होता है और उस शल्य को निकाल देने के लिए प्रवाहण चाहे माता करे या न करे, प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) से आप से आप होता है—These expiratory or expulsive efforts are partly voluntary but largely reflex, due to the presence of a foreign body in the vagina. *Ten Teachers' Midwifery*. द्वितीयावस्था की प्रसववेदना—द्वितीयावस्था में गर्भाशय के संकोच अधिक जोरदार होते हैं, अधिक देर तक होते हैं और उनके बीच का समय अल्प होता है । इस अवस्था के अन्त में, याने प्रसव के समय प्रत्येक संकोच एक मिनट या उससे कुछ अधिक होता है और उनके बीच में २-३ मिनट का समय होता है । प्रत्यक्ष गर्भजन्म के समय यह संकोच निरन्तर होता है । इसके सिवा इसके साथ प्रवाहणकार्य आप से आप होता है, क्योंकि गर्भ को बाहर निकालने में केवल गर्भाशय संकोच असमर्थ रहते हैं । इसलिए प्रसव के समय बिना कहे भी स्त्री प्रवाहण किया करती हैं । परंतु यदि वह सोच-समझकर ठीक उसी समय अपने संपूर्ण बल से प्रवाहण करे तो और भी अधिक सफलता मिलती है; इसलिए 'प्रवाहस्व, न चाप्राप्तावी प्रवाहस्व' इस प्रकार कहने का रिवाज पड़ गया है । अकालप्रवाहणम्—अप्राप्तावी-कालप्रवाहणम् । बधिरं मूकम्—इत्यादि—अकाल प्रवाहण से ये विकार उत्पन्न नहीं हो सकते । अगर जन्म के पश्चात् ये विकार बालक में दिखाई दें तो उनकी उत्पत्ति गर्भवृद्धि-कालीन पूर्वकर्म तथा माता के आहार-विहार से समझना चाहिए । इस विषय का विवरण सूत्रस्थान के २४वें अध्याय के ५वें सूत्र के वक्तव्य में, शारीरस्थान के दूसरे अध्याय के ५२-५३वें श्लोकों में तथा उनके वक्तव्य में, तीसरे अध्याय के २२वें सूत्र के वक्तव्य में तथा ४५वें श्लोक और उसके वक्तव्य में किया गया है । वेगोदीरण के समान अकालप्रवाहण अहितकर होता है, इसमें कोई संशय नहीं है—यथा चैषामेव क्ष्वब्धादीनां संधारणमुपधातयोपपद्यते,

तथा प्राप्तकालस्य गर्भस्याप्रवाहणम् । (चरक) । अप्राप्तकाल में प्रवाहण और प्राप्तकाल में अप्रवाहण का परिणाम यह होता है कि प्रवाहण स्वयं गर्भ को बाहर निकाल नहीं सकता और माता को कमजोर बनाता है । प्राप्तकाल में प्रवाहण न करने से प्रसववेदना (गर्भाशय संकोच) निराधार होने से भी कई बार गर्भ को बाहर निकालने में असमर्थ होती है और कई बार असफलता मिलने के कारण गर्भाशय कमजोर हो जाता है । इसका परिणाम गर्भाशय की सुस्ती (Uterine inertia) में और पर्याय से प्रसवविलम्ब में होता है । इसके सिवा और किसी में नहीं । परंतु यही परिणाम कुछ कम नहीं है । इसके सिवा अन्य परिणाम, जो इस सूत्र में बताये गये हैं, गर्भिणी को अकालप्रवाहण से परावृत्त करने की दृष्टि से बताये गये हैं, कार्य-कारण की दृष्टि से नहीं बताये गये हैं ।

द्वितीयावस्था के लक्षण—द्वितीयावस्था का मुख्य लक्षण प्रसववेदना है । यह वेदना यद्यपि पूर्णतया नहीं, तथापि निरन्तर और अत्यंत पीडाकर होती है । उसी के कारण स्त्री की नाडी और साँस कुछ तेज हो जाती हैं तथा बदन पर पसीना आने लगता है । साथ ही साथ गर्भ गर्भाशय से नीचे योनि में और योनि से बाहर फँका जाता है । द्वितीयावस्था की व्यवस्था—प्रथमावस्था में गर्भिणी इधर-उधर टहलती है, परंतु द्वितीयावस्था के प्रारंभ से ही उसको बिस्तर पर लेटना उचित है । यह बिस्तरा भूमि पर भी हो सकता है, परंतु उससे खटिया या पलंग पर होना अधिक प्रशस्त है क्योंकि पलंग या खटिया पर सहायता करने वाली स्त्रियों को प्रसव के समय सहायता करने में कुछ सुविधा होती है । प्रसव के समय खटिया से भी पलंग अच्छा होता है क्योंकि खटिया में बीच में झोला पड़ता है—आव्यो हि त्वरयन्त्यां खट्वामारोपयेत्ततः । (अष्टांगहृदय) । अस्यामवस्थायां पर्यङ्गेनामारोप्य प्रवाहयितुमुपक्रमेत् । (चरक) । प्रसव के लिए पलंग पर स्त्री का आसन आभुग्नसक्थि उत्तान ही (Dorsal position) होता है जैसे कि पिछले सूत्र में वर्णन किया है, किंवा मूढगर्भशस्त्रकर्म में बताया है—उत्तानाया आभुग्नसक्थ्या वस्त्राधारकोन्नमितकट्या । (चिकित्सा १५) । उत्तानासन के सिवा प्रसव के लिए पार्श्वसन (करवट लेटना Lateral position) भी सुविधाजनक होता है । आधुनिक काल में कुछ लोग उत्तानासन को और कुछ पार्श्वसन को पसंद करते हैं । इस आसन में लेटने पर स्त्री को सिरहाने और पैताने से कुछ आधार ग्रहण करके आवी आने पर प्रवाहण का कार्य प्रारंभ करना चाहिए । प्रवाहणयुक्त प्रसववेदना से गर्भ धीरे धीरे गर्भाशय से नीचे योनि में आता है और योनि से बाहर चला जाता है । इसमें योनिद्वार में भी कुछ कठिनाता होती है । इस कठिनाता को दूर करने के लिए योनिद्वार तथा उसके आस-पास का, विशेषतया नीचे का (मूलाधार पीठ Perineum) भाग मृदु, शिथिल और प्रसरणशील रखने की कोशिश करनी चाहिए । वैसे तो गर्भशीर्षप्रपीडन से इन अंगों में लसिका भरकर इनको मृदु बना ही देती

है । इस स्वाभाविक मृदुता से कृत्रिमरीत्या अधिक मृदुता उत्पन्न करना कठिन है । परंतु कोशिश इस बात की की जाती है कि यह स्वाभाविक मृदुता बनाये रहे और इसमें किसी प्रकार की खराबी न होने पावे । आधुनिक काल में इसके लिए गरम पानी में लायसोल (Lysol) का घोल बनाकर उसके बार बार परिसेचन से योनि तथा उसके आस-पास का भाग तर रक्खा जाता है । इस काम के लिए रसकपूर का घोल (Mercury lotion) प्रयुक्त नहीं होता । क्योंकि वह ग्राही होने के कारण जिससे संयुक्त होता है, उसको सख्त बना देता है । आयुर्वेद में योनि की मृदुता रखने के लिए ही विशिखान्तर का अभ्यंग करने के लिए कहा है—योनिमनुलोममनुसुखमभ्यज्ज्य, योनिं पुनः पुनः प्रसाधयेत् । (अष्टांगसंग्रह) । अभ्यंग से मृदुता उत्पन्न होती है, यह सिद्ध बात है—अभ्यङ्गो मार्दवकरः । (चिकित्सा २४) । इसलिए प्रसव के समय योनि का अभ्यङ्ग अपत्यमार्ग में मार्दव उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही किया जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है । द्वितीयावस्था में प्रसववेदना के साथ प्रवाहण करने की आवश्यकता होती है और प्रवाहण से गर्भ जल्दी नीचे की ओर आता है । जब वह योनिद्वार पर आता है, तब प्रायः बड़े जोर के साथ बाण या गोली की तरह खट से योनिद्वार के बाहर आता है—निसार्थते बाण इव यन्त्रच्छिद्रेण सञ्चरः । (याज्ञवल्क्यस्मृति २-८३) । Suddenly, the head emerges, comes out like a shot. Esoteric Anthropology. इसलिए जब शीर्षदर्शन पूर्ण हो जाता है तब प्रसववेदना के साथ प्रवाहण करना उचित नहीं है । इससे योनिद्वार या मार्ग विदीर्ण (Laceration) होने का डर रहता है । योनिद्वार पर गर्भ आने से प्रसववेदनाएँ अत्यन्त तीव्र स्वरूप की हुआ करती हैं, जिससे माता प्रवाहण कर नहीं सकती, परंतु रोने या चिल्लाने लगती है । रोने या चिल्लाने से प्रवाहण का कार्य आप से आप बन्द होता है । इस रुदन या क्रन्दन को योनि का रक्षाकर कर्म (Safety valve action) कहते हैं । यह कर्म निसर्गतः हुआ करता है । इसलिए गर्भ के सिर का जन्म होते समय अगर स्त्री रोती या चिल्लाती हो तो उसको कुछ भी न कहना चाहिए । अगर उस समय वह पहले की तरह प्रवाहण करना चाहे तो उसे प्रसववेदना के समय प्रवाहण करना मना करना चाहिए । प्रसववेदना के बीच में जरा-सा प्रवाहण करने पर प्रायः सिर योनिद्वार से बाहर निकलता है और दूसरी प्रसववेदना के समय संपूर्ण बालक बाहर आता है और उसके पश्चात् शेष गर्भोदक और कुछ रक्त निकलता है । गर्भ का जन्म होने पर द्वितीयावस्था समाप्त होती है । प्रथमप्रसवा स्त्री में इस अवस्था का काल १-२ घंटे का होता है और अनेकप्रसवा स्त्री में १५-३० मिनट का होता है । गर्भ का जन्म होने के पश्चात् गर्भाशय नाभि से नीचे आ जाता है ।

द्वितीयावस्था का वैदिक कर्म—निम्न मन्त्र गर्भिणी स्त्री के कान में पढ़े जाते हैं—क्षितिर्जलं विपत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः । सगर्भां त्वां सदा पांतु वैश्वदेव्यं च दिशन्तु ते ॥ प्रसूष्व स्वमविद्धि-

मविष्टिष्ठा शुभानने । कार्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्तिकेयाभिरक्षितम् ॥
(चरक) । अष्टांगसंग्रह में निम्न दो श्लोक और दिये हैं—
इदामृतमश्व सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनी । उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे
निर्वसन्तु ते ॥ इदममृतमपां समुद्धतं वै तव लघुगर्भमिमं प्रसूयतु
स्त्री । तदनलपवनाकवासवास्ते सह लवणाम्बुधैर्दिशन्तु शान्तिम् ॥
किंवा इन च्यवनप्रणीत मन्त्रों से सप्तवार अभिमन्त्रित
जल पीने के लिए दिया जाता है—जलं च्यावनमंत्रेण सप्तवारा-
भिमन्त्रितम् । पीत्वा प्रसूयते नारी । (वृन्दाधिव) ।

तत्र प्रतिलोममनुलोमयेत् ॥९॥

उसमें प्रतिलोम (गर्भ) को अनुलोम करे ॥९॥

वक्तव्य—प्रतिलोम—विषम शरीरस्थिति से आया
हुआ गर्भ प्रतिलोम कहलाता है । अनुलोमन—विषम शरीर
को सम करके निकालना—गात्रं च विषमं स्थितम् । आंछनोत्पीड-
संपीडविक्षेपोत्क्षेपणादिभिः । अनुलोम्य समाकर्षेन्नोर्णि प्रत्यार्ज-
वागतम् ॥ (अष्टांगहृदय, शारीर २) । इस विषय का
अधिक विवरण चिकित्सास्थान के मूढगर्भचिकित्सित
अध्याय में किया गया है ।

गर्भसङ्गे तु योनिं धूपयेत् कृष्णसर्पनिर्मोकेण
पिण्डीतकेन वा, बध्नीयाद्विरण्यपुष्पीमूलं हस्त-
पादयोः, धारयेत् सुवर्चलां विशल्यां वा ॥१०॥

(गर्भाशयसंग की चिकित्सा—) गर्भसंग में काले
साँप की केंचली या मदनफल (को जलाकर उसके धुएँ)
से धूपन करे; हाथ-पाँव में हिरण्यपुष्पी का मूल बाँधे;
अथवा (गल में) सुवर्चला या विशल्या को धारण
करे ॥१०॥

वक्तव्य—गर्भसंग—गर्भ का बाहर न निकलना ।
प्रारंभिक अवस्था में प्रसववेदना शुरू होने पर भी दूसरी
अवस्था में उसका बाहर न निकलना । इसके निम्न कारण
होते हैं—(१) गर्भ का प्रतिलोम या विषमस्थिति में
आना । (२) मलाशय और मूत्राशय की परिपूर्णता ।
(३) अकालप्रवाहण और प्राप्तकाल में अप्रवाहण । इनके
सिवा और भी कारण हो सकते हैं । परंतु यहाँ पर उसकी
जो चिकित्सा बतलाई गई है, उसको देखकर इससे
अधिक गंभीर कारणों का विचार करने की आवश्यकता
नहीं होती । प्रथम और द्वितीय कारणों का परिणाम एक
सा होता है, याने गर्भ के लिए अपत्यमार्ग तंग हो जाता
है । इसलिए प्रारंभ में बहुत कुछ कोशिश करने पर भी
गर्भाशय गर्भ को बाहर निकालने में असमर्थ होकर अंत
में थक जाती है । तृतीय कारण का परिणाम भी वही
होता है । अकालप्रवाहण से स्त्री थक जाती है और प्राप्त
काल पर प्रवाहण न होने से गर्भाशय निराधार होने से
थक जाता है । संक्षेप में यह गर्भसंग गर्भाशय के थक
जाने का परिणाम है । इसको Uterine inertia कहते हैं ।
यह गर्भाशयसंग दो प्रकार का होता है—प्राथमिक
(Primary) और द्वितीयक (Secondary) । प्राथमिक
गर्भाशयसंग अधिक गंभीर स्वरूप का और अधिक गंभीर

कारणों से उत्पन्न होने वाला होता है । जैसे—गर्भाशय के
विकार, अर्बुद, व्यंग, प्रसवपूर्व रक्तस्राव, माता, राजयक्ष्मा,
रक्तक्षय इत्यादि विकार । इस प्रकार का संग घातक भी
होता है और इसी का उल्लेख मूढगर्भ के असाध्य लक्षणों
में 'गर्भकोषपरासंग' करके (सूत्रस्थान के ३३वें अध्याय
का १२वाँ श्लोक देखो) किया गया है । द्वितीयकसंग कारण,
लक्षण और परिणाम की दृष्टि से उतना गंभीर नहीं होता ।
उसका निर्देश यहाँ पर किया गया है । इसको श्रान्तगर्भा-
शय (Exhausted uterus) कहने का भी रिवाज है ।
चिकित्सा—प्रतिलोम गर्भ को अनुलोम करना यह प्रथम
कारण की चिकित्सा है, उसका निर्देश ऊपर के सूत्र में
किया गया है । मलाशय या मूत्राशय मलमूत्र से परिपूर्ण
हो तो बस्ति या सलाई से उनको रिक्त करना चाहिए । इस
कारण को दूर करने के लिए ही प्रसव के प्रारंभ में माता को
विरेचन और बस्ति देना उचित है । तृतीय कारण की
चिकित्सा माता को आराम देकर पश्चात् प्रसववेदना
उत्पन्न होने पर प्रवाहण करना है । यहाँ पर ओषधियों
के द्वारा जो चिकित्सा बतलाई गई है, उसका विवरण
निम्न प्रकार से कर सकते हैं । (१) मानसिक परिणाम—
जिसका इन ओषधियों की शक्ति पर विश्वास है, वह स्त्री
इनके प्रयोग से निश्चिन्त होकर गर्भसंग दूर हो जायगा,
ऐसा मानने लगती है । इसका परिणाम गर्भाशय
के संकोच में होकर प्रसव होता है । (२) समय का
परिणाम—ओषधियों को ले आना, धूपन करना, गले में
या हाथ-पैर में बाँधना, इत्यादि में कुछ समय चला जाता
है । इसके सिवा माता की कुछ सान्त्वना करने में भी
समय चला जाता है । जैसे कि अध्वश्रान्त मनुष्य किसी
पेड़ के नीचे थोड़ी देर आराम करने पर फिर से अपना
मार्ग तय करने में समर्थ होता है, वैसे ही गर्भनिष्कासन-
श्रान्त गर्भाशय सुवर्चलादि धारण के निमित्त थोड़ी देर
तक आराम करने पर फिर से गर्भनिष्कासन के अपने कर्म
में समर्थ हो जाता है । (३) प्रत्यक्ष ओषधियों का परिणाम या
प्रभाव—हिरण्यपुष्पी, सुवर्चला, विशल्या इनमें यह प्रसव-
कारक शक्ति कहाँ तक है, यह नहीं कहा जा सकता । प्राचीन
तथा अर्वाचीन कुछ ग्रंथों में यह प्रसवकारक (आगे देखो)
बतलाई गई है । ओषधियों में इस प्रकार की आश्चर्य-
जनक शक्ति होती है, इसमें कोई संदेह नहीं । इसके
सिद्ध्यर्थ आँखों से देखा हुआ एक उदाहरण दिया जाता
है । पश्चिम खान देश जिले के मुख्य स्थान धुलिया में एक
मनुष्य के पास बिच्छू की जड़ी है । एक दिन दोपहर को
एक भूखा साधु वैरागी उसके घर पर अन्न माँगने आया
था । संयोगवश उसके घर में अन्न था और उसने उसको
दिया । उससे संतुष्ट होकर उसने वह जड़ी उसको प्रदान
की । उस जड़ी की विशेषता यह थी कि दशस्थान के
सामने (दशस्थान से प्रत्यक्ष संबंध नहीं) पानी में
भिगोकर वह रक्खी जाती थी, और मिनिट दो मिनिट में
वह जड़ी, लोहचुंबक जैसे लोह को अपनी ओर लोह को
बिना स्पर्श किये खींच लिया करता है, वैसे दृष्टिकविष

को खींच लेती थी। पश्चात् पानी से धोकर वह रख दी जाती थी। प्रत्येक साल में सैकड़ों वृश्चिकदंश के मनुष्य एकाध मिनट में निरपवाद ठीक होकर चले जाते थे। आधुनिक विज्ञान इसका उत्तर नहीं दे सकता, और जिनकी कल्पना की दृढ़ विज्ञान से आगे नहीं जा सकती, वे या तो ऐसी घटना को असत्य मानते हैं, या मेस्मेरिज्म, हिमोटिज्म या अन्य इज्म से इसका कार्य-कारण संबंध का विवरण करते हैं। परंतु विच्छृ की उस जड़ी में न कोई इज्म होता है और न उसके प्रभाव में असत्यता ही है। सैकड़ों बार आँखों से देखी हुई वह चीज है। इसलिए प्रसवकारक वनस्पतियाँ भी हो सकती हैं। अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। हिरण्यपुष्पी—लांगली। लांगली होलनी सीरी विशल्या कलिकारिका। अग्निजिह्वा स्वर्णपुष्पा दीप्ता नक्तन्दु-पुष्पिका ॥ लांगली कटुका चोष्णा कफवातापहा सरा। अपरा पातनी चैव सद्यःप्रसवकारिका ॥ हिरण्यपुष्पी स्वर्णकेतकी आरग्वध इत्यन्ये । (हाराणचन्द्र) । लांगली वारिणा पिष्टा करपाद-प्रलेपिता । अपरा पातयत्याशु न संदेहोऽत्र कश्चन । सुधौतं लांगली-मूलं वारिणा परिपेषितम् । नामौ योनौ प्रलिप्तं वा सद्यः प्रसव-कृन्मतम् । (रसतरंगिणी) । सुवर्चला सूर्यभक्ता, विशल्या पाटला । (डल्हण) । विशल्या गुडूची । (हाराणचन्द्र) । तथा सुवर्चलाया विशल्याया वा मणिवच्छरीरे धारणम् । (इन्दु) ।

अथ जातस्योल्बमपनीय, मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य, घृताक्रं मूर्ध्नि पिचुं दद्यात्; ततो नाभि-नाडीमण्डलमायस्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत्, तत्सूत्रै-कदेशं च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग् बध्नीयात् ॥११॥

(जात बालक के कर्म—) अब जन्म लिये हुए बालक के जरायु को हटाकर, सैन्धवयुक्त घी से मुख को विशोधित करके, उसके सिर पर घी से भीगा हुआ फाया रखे। पश्चात् (नाभि से) नाभिनाडी आठ अंगुल नापकर (वहाँ पर) सूत्र से बाँधकर (उसके आगे केंची से) काटे। फिर उस सूत्र का दूसरा सिरा बालक के गले में ठीक तौर से बाँधे ॥११॥

वक्तव्य—उल्ब—गर्भावरण जरायु। पहले यह बताया जा चुका है (छठे सूत्र के वक्तव्य के अन्त में) कि प्रथमावस्था के अन्त में गर्भाशयमुख पूर्ण विस्तृत होने पर गर्भ के सिर के सामने आया हुआ गर्भावरण का भाग निराधार होने के कारण फूटता है और गर्भोदक बाहर निकलता है। कभी कभी जरायु के मजबूत रहने से या अन्य कारण से पानमोटरी नहीं फूटती और यदि अंगुलि से न विदीर्ण की जाय तो गर्भ के साथ उसका सिर योनि के बाहर आने के समय तक ज्यों की त्यों रहती है और पश्चात् फूटती है। कभी कभी संपूर्ण गर्भ जरायु के साथ जन्म लेता है। इस अवस्था को उल्ब के साथ जन्म (Born with a caul, कोल अर्थ उल्ब है) कहते हैं। इसमें गर्भ के आवरण अपरा से अलाहिदा होकर गर्भ के साथ बाहर आते हैं। गर्भ योनि के बाहर आते ही साँस लेने की कोशिश करता है और यदि उसके मुख पर पानी और आवरण हो तो अपने

ही पानी में डूबकर मरने का डर रहता है। इसलिए यदि गर्भ उल्ब के साथ योनि के बाहर आ जाय तो शीघ्रातिशीघ्र जरायु को विदीर्ण करके और मुख को जरायु से स्वतन्त्र करना चाहिए। किंवा उल्ब से संपूर्ण जरायु का अर्थ न लेकर केवल जरायु का टुकड़ा भी समझ सकते हैं। कभी कभी जरायु का टुकड़ा बालक के सिर के साथ निकल आता है और मुख पर चिपट जाता है, जिससे श्वास-प्रश्वास में बाधा उत्पन्न होती है—The child is born. I lay it on the right side, see that its face is free from any portion of membrane or other hindrance to breathing. *Esoteric Anthropology*. उल्बमपनीय—संपूर्ण जरायु के साथ जन्म हुआ हो तो जरायु को विदीर्ण करके मुख को खुलाकर, किंवा मुख के ऊपर जरायु का कोई टुकड़ा हो तो उसको दूर करके। व्यापक दृष्टि से उल्बमपनीय का अर्थ बालक के चेहरे को याने मुख के बाहरी भाग को साफ करके। मुख और नासा को साफ करने में देरी होने से श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है। जातस्य—जातमात्रस्य। उपर्युक्त कारण से 'जातस्य' का अर्थ जन्म होते ही तत्काल, ऐसा करना चाहिए। अष्टांगसंग्रह में जातमात्र शब्द का प्रयोग किया गया है—अथ खलु जातमात्रमेव बालमुल्वात् सैन्धवसर्पिषा मार्जयेत् । (उत्तर तन्त्र १) । जातमात्रं तत्काल एव । (इन्दु) । इस प्रकार उल्ब के साथ बालक का जन्म क्वचित् होता है। इसलिए चरकसंहिता में जातकर्मों में उल्ब निकालने का कर्म नहीं बताया गया है। मुखं च विशोध्य—मुख के भीतर का भाग, विशेष करके गला। गले में श्लेष्मा भरा रहता है, जो श्वास-प्रश्वास में बाधा उत्पन्न करता है—कण्ठे च कफत्रेष्ठिते। इसलिए जन्म होते ही गले को भी साफ कर लेना उचित है। चरक में कण्ठविशोधन की विधि बहुत अच्छी तरह वर्णन की है—अथास्य ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाप्रमार्जनमारमेताङ्गुल्या सुपरिलिखितनखया सुप्रक्षालितोपधानकार्पासपिचुमल्या । (शरीर ८) । इससे गला साफ होकर श्वास लेने में आसानी होती है। कभी कभी गले में श्लेष्मा बहुत गहराई तक भरा रहता है, जो कराङ्गुलि से साफ नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में उसको निकालने के लिए सैन्धव और घी से बालक को उलटी कराने का रिवाज था—ततोऽस्थानन्तरं सैन्धवोपहितेन सर्पिषा कार्यं प्रच्छेदन्म् । (चरक) । आधुनिक काल में गले के भीतर का श्लेष्मा नाडीयन्त्र या सलाई (Catheter) के द्वारा चूसके निकाला जाता है। गले का भीतर का श्लेष्मा बाहर निकालने के लिए बालक को पैर से उठाकर सिर नीचा करने का भी रिवाज है। इससे आप से आप श्लेष्मा बाहर आता है, जो सलाई से या कार्पासपिचुयुक्त अंगुलि से निकाला जा सकता है। मुख की भीतर की सफाई के साथ मुख की बाहर की सफाई भी करनी चाहिए। इसमें विशेषतया आँखों पर ध्यान देना पड़ता है। आँखों की सफाई इसलिए आवश्यक होती है कि अपत्यमार्ग में से आते समय आँखों के ऊपर योनिस्त्राव और मलमूत्र का कुछ संबंध हो जाता है। यदि इन

चीजों की सफाई न की जाय, तो आँखें खुल जाने पर ये द्रव्य भीतर पहुँचकर उनमें शोथ पैदा कर सकते हैं । यदि माता सोझाक से पीड़ित हो तो आँखों की सफाई के ऊपर अधिक ध्यान देना पड़ता है । इसमें प्रथम रुई के फाया से आँखें साफ करके पश्चात् टंकणाम्ल (बोरिक) घोल से आँखें धोई जाती हैं, और अन्त में १ प्र० श० सिल्वर नैट्रेट घोल के एक दो बूँद उनमें छोड़े जाते हैं । सोजाक के सिवा योनिमार्ग में अन्य पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग होने पर भी (पूयजनक जीवाणुओं के लिए सूत्रस्थान के १०वें अध्याय के १२वें श्लोक का वक्तव्य देखो) इसी तरह से सफाई करनी चाहिए, वरना आँखों में उनका उपसर्ग पहुँचने पर आँखें आती हैं । इस विकार को नवजात नेत्राभिप्यन्द (Ophthalmia neonatorum) कहते हैं । इस अभिप्यन्द का परिणाम अन्धता में होता है । आँखों की सफाई बालक का पूरा जन्म होने के पूर्व, याने सिर बाहर निकलते ही करनी चाहिए, और बालक के संपूर्ण बाहर निकलने के पश्चात् कण्ठ की सफाई करनी चाहिए ।

इस तरह नेत्र और मुख की सफाई करने के समय तक हस्तस्पर्श, वस्त्रस्पर्श, वायुस्पर्श इनको सह न सकने के कारण बालक प्रायः जोर से चिल्लाने लगता है, जिससे उसके जन्म का तथा स्वस्थावस्था का पता सब को लग जाता है । कभी कभी कष्टप्रसूति के कारण या अपने दौर्बल्य के कारण बालक जल्दी नहीं रोता, उस समय गरम या ठंडे पानी का अवसेचन, चपत लगाना इत्यादि मामूली उपाय करने चाहिए । बालक के न रोने के कारणों का बड़ा सुंदर वर्णन अष्टांगसंग्रह में दिया है और चरक में रूलाने के उपायों को बतलाया है—ततोऽस्यातिप्रबलमोहज्वरपरीतसर्वगात्रस्य क्रोशितुमपि रुजारुरुपमसमर्थस्यानवस्थिताशेषदेहधातोरसम्भाव्ययौवनानवस्थस्य क्रकचस्पर्शमिव करवसनपवनसंसर्गं मन्यमानस्याविकल्पितमज्ञानि विक्षिप्तः पुनरिव मरणमनुभवतो लीयमानसंश्रयातिसंवाधयोनिपुटावपीडितप्राणप्रत्यानयनाय ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर १) । अश्मनोः संघट्टनं कर्णयोर्मूले, शीतोदकेन वा सुखेन परिपेकः, तथा स क्लेशविहितान् प्राणान् पुनर्लभेत । कृष्णकपालिकाशर्पणं चैनमभिनिष्पुणीयुर्यद्यचेष्टः स्याद् यावत् प्राणानां प्रत्यागमनम् । (चरक) । एतच्च प्रसूतिकात्सजातमोहप्रशमार्थम् । (इन्द्रु) । शीतोदकेन चोष्णोदकेनेति विकल्पो ऋतुमेदेन द्वयः, ग्रीष्मकाले शीतोदकेन, शीतकाले तूष्णोदकेनेत्यर्थः । (चक्रपाणिदत्त) । प्रसवपीडा के कारण लीयमान याने मूढचेतन बालक इन मामूली उपायों से होश पर आकर आक्रोश करने लगता है । यदि होश पर न आ जाय तो समझना चाहिए कि बालक नवजात श्वासावरोध से पीड़ित है, और उसके अनुसार शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए । नवजात श्वासावरोध (Asphyxia neonatorum)—मनुष्यों को प्राणवायु की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति श्वास से होती है । गर्भाशय में स्थित बालक श्वास-प्रश्वास का कार्य नहीं करता, उसका कार्य माता के द्वारा होता है—मातुर्निश्वास्तोच्छ्वाससंक्षोभस्प्रसंभवान् । (शरीर ३) । अर्थात् गर्भाशय से बाहर आने के पूर्व बालक को प्राणवायु माता के रक्त से मिलता है । गर्भाशय के संकोच

के समय गर्भाशयगत अतएव अपरागत रक्तसंचार बंद हो जाता है तथा गर्भहृदय की गति मंद होती है । अर्थात् गर्भाशयसंकोच के समय गर्भ को प्राणवायु कम मिलती है । संकोच समाप्त होने पर फिर से रक्तसंचार शुरू होकर प्राणवायु मिलने लगती है । द्वितीयावस्था में जब संकोच की लहरें जल्दी जल्दी आने लगती हैं तब गर्भ को प्राणवायु कुछ मिलती है, परंतु पूर्णतया उसका अभाव नहीं होता । क्वचित् द्वितीयावस्था में गर्भाशय की संकोच लहरें सान्तरित के बदले निरन्तर हो जाती हैं । उस अवस्था में गर्भ को प्राणवायु नहीं मिलती और उसका परिणाम श्वासावरोध में होता है । इस कारण के सिवा कभी कभी गर्भ की नाभिनाडी दब जाती है, या अपरा गर्भाशय से जल्दी पृथक् होने लगती है और श्वासावरोध होता है । श्वासावरोध का एक और भी कारण होता है । प्राणवायु की कमी होने से गर्भ गर्भाशय में या योनि में होते समय मुख से साँस लेने की कोशिश करता है । इसका परिणाम यह होता है कि गले में या फुफ्फुस में कुछ गर्भोदक या श्लेष्मा प्रविष्ट होकर वायु के रास्ते में रुकावट पैदा करता है । यह श्वासावरोध दो प्रकार का है—(१) श्वेत (A. pallida)—इसमें बालक का वर्ण पीका, शरीर ठंडा और हृदय मंद और क्षीण होता है । यह श्वासावरोध असाध्य होता है । (२) नील (A. livida)—इसमें बालक का वर्ण नीलाभ होता है । उसका हृदय ठीक काम करता है । यह श्वासावरोध प्रायः साध्य होता है । इसमें प्राणप्रत्यानयन के ऊपर जो उपाय बताये हैं, जैसे, शीतल जलावसेचन इत्यादि, उनसे काम हो जाता है । यदि इससे काम न हो तो श्वेत श्वासावरोध के समान कृत्रिम श्वसन का उपयोग करना (सूत्रस्थान २७वें अध्याय के १५वें सूत्र के वक्तव्य में कृत्रिम श्वसन की विधियाँ देखो) चाहिए । श्वेत श्वासावरोध में कृत्रिम श्वसन का उपयोग करने की आवश्यकता होती है । कृत्रिम श्वसन प्रारंभ करने के पूर्व बालक का मुख और गला साफ करना आवश्यक है । बालक श्वेत श्वासावरोध से पीड़ित हो तो तुरन्त उसकी नाड़ी काटकर उसको थोड़ी देर तक (कुछ सैकंड) गरम पानी में (१००° फे०) रखना चाहिए । पश्चात् उसको वहाँ से निकालकर और अच्छी तरह पोंछकर कृत्रिम श्वसन कराना चाहिए । कृत्रिम श्वसन में सिल्वेस्टर, लबोर्दे की तथा मार्शल की पद्धतियाँ काम में लाई जाती हैं । मार्शल की पद्धति में बालक प्रसारित हथेली पर क्रम से पीठ के बल और छाती के बल पर रक्खा जाता है, जिससे उसका सिर और शाखाएँ नीचे की ओर लटकती रहती हैं । मार्शल की पद्धति नील श्वासावरोध में अधिक उपयोगी होती है । संमुखश्वसन (Mouth to mouth respiration)—इसमें बालक के मुख में मुख से हवा फूँकी जाती है । फूँकने के समय नासा बंद की जाती है तथा आमाशय के ऊपर कुछ दबाया जाता है, जिससे हवा नासामार्ग से न बाहर आ सके, न आमाशय में चली जाय । इस प्रकार का संमुख श्वसन कई बार किया जाता है । कृत्रिम श्वसन का कर्म

हृदय और श्वसन के अच्छी तरह चलने के समय तक या पूर्णतया बंद हो जाने के समय तक करना चाहिए । प्राण-प्रस्थानयन में कृत्रिम श्वसन के सिवा पिच्युट्रिन का इन्जेक्शन तथा (मात्रा २-५ बूँद) और प्रांटी मसूडों पर तथा छाती पर मलना इन उपायों का भी उपयोग होता है । ग्रीवाश्वसरोध में मामूली उपायों से अगर काम न हो तो उसकी नाडी काटकर श्वेत के समान सब उपाय करने चाहिए । अष्टांगसंग्रह—नाभि तो दैर्घ्येणाष्टाङ्गुलं परिमाय । बाम्भट आठ अंगुल के बदले चार अंगुल बताते हैं—नाभिनालं नालाभिर्बन्धनाचतुरंगुलस्योर्ध्वं क्षीमसूत्रेण बद्धा । (अष्टांगसंग्रह) । नाभि च सूत्रेण चतुरंगुलाद् बद्धोर्ध्वम् । (अष्टांगहृदय) । चतुरंगुल की मर्यादा आधुनिक काल की मर्यादा से अधिक मिलती है । ग्रीवायां बन्धीयात्—इहहृणाचार्य कहते हैं 'श्रावपरिहार्यम्' । परंतु यह कथन भी ठीक नहीं है । नाडी के अन्त में गाँठ लगाने पर स्राव होने का कोई डर नहीं होता । हाराणचन्द्र कहते हैं कि गले में बाँधने से नाडी के भीतर का रसप्रवाह बंद होकर नाडी सूखने में सहायता होती है—ग्रीवायां बन्धीयादिति तु नितरां रसादिगतिप्रतिबंधेन स्वरितमुच्छोषयितुमित्युत्तरेण ॥ परंतु यह कथन भी ठीक नहीं है । क्योंकि गले में बाँधने से रसादि की गति की रुकावट होने का कारण नहीं है, न उससे सूखने में सहायता होती है । गले में बाँधने का प्रयोजन यह मालूम होता है कि अगर आठ अंगुल लंबी नाडी का दूसरा सिरा वैसा ही खुला रक्खा जाय तो वह स्वतन्त्र और लंबा होने के कारण हर एक काम में दुखल करेगा । बालक के मल-मूत्र से खराब होगा तथा गीला भी होगा, क्योंकि वह जननेन्द्रिय के बहुत करीब होता है । इस आपत्ति को दूर करने के लिए उसका सिरा बालक के गले में बाँधने का आदेश किया गया है । यदि नाडी अंगुल दो अंगुल लम्बी रक्खी जाती तो गले में बाँधने की कोई आवश्यकता नहीं होती । इन्धु अपनी टीका में गले में बाँधने का उद्देश्य लम्बत्वपरिहार बताते हैं, वह बहुत ठीक है—छिन्नशिष्टे नाभिनालं नालस्य ग्रीवायां सूत्रेणासज्जवेहमन्त्वपरिहाराय । नाडीकल्पन की विधि चरकसंहिता में बहुत उत्तम प्रकार से वर्णित है—नाभिबन्धनाद् प्रभूलष्टाङ्गुलमभिधानं कृत्वा छेदनावकाशस्य द्वयोः रन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन रौक्म-राजतायसानां छेदनानामन्यतमेन छेदयेत् ।

नाडीकल्पन के संबंध में कुछ बातें—(१) नाडीबन्धन का समय—माता के शरीर में नाभिनाडी के द्वारा माता और गर्भ में आदान-प्रदान का कार्य हुआ करता है । अर्थात् यह आदान-प्रदान नाभिनाडीगत रक्तप्रवाह से होता है जिसका ज्ञान हमें नाडीगत स्पन्दन से हो जाता है । बालक के स्वतन्त्रवृत्ति होने पर यह आदान-प्रदान याने नाभिनाडीगत स्पन्दन बंद हो जाता है । अपत्य मार्ग से बाहर आते ही बालक प्रथम श्वास-प्रश्वास का कार्य प्रारंभ करता है । इससे बालक के फुफ्फुस में रक्त की राशि अधिक जाने लगती है और अपरा (जो पहले फुफ्फुस का काम करती थी) में कम जाने लगती है । कुछ मिनिटों में रक्त-

परिभ्रमण की यह बदल-बदल पूरी होकर नाडीगत रक्त-प्रवाह पूर्णतया बंद होता है, जिसका ज्ञान नाडीगत स्पन्दन बंद होने से होता है । इसलिए नाडी का बंधन उस समय पर करना चाहिए, जब कि बालक की नाभिनाडी का स्पन्दन बंद हो गया हो । जन्म के पश्चात् मुखविशोधन, अश्मसंघटन इत्यादि कर्म करने के लिए जितना समय लगता है, उतने समय में नाभिनाडीगत रक्तप्रवाह आप से आप बंद हो जाता है । चरकसंहिता के 'ततः कल्पनं नाड्या' इस शब्द प्रयोग से यह बात स्पष्ट होती है कि नाडी का कल्पन अश्मसंघटनादि कर्मों के पश्चात् किया जाता था । परंतु उपर्युक्त कर्म कोई करे या न करे, नाडी का बन्धन तथा कल्पन नाडीगत रक्तप्रवाह बंद होने के पश्चात् करना चाहिए । यदि बालक के बाहर आते ही नाडीकल्पन किया जाय तो बालक ८ तोले रक्त से वंचित हो जाता है याने नाडी का स्पन्दन बंद होने के समय तक अपरा से बालक के शरीर में ८ तोला रक्त प्रविष्ट होता है । अष्टांगहृदय में नाभिनाडी के बंधन का समय 'स्वस्वीभूतस्य' शब्द से सूचित किया गया है । जब कोई व्यक्ति अत्यन्त भिन्न परिस्थिति में, या स्थान में, या आव-हवा में चला जाता है, तब थोड़े काल तक वह अस्वस्थ होता है । फिर धीरे धीरे वह स्वस्थ हो जाता है । बालक के लिए भी ऐसा ही होता है । माता के शरीर के भीतर की परिस्थिति और शरीर के बाहर की परिस्थिति में जमीन-आसमान का भेद होता है, जिसके कारण बालक कुछ देर तक अस्वस्थ रहता है । इसका सुन्दर वर्णन अष्टांगसंग्रह का ऊपर जो उद्धरण दिया है, उसमें मिलता है । कुछ देर के पश्चात् बालक इस नई परिस्थिति के लिए तैयार हो जाता है । उस अवस्था को 'स्वस्वीभूत' कहते हैं । इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आयुर्वेद में नाडीबन्धन के लिए जो काल बताया गया है, वह आधुनिक काल के साथ मिलता है । (२) बन्धनों की संख्या—छेदन करने के पूर्व नाडी में दो बन्धन लगाये जाते हैं । एक बन्धन नाभि के साथ लगी हुई नाडी के अन्त में रहता है और दूसरा अपरा से संबंधित नाडी के अन्त में रहता है । गर्भ को नाडी के साथ बंधन की आवश्यकता होती है क्योंकि यदि बंधन न लगाया जाय तो उससे रक्त का स्राव होगा । दूसरे बन्धन की उतनी आवश्यकता नहीं होती और न लगाया जाय तो भी कोई ख़ास नुकसान नहीं होता । सुश्रुत, अष्टांगहृदय तथा संग्रह में एक ही स्थान पर बन्धन बाँधने के लिए कहा है । आधुनिक काल में दो बन्धन बाँधने का रिवाज है । दूसरे बन्धन का उपयोग अपरापतन का ज्ञान होने के लिए होता है । इसके सिवा जब यमल की उत्पत्ति होती है, तब कई बार दोनों की नाभिनाडी का आपस में संबंध रहता है । उस अवस्था में यदि अपरा से संबंधित नाडी पर बंधन न लगाया जाय तो दूसरे गर्भ से रक्तस्राव होने का डर रहता है । इसलिए दूसरा बंधन लगाना यद्यपि हरेक बालक के लिए आवश्यक नहीं होता तथापि प्रसव की तृतीयावस्था के लिए सुविधाजनक और यमलों के लिए

आवश्यक होता है । अतः परिपाटी के तौर पर आजकल दो बंधनों का प्रयोग होता है । चरकसंहिता में भी दो बंधनों का उपयोग करने का उपदेश किया गया है—
 छेदनावकाशश्च द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन छेदयेत् ।
 (चरक) । इसका अभिप्राय यह है—छेदनावकाशस्योर्ध्वमे-
 कमधक्षेकं बंधनं क्षौमसूत्रेण वृद्धकापांससूत्रेण वा दत्त्वा द्वयोर्बन्धनयो-
 र्मध्ये तीक्ष्णेन शस्त्रेण छेदयेत् । (३) छेदन और बंधन के सूत्र
 और शस्त्र—ये दोनों ही विशोधित (Sterilized) होने
 चाहिए । इनके विशोधन पर ध्यान न देने से नाभि और
 नाड़ी में पाक उत्पन्न होने की संभावना होती है । कभी
 कभी यह दोष गर्भ के शरीर में फैलकर जीवाणुमयता
 (Septicæmia) से बालक की मृत्यु भी हो सकती है ।
 नाभिपाक से नाभिप्रदेश में कमजोरी उत्पन्न होकर आयाम-
 व्यायामादि विकार उत्पन्न होते हैं—असम्बन्धकल्पने हि
 नाट्या आंयामव्यायामोऽनुष्ठितापिण्डलिकाभिनामिकाविन्मिका-
 वापेभ्यो भयम् । (चरक) । इस विषय का विवरण आगे
 ४६वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । (४) कल्पनोत्तर
 नाडीबन्धन की पद्धति—नाभि के साथ संबंधित नाडी का
 हिस्सा प्रायः पाँचवें दिन नाभि से स्वतन्त्र हो जाता है ।
 कभी कभी पंद्रह रोज तक नाडी नाभि से पृथक् नहीं
 होती । तब तक नाडी को इस प्रकार सुरक्षित रखना
 चाहिए कि जिससे वह जल्दी सूख जाया करे, मलमूत्रादि
 से दूषित न हो तथा जबर्दस्ती न खींची जाय । यहाँ पर
 कल्पित नाडी गले में बाँधने की जो विधि बताई गई है,
 उससे प्रायः उपर्युक्त तीनों कार्य निकल आते हैं; इसमें
 संदेह नहीं है । केवल एक आध बार बच्चे को उठाते समय,
 नहलाते समय, कपड़े पहनाते समय, वह अनजाने खींची
 जाने का डर रहता है । परंतु पैरों में दखल देने वाली
 धोती की लाँग को धूमते और सायकल पर सवार होते
 समय जेब में खोंसने की बंगालियों की पद्धति जैसे
 कामचलाऊ होने पर भी सर्वोत्तम नहीं कही जा सकती, वैसे
 ही गले में लटकाने की यह पद्धति कामचलाऊ होने पर
 भी उत्तम नहीं कही जा सकती । उत्तम विधि तो यह है
 कि किसी स्वच्छ मृदु कपड़े की करीब तीन इंच चौड़ी,
 चार इंच लम्बी, कुछ मोटी, मध्य में छिद्रयुक्त तह बनाकर
 उस छिद्र में से नाडी को पिरोकर, वह कपड़े की तह नाभि
 पर रखे और पश्चात् उस पर नाड़ी को रखकर तथा टंकणाम्ल
 (बोरिक) या अन्य ओषधि की बुकनी बुरकाकर नाडी के
 ऊपर उदर के चारों ओर बंध (Bandage) बाँध दे । नाड़ी
 गिर जाने के दिन तक इस प्रकार सुबह शाम उसका बंधन
 किया जाय । बुरकाने के लिए कोई ओषधि न हो तो कोई
 हरज्जा नहीं होता, परंतु कपड़ा और बंध विशोधित होना
 चाहिए । आजकल नाडीबंधन इसी तरह से होता है । गले
 में बाँधने का रिवाज नहीं है । (५) स्वच्छता—नाडी के
 कल्पन और बन्धन के काम में आने वाली सब चीजें
 अत्यन्त स्वच्छ होनी चाहिए । इसमें लापरवाही करने से
 पूवजनक जीवाणुओं का प्रवेश नाभिनाडी में होकर
 नाभिपाक तथा अन्य आपत्तियाँ खड़ी होती हैं । आयुर्वेद

में नाडी कल्पन के पश्चात् नाभि के ऊपर कुछतेल सेचन
 करने के लिए लिखा है—नाभिं च कुछतेलेन सेचयेत् ।
 (अष्टांगहृदय और संग्रह, उत्तरस्थान १) । कुछ (Saussurea
 Lappa) में उद्बन्धील तेल होता है । इस तेल में जीवाणु-
 नाशक विरोधता पूवजनक जीवाणुनाशक शक्ति है, वह
 वात आयुनिक खोज से सिद्ध हुई है—The essential oil
 has strong antiseptic and disinfectant properties
 especially against the streptococcus and staphy-
 lococcus. Nadkarni's Indian Materia Medica.
 इससे यह स्पष्ट है कि कुछसिद्ध तेल में जीवाणुनाशक
 का गुण होने से नाभि के ऊपर उसका प्रयोग करने की
 पद्धति हितावह ही है । परंतु 'प्रक्षालनादि पंक्च दूरादस्पर्शनं
 वर्ज्यम्' इस व्यावहारिक तत्त्व के अनुसार नाभि और नाडी के
 पास पूवजनक जीवाणुओं को पहुँचने का मौका ही न मिले,
 इस प्रकार के वक्ष नाभिबन्धन में प्रयुक्त करना उचित है ।
 नाडी की दृष्टि में बालक के स्नान का भी कुछ संबंध
 होता है । इसका विचार आगे के सूत्र में किया गया है ।

अथ कुमारं शीताभिरङ्गिराश्वस्य जातकर्मणि
 कृते मधुसर्पिरनन्तचूर्णमङ्गुल्याऽनामिकया लेह-
 येत्; ततो बलातैलेनाभ्यज्य, क्षीरवृक्षकपायेण
 सर्वगन्धोदकेन वा रूप्यहेमप्रतप्तेन वा वारिणा
 स्नापयेदेनं कपिरथपत्रकपायेण वा कोष्णेन यथा-
 कालं यथादोषं यथाविभवं च ॥१२॥

अब बालक को शीतल जल से (परिसेचन द्वारा)
 आध्यासित करके जातकर्म करने पर मधु और घृत के साथ
 सुवर्ण का चूर्ण अनामिका अंगुलि से चटावे । पश्चात्
 बलातैल से मालिश करके मन्दोष्ण क्षीरवृक्षकपाय से,
 सर्वगन्धयुक्त जल से, प्रतप्त चाँदी-सोने के (निमज्जन के)
 जल से, अथवा कैथ के पत्ते के कपाय से दोष, काल और
 सामर्थ्य के अनुसार (बालक को) स्नान करावे ॥१२॥

वक्तव्य—कुमार—यहाँ पर, पिछले सूत्र में तथा
 अन्य स्थानों में भी कुमार शब्द से कुमारी का भी ग्रहण
 हो सकता है, क्योंकि कुमार या पुत्र शब्द अपत्यवाचक ही
 प्रायः प्रयुक्त किये जाते हैं । फर्क इतना ही है कि जहाँ
 संस्कारों का संबंध होता है, वहाँ पर कुमार के संस्कार
 मन्त्रयुक्त और कुमारी के संस्कार मन्त्रविरहित किये जाते
 हैं—अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृद्धयेतः ॥ (मनु २-६६) ।
 जैसे, कुमार हो तो मधु-घृत समन्त्रक चटाया जायगा—
 मधुसर्पिणी मन्त्रोपमन्त्रिते यथास्त्रायं प्राशितुं दद्यात् ॥ (चरक) ।
 कुमारी हो तो वैसे ही चटाया जायगा । परंतु यहाँ पर
 बालक के लिए जो कुमार शब्द का प्रयोग किया गया है,
 वह इसलिये है कि गर्भ स्थापन होने पर पुंसवनविधि का
 प्रयोग किया गया था । अनन्तचूर्णम्—सुवर्णचूर्णम् । कहीं कहीं
 'अनन्ता' ऐसा भी पाठ है । हाराणचन्द्र 'अनन्ता'वाक्योत्पत्ति
 ऐसा पाठ देते हैं । वाग्भट अष्टांगसंग्रह में और भी कई
 ओषधियों का समावेश करते हैं—ततश्चेन्द्रोऽनाडीशङ्खधुपि

वचाकल्कं मधुघृतोपेतं हरेणुमात्रं कुशाग्राभिमन्त्रितं सौवर्णेनाश्वत्थ-
पत्रेण मेघायुर्वलजननं प्राशयेत् । तद्वद् ब्राह्मीबलानन्ताशतावर्त्य-
तमचूर्णं वा । यहाँ पर का पाठ गृह्यसूत्रानुसार है—कुमारं
जातं पुराऽन्यैरालम्भाद् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकापं हिरण्येन
प्राशयेत् ॥ गृह्यसूत्रोक्त चटाने की विधि यह है कि किसी
सान पर वी और मधु लेकर उसमें सोना रगड़कर उसी
सोने से वह अवलेह बालक के मुख में लगाना । यहाँ पर
अंगुलि से चटाने के लिए लिखा है । प्राशन मन्त्र—प्र ते
ददामि मधुनो घृतस्य वेदं सवित्रा प्रसृतं मधोनाम् । आयुष्मान्
गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन् ॥ बलातैलेना-
भ्यज्य—बालक के शरीर पर उदक में अधिक काल रहने
की दृष्टि से एक प्रकार का चिकना पदार्थ (Vernix caseosa
तीसरे अध्याय के ३५वें सूत्र का वक्तव्य देखो) बनता है ।
कभी यह पदार्थ अधिक होता है, कभी कम होता है ।
केवल जल से यह साफ नहीं होता है । तैल से यह जल्दी
निकल आता है । इसलिए संपूर्ण शरीर पर तैल की मालिश
करने से त्वचा की सफाई होने में सहायता मिलती है ।
बलातैल का वर्णन चिकित्सास्थान के मृदगर्भचिकित्सित
अध्याय के अन्त में किया गया है । क्षीरवृक्ष—अश्वत्थादि
वृक्ष जिनकी त्वचा पर घाव करने से दूध के समान
सफेद गाढ़ा रस निकलता है—अश्वलोदुम्बरपुष्पवटपिप्पलसं-
ज्ञिताः । पंचैते क्षीरिणो वृक्षाः समाख्याता विचक्षणैः ॥ सर्वगन्ध-
चातुर्जातककपूरककोलायुरुकुटुम्बम् । लवङ्गसहितं चैव सर्वगन्धं
प्रकीर्तितम् ॥ किंवा सूत्रस्थान के द्रव्यसंग्रहणीय अध्यायोक्त
'पुलादिगण' की ओषधियों का भी ग्रहण किया जा सकता
है । रूप्यहेमप्रतप्तन—सोने और चांदी के पदार्थ को प्रतप्त
करके पानी में बार बार डुबाने से गरम किये हुए जल से—
कोष्णेन तप्तरजतपनीयनिमज्जनेः । (अष्टांगहृदय) । स्नापयेत्—
जन्म के पश्चात् शरीर पर तैल लगाकर साबुन और मन्दोष्ण
जल से बालक को नहलाने का रिवाज पाश्चात्य देशों में
भी है । परंतु स्नान के समय बालक की नाभिनाडी
गीली हो जाती है और स्नान के पश्चात् नाडी को सुखाने
की ओर ठीक ध्यान न दिया जाय तो उसमें पाक होने
की संभवनीयता बढ़ती है । कुछ चिकित्सकों ने यहाँ तक
सिद्ध किया है कि नाडी को सुखाने की कितनी भी कोशिश
क्यों न की जाय, अस्नात बालकों की अपेक्षा स्नात बालकों में
नाडीपाक अधिक हुआ करता है । इसलिए उन लोगों का
कथन है कि जन्मदिन से नाभिनाडी गिरने के पश्चात्
नाभिव्रण का पूर्ण रोपण होने के समय तक बालक को न
नहलाना चाहिए, परंतु नाभि और नाडी गीली न हो जाय,
उस प्रकार से शरीर को पोंछ देना चाहिए । इस कथन
में कुछ तथ्य है । इसलिए बालक को नहलाने के पश्चात्
प्रतिदिन नाभिनाडी को सुखाने पर तथा उसके साथ संबंध
रखने वाले कपड़ों की सफाई पर विशेष ध्यान देना
चाहिए । कोष्णेन—शरीरतापक्रम से कुछ अधिक, ९००°
फै० The water should be nearly blood-warm and it
is best to rub the skin all over first with some
sweet oil. Esoteric Anthropology. कोष्ण का अर्थ

मंदोष्ण याने शरीरतापक्रम से कुछ अधिक । स्नान का
पानी शरीरतापक्रम से कुछ अधिक रखने पर स्नान के
समय वह शरीरतापक्रम के बराबर हो जाता है ।
यथाकालम्—काल के अनुसार । जैसे, शीतकाल में पानी
कुछ अधिक गरम हो, मध्यम काल में मंदोष्ण हो और
गरमियों के दिनों में कुछ ठंडा (७०°-८०° फै०) हो ।
यथादोषं यथाविभवं च—दोषानतिक्रमेण, क्षीरवृक्षकषायेण
पित्तघ्नेन, सर्वगन्धोदकेन वा वातघ्नेन । विभवानतिक्रमेण रूप्य-
हेमतप्तेन वारिणा । (डल्हण) । जातकर्म—जातमात्रस्य वेदोक्तं
कर्म ।

धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम् ।

चतुरात्रात्रिात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते ॥१३॥

तस्मात् प्रथमेऽहि मधुसर्पिरनन्तमिश्रं मन्त्रपूतं
त्रिकालं पाययेत्, द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं सर्पिः,
तृतीये च; ततः प्राङ्निवारितस्तन्यं मधुसर्पिः स्वपा-
णितलसंमितं द्विकालं पाययेत् ॥१४॥

(स्तन्योत्पत्तिकाल—) हृदय (प्रदेश) में स्थित
धमनियों के विस्फुट होने के कारण (प्रसूति के) पश्चात्
तीसरे या चौथे दिन से स्त्रियों को दूध शुरू होता है ॥१३॥
इसलिए प्रथम दिन (बालक को) मन्त्रपूत सुवर्णमिश्र
मधुसर्पि (दिन भर में) तीन बार पिलावे, दूसरे और
तीसरे दिन लक्ष्मणासिद्ध घृत (प्रथम दिन के समान तीन
बार); चौथे दिन पहले (माता का) दूध न पिलाये गये
उस (बालक) को (उसकी) हथेली में जितना रहे
उतना घी और मधु दो बार पिलावे, (पश्चात् तीसरे समय
से माता का दूध पिलाना शुरू करे) ॥१४॥

वक्तव्य—धमनीनां हृदिस्थानाम्—हृदयप्रदेशस्थित
अर्थात् स्तनसंश्रित धमनियाँ—धमन्यः संवृतद्वारा कन्यानां
स्तनसंश्रिताः । दोषाविसरणाच्चासां न भवन्ति स्तनामयाः ॥
तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः । स्वभावादेव विवृता
जायन्ते । (निदान १०) । विवृतत्वात्—स्तनसंश्रित
धमनियों की विवृतता प्रसूति के पश्चात् नहीं होती, वह
गर्भावस्था के प्रारंभ से शुरू होती है और संपूर्ण गर्भावस्था
पर रहती है, यह बात उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट है । अर्थात्
तीसरे या चौथे दिन स्तन्य उत्पन्न होने का कारण विवृतता
नहीं है, इसको ध्यान में रखना चाहिए । स्तन्यप्रवर्तन के
दो कारण हैं—(१) स्वभाव—जैसे गर्भ का आधान होने
के पश्चात् स्वभाव से स्तनसंश्रित धमनियाँ विवृत हो जाया
करती हैं, वैसे ही प्रसूति के पश्चात् तीसरे या चौथे दिन
स्तनों से दूध निकलने लगता है । (२) प्रसूति—प्रसूति होने
के पश्चात् । प्रसूति स्तनों में स्तन्य का प्रवर्तक होती है—
सिराणां हृदयस्थानां विवृतत्वात् प्रसूतिः । (अष्टांगहृदय) ।
स्तन्योत्पत्ति के संबंध में आधुनिक मत—आधुनिक काल
में इसके संबंध में बहुत कुछ खोज हुई है, परंतु अभी तक
ठीक ठीक निर्णय नहीं हुआ है । तथापि स्तन्यप्रवर्तन के
संबंध में निम्न उपपत्ति बतलाई जाती है । मस्तिष्क के

पोषणिका ग्रंथि (Pituitary body) के अग्रिम भाग से जो अन्तःस्राव निकलकर रक्त में मिलता है, वह स्तनों में रक्त के साथ पहुँचकर उनको स्तन्योत्पत्ति में प्रवर्तित करता है। यह द्रव्य स्तन्यप्रवर्तक, या स्तन्यजनक या स्तन्यपूर्वज (Prolactin, Galactin) कहलाता है। बालक को दूध की आवश्यकता जिस अवधि में होती है, उस अवधि में यह द्रव्य उस ग्रंथि के अग्रिम (Anterior) हिस्से में बनता रहता है और दूध की उत्पत्ति में सहायता करता है। जब दूध की आवश्यकता नहीं होती, तब यह द्रव्य भी उसमें नहीं बनता। इसका अभिप्राय यह है कि गर्भावस्था में यह द्रव्य नहीं बनता और प्रसूति होने पर बनने लगता है जिसके कारण दूसरे या तीसरे दिन दूध का प्रवर्तन शुरू होता है। अब प्रसूति के और इसके बीच में क्या संबंध है? इसके बारे में कई मत प्रचलित हैं, जिनमें निम्न दो प्रधान हैं—(१) प्रसूति के बाद गर्भाशय सिकुड़ता है और उससे पोषणिकाग्रंथि को नाड़ियों द्वारा (Nervous reflexes) सूचना मिल जाती है कि अब दुग्धप्रवर्तक द्रव्य बनाने का समय आ गया है। (२) गर्भावस्था में अपरा और बीजग्रंथि से कुछ द्रव्य (तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक का वक्तव्य देखो) बनते हैं, जो प्रायः पोषणिकाग्रंथि के स्तन्यप्रवर्तक द्रव्य की उत्पत्ति के विरोधी होते हैं। प्रसूति के पश्चात् अपरा का यह विरोधी कार्य नष्ट होने से वह ग्रंथि दुग्धप्रवर्तक द्रव्य को बनाती है, जिसके परिणाम स्वरूप में स्तनों में दूध का प्रवर्तन होता है। संक्षेप में, जो स्वभाव गर्भावस्था में बालक का पोषण पूर्ण प्रगल्भ होने पर गर्भाशय से उसका निष्कासन करता (निदानस्थान ८वें अध्याय के ८वें श्लोक और उसके वक्तव्य को देखो) है, वही निष्कासन के पश्चात् दूध उत्पन्न करके उसका पोषण करता है। परंतु स्वभाव परमेश्वर के समान निर्गुण निराकार होने के कारण कार्य करने के लिए उसको सगुण साकार अंगों और द्रव्यों का आधार लेना पड़ता है। स्वभाव प्रत्येक कार्य के लिए किस प्रकार और किस का आधार लेता है, इसको जानने में ज्ञान है। इसको जानने की कोशिश अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक हो रही है और भविष्य में भी होती रहेगी और इसके कारण ज्ञान की वृद्धि भी होती आ रही है और होती जायगी। परंतु एक मर्यादा पर अंत में स्वभाव पर ही छोड़ना पड़ेगा। ज्ञान की वृद्धि इस मर्यादा को बढ़ाने में होती है। प्राचीन काल में यह मर्यादा बहुत छोटी थी, अब अधिक बढ़ गई है, भविष्य में इससे अधिक बढ़ेगी। चतुरावत्-विरावादा—इसमें संदेह नहीं है कि प्रारंभिक दो तीन दिन स्तनों में दूध नहीं होता या अल्प होता है। प्रसूति के कारण उत्पन्न हुए परिवर्तन का परिणाम स्तन्योत्पत्ति में होने के लिए दो तीन दिन की अवधि आवश्यक होती है। जब स्तनों में दुग्धोत्पत्ति प्रारंभ होती है, तब वे कठिन और पीड़ायुक्त होते हैं। क्वचित् उस समय शरीर का तापक्रम एक दो अंश से बढ़ सकता है। इसको स्तन्यज्वर (Milk-fever) कहने का रिवाज है। काश्यपसंहिता में

सूतिकाज्वर के कारणों में स्तन्यागम एक कारण दिया है, तथा उसके लक्षण दिये हैं—स्तन्यागमाद्वाबाधादजीर्णाद् दुग्धजायनात्। ज्वरः संजायते नायाः पक्षिभ्यो हेतुमेदतः ॥ तृतीयेऽ- हि चतुर्थे वा नायाः स्तन्यं प्रवर्तते। पयोवह्निं स्रोतांसि संवृता- न्यभिषट्येत् ॥ करोति स्तनयोः स्तम्भं पिपासां हृदयद्रवम् ॥ कुक्षि- पार्श्वकटीशूलमङ्गमर्दं शिरोरुजाम् ॥ एतत् स्तन्यागमोत्थस्य ज्वरस्योक्तं स्वलक्षणम् ॥ स हि पीयूषसंशुद्धौ क्रममात्रेण तिष्ठति ॥ इसका अभिप्राय यह है कि तीसरे या चौथे दिन दूध उत्पन्न होकर बंद पयोवह स्रोतसों (Lactiferous bobules and ducts) में अभिषट्टन याने उत्तेजना पैदा करता है, जिससे स्तनों में स्तम्भ (कठिनता और पीड़ा) और छाती में बेचैनी (हृदयद्रव) इत्यादि लक्षण होते हैं। पीयूष की शुद्धि होने पर ये लक्षण आप से आप ठीक होते हैं। अर्थात् दुग्ध का प्रवर्तन ठीक प्रारंभ होने पर स्तनगत कठिनता, पीड़ा, सिरदर्द तथा हरातर ये लक्षण आप से आप ठीक हो जाते हैं। कुछ पाश्चात्य प्रसूतिशास्त्रज्ञ स्तन्य-ज्वर के अस्तित्व के संबंध में जो शंका प्रदर्शित करते हैं, वह ठीक नहीं है। स्तन्यज्वर यद्यपि सब स्त्रियों में नहीं तथापि कुछ स्त्रियों में, विशेषतः वातिक और कोमल प्रकृति की स्त्रियों में कई बार उत्पन्न होता है। इसका कारण अभी तक ठीक ठीक मालूम नहीं हुआ है—And as to the cause and significance of the rise of temperature which sometimes accompanies the shooting in of the milk, we are still more uncertain. *Ideal Birth.* स्तन्यज्वर की उत्पत्ति के संबंध में इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि वह कुछ घंटों से अधिक देर तक नहीं रहता। यदि अधिक देर ज्वर लगातार बना रहे तो स्तन्यज न समझकर योनिदोषज समझना चाहिए और उसके अनुसार जननेन्द्रिय की ओर अधिक ध्यान देकर चिकित्सा करनी चाहिए। स्तन्यम्—प्रारंभ में जो दूध स्तनों से निकलता है, उसका संगठन नित्य के दूध से भिन्न होता है। इस दूध को पीयूष या खीस (Colostrum) कहते हैं—आससरात्रं प्रसवात् क्षीरं पीयूषमुच्यते। इसमें प्रोटीनों की राशि अधिक (६ प्रतिशत) होती है और शर्करा तथा चरबी की स्वाभाविक से आधी (शर्करा २ प्रतिशत; चरबी ३.७ प्रतिशत) होती है। चरबी की विशेषता यह होती है कि वह सेलों के भीतर रहती है। ये पीयूष सेलें (Colostrum corpuscles) कहलाती हैं। तीन चार दिन के बाद ये सेलें दूध में नहीं मिलतीं। पीयूष वर्ण में पीला, गाढ़ा और क्षारीय होता है, जो गरम करने से या वैसा ही जम जाता है। इसमें कुछ सारक गुण भी होता है। तस्मात्—प्रथम दो तीन दिन बालक को दूध नहीं मिलता, इसलिए। काश्यपसंहिता में लेहप्राशन के जो अनेक निर्देश (Indications) बताये गये हैं, उनमें माता को दूध न होना या कम होना ये दो निर्देश मिलते हैं—अक्षीरा जननी येषामल्पक्षीराऽपि वा भवेत्। (सूत्रस्थान, लेहाध्याय)। इस दृष्टि से प्रारंभिक लेहसेवन अक्षीरा-वस्था के लिए है, ऐसा समझ सकते हैं। अर्थात् इसका

उपयोग आहार के लिए भी हो सकता है, क्योंकि धी और मधु दोनों भी उत्तम आहार्य द्रव्य हैं। हाराणचन्द्र अवलेह सेवन स्तन्याभावजनित दोषोपशमन के लिए मानते हैं—
 पाययेदिति स्तन्याभावजनितदोषोपशमार्यं न पुनराहारार्थमिति निश्चीयतेऽग्नेरणीयस्त्वेन मध्वादीनां गन्धमात्रेणोपयोगात् । आहार के सिवा अवलेह का दूसरा भी एक उपयोग हो सकता है। यद्यपि स्तन्यचूषण एक स्वाभाविक कर्म है तथापि प्रारंभ में दूध गाढ़ा होने के कारण तथा बालक को चूसने तथा निगलने का अभ्यास न होने के कारण दूध खींचने में कठिनाई होती है। अवलेह चटाने से बालक को चूसने तथा निगलने का कुछ अभ्यास हो जाता है, जिससे तीसरे दिन जब बालक स्तनों पर लगाया जाता है तब वह स्तनपान करने में समर्थ होता है। साधारणतया प्रथम या द्वितीय दिन में बालक को स्तनपान की इच्छा बहुत कम होती है तथा स्तनपान करने का सामर्थ्य भी नहीं होता। ऐसी अवस्था में अवलेह चटाने का प्रयोग फायदेमन्द होता है। क्षीरप्रवर्तन के पूर्व बालक को दूध दिया जाय या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर तीसरे दिन के स्तन्यप्रवर्तन में ही मिल जाता है। बालक के पोषण के लिए जो दूध माता के स्तनों में स्वभाव से उत्पन्न होता है, उसकी यदि आवश्यकता प्रारंभिक तीन दिनों में होती तो स्वभाव प्रथम दिन से ही स्तन्यप्रवर्तन कर देता। परंतु ऐसा कहीं नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि बालक को प्रथम दो दिनों में भोजन की विशेष आवश्यकता नहीं होती। जो कुछ माता के स्तनों से (आगे चरक का वचन देखो) मिलता है तथा मधुसर्पि के रूप में थोड़ा सा दिया जाता है, उतना ही उसके लिए काफी होता है। अज्ञानी लोग इस अक्षीरावस्था में बालक को गाय का या अन्य जानवर का दूध पिलाने लगते हैं। यह बड़ी भूल है। 'स्तन्याभावे पयश्छागं गन्धं वा तद्गुणं हितम्' यह वाग्भटाचार्य का वचन प्रथम तीन दिनों के स्तन्याभाव के लिए नहीं है, परंतु तीसरे दिन दूध न आने पर उत्पन्न हुए स्तन्याभाव के लिए है, क्योंकि प्रथम तीन दिनों की मधुसर्पि चटाने की विधि देने के पश्चात् चौथे दिन से माता का ही दूध पिलाने के लिए 'मातुरेव पिबेत्स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये' यह श्लोकार्थ आता है, और उसके बाद 'स्तन्याभावे' यह श्लोक आता है—
 Nature intended the infant to wait for a couple of days or so before receiving any food. For the first two days nothing is taken. *Ten teachers' Midwifery*. इसलिये तत्र तत्र आहारार्थ 'स्तन्याभावे पयश्छागं गन्धं वा तद्गुणं हितम्' इत्यागमानुसरणं नानुपपन्नम् यह हाराणचन्द्रजी का कथन ठीक नहीं है।

चरकसंहिता में प्रथम दिन से ही स्तनपान कराने के लिए लिखा है—मधुसर्पिषी मन्त्रोपमन्त्रिते यथाम्नायं प्रथमं प्राशितुं दद्यात्। स्तनमत ऊर्ध्वमेतेनैव विधिना दक्षिणं पातुं पुरस्तात् प्रयच्छेत्। आधुनिक पाश्चात्य कौमारभृत्यों का भी कथन है कि प्रथम दिन से ही बालक को स्तनपान करावे। इससे दो फायदे होते हैं—(१) बालक के स्तनपान करते

समय, चाहे स्तन से दूध निकले या न निकले, गर्भाशय में उत्तेजना पैदा होती है, जिसका परिणाम गर्भाशय के संकोच होने में होता है। (२) यद्यपि बालक का संबंध न होने पर भी तीसरे या चौथे दिन स्तनों में स्तन्यप्रवर्तन स्वभाव से ही हुआ करता है, तथापि बालक को प्रथम दिन से स्तनपान कराने से स्तन्योत्पत्ति में सहायता होती है। बालक को आहार की आवश्यकता है या नहीं? स्तनपान करने का सामर्थ्य है या नहीं? इसका ज्ञान जब तक स्तनपान नहीं कराया जायगा, तब तक नहीं होगा। इसलिये, तथा उपर्युक्त फायदों के लिए चरकमतानुसार प्रथम दिन से ही स्तनपान कराने की विधि ही प्रशस्त है। अनन्तमिश्रं मन्त्रपूतम्—
 'प्र ते ददामि मधुनः' इस मन्त्र (१२वें सूत्र के वक्तव्य में देखो) से सुवर्णचूर्ण धी और मधु के साथ दिया जाता है। अवलेह बनाने की विधि और सुवर्ण के फायदे काश्यपसंहिता में निम्न प्रकार से वर्णित हैं—विष्टप्य धौते दृषदि प्राड्मुखी लघुनाऽनुना । आमथ्य मधुसर्पिर्भ्यां लेहयेत् कनकं शिशुम् ॥ सुवर्णप्राशनं श्वेतमेधाश्रितवर्धनम् । आयुष्यं मंगलं पुण्यं वृष्यं वर्ण्यं ग्रहापहम् ॥ मासात्परममेधावी व्याधिभिर्न च धृष्यते । षड्भिर्मासैः श्रुतधरः सुवर्णप्राशनात् भवेत् ॥ (लेहाध्याय) । प्राङ्निवारितस्तन्यम्—यह बालक का विशेषण है और इसका अर्थ है—जिसके लिए प्रथम तीन दिन स्तन्य निषिद्ध किया गया था, उसको। अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—ततः प्राङ्निवारितस्तन्यस्य स्वाणितलसंमितं सर्पिर्द्विकालं दापयेत्। अनन्तरं च स्तन्यमिष्टतः ॥ इसका अर्थ यह है कि चौथे दिन दो बार मधुसर्पि बालक को चटावे और तीसरी बार से उसको यथेच्छ स्तनपान करावे। किंवा इसका दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि चौथे दिन दो बार प्रथम बालक को मधुसर्पि चटावे और तुरन्त उसको पश्चात् स्तनपान करावे। पहले पहल स्तनपान कराने के पूर्व, जैसे कि धात्री के बारे में आगे २७वें सूत्र में बताया गया है, स्तन को साफ धोकर तथा निचोड़कर कुछ दूध निकालकर पश्चात् बालक को स्तन पिलावे। डल्हन वाग्भटमतानुसार प्रथम अर्थ देते हैं—ततश्चतुर्थे दिवसे प्रातर्मध्याह्नादिलक्षणे मधुसर्पिः प्राशयेत्, तदनन्तरं चतुर्थदिवसस्य तृतीयकालमारभ्य पञ्चमादिवसेषु यथेष्टं स्तन्यपानं कारयेत् । कं ? बालं; किं विशिष्टं ? प्राङ्निवारितस्तन्यं, प्राक् पूर्वं निवारितं स्तन्यं यस्य तम् ॥

अथ सूतिकां बलातैलाभ्यक्तां वातहरौषधनिष्काथेनोपचरेत् । सशेषदोषां तु तदहः पिप्पली-पिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचित्रकशृङ्गवेरचूर्णं गुडोदकेनोष्णेन पाययेत्, एवं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा कुर्यादादुष्टशोणितात् । विशुद्धे ततो विदारिगन्धादिसिद्धां स्नेहयवागूं क्षीरयवागूं वा पाययेत्त्रिरात्रम् । ततो यवकोलकुलत्थसिद्धेन जाङ्गलरसेन शाल्योदनं भोजयेद्बलमश्रितवर्धनं चावेक्ष्य । अनेन विधिनाऽध्वर्युमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाभिधाना स्यात्, पुनरावर्तवर्धनादित्येके ॥१५॥

धन्वभूमिजातां तु सूतिकां घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत् पिप्पल्यादिकषायानुपानां, स्नेहनित्या च स्यान्निरात्रं पञ्चरात्रं वा (बलवतीः) अवलां यवागूं पाययेन्निरात्रं पञ्चरात्रं वा । अत ऊर्ध्वं स्निग्धेनान्नसंसर्गेणोपचरेत् ॥१६॥

प्रायश्चैनां प्रभूतेनोष्णोदकेन परिषिञ्चेत्, क्रोधायासमैथुनादीन् परिहरेत् ॥१७॥

(सूतिका की परिचर्या—) (अपरा गिरने के पश्चात्) सूतिका को बलतैल का अभ्यंग करवाके वातहर ओषधियों के काथ से चिकित्सा करे । यदि (गर्भाशय में कोई) दोष शेष रहा हो उसी (प्रसव के) दिन पिप्पली, हस्ति-पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, सोंठ इनका चूर्ण गरम गुडोदक के साथ पिलावे, इस प्रकार दो दिन, तीन दिन या जब तक दुष्ट रक्त निकलता हो तब तक (पिलावे); रक्त शुद्ध हो जाने पर विदारिगन्धादि (गण की ओषधियों से) सिद्ध घृत युक्त या क्षीरयुक्त यवागू तीन दिन पिलावे । उसके पश्चात् (सूतिका के शारीरिक) बल और जठराग्नि बल को देखकर (उसके अनुसार) जौ, बेर और कुलथी से सिद्ध जांगल (पशु-पक्षियों के मांस के) रस के साथ चावलों का भात (न्यूनाधिक मात्रा में) खिलावे । डेढ़ महीने तक इस प्रकार (आहार और आचार के नियमों के अनुसार) परिचारिता (प्रसूता स्त्री उसके पश्चात्) आहार और आचार (के नियमों) से तथा सूतिका नाम से विमुक्त हो जाती है । कई आचार्यों का मत है कि (प्रसूति के पश्चात्) फिर से आर्तवदर्शन होने के समय तक (स्त्री सूतिका होती है तथा तब तक उसको उपर्युक्त आहाराचार के अनुसार रहना चाहिए) ॥१५॥

जांगलदेश (मरुभूमि) में प्रसूत हुई सूतिका को (पूर्वोक्त) पिप्पल्यादि कषाय के अनुपान के साथ घी या तैल में से किसी एक को मात्रानुसार पिलावे । (इस प्रकार बलवती प्रसूता) तीन दिन या पाँच दिन (तक) नित्य स्नेह सेवन करे । निर्बल प्रसूता को (स्नेह के बदले) यवागू तीन दिन या पाँच दिन (तक) पिलावे । इसके बाद स्नेह से युक्त अन्न से उपचार करे ॥१६॥

साधारणतया सूतिका को बहुत से गरम जल से (प्रतिदिन) स्नान करावे । (प्रसूता) क्रोध, (अत्यधिक शारीरिक या मानसिक) परिश्रम, मैथुन इत्यादि का त्याग करे ॥१७॥

वक्तव्य—इन सूत्रों में सूतिका की परिचर्या तथा स्वस्थ-वृत्त का वर्णन किया है । सशेषदोषा—गर्भजन्म के पश्चात् अपराजन्म होता है, जिसका विवरण आगे २०वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । अपरा और जरायु बाहर निकल आने पर गर्भाशय पूर्ववत् होने के लिए कुछ दिनों की आवश्यकता होती है । उस अवधि में योनिगर्भाशय से रक्तस्राव (Lochia) होता है । इसी स्राव के द्वारा गर्भाशयगत दोष बाहर निकल आते हैं और गर्भाशय की अन्तःकला पूर्ववत् स्वस्थ हो जाती है । जरायु तथा

अपरा के बाहर आने पर भी उसके कुछ छोटे बड़े टुकड़े गर्भाशय के भीतर रह सकते हैं और प्रायः रहा करते हैं । ये टुकड़े भीतर रहना ठीक नहीं है, यह दोष स्वरूप होते हैं । ये कणशः रक्त के साथ बाहर आया करते हैं । इस प्रकार का दोषयुक्त रक्त तीन चार दिन तक साधारणतया गर्भाशय से बाहर निकलता है । उसके पश्चात् गर्भाशय के स्राव का वर्ण कुछ फीका हो जाता है और तीन चार रोज के पश्चात् अधिक से अधिक दसवें दिन तक गर्भाशयगत स्राव पानी के समान कुछ पीलापन लिये स्वच्छ हो जाता है । गर्भाशयगत स्राव को दोष मानने का रिवाज है, जैसे आर्तवशोणित को दोष मानते हैं; और जैसे आर्तव-शोणितस्राव बंद होने पर चौथे दिन स्नान कराके स्त्री शुद्ध की जाती है, वैसे ही प्रसूता प्रसवोत्तर दोषशोणितस्राव बंद होने पर ग्यारहवें दिन स्नान कराके शुद्ध की जाती है । प्रसूति के पश्चात् निरपवाद स्त्री सशेषदोष हुआ करती है, जिसको दूर करने के लिए पिप्पल्यादि चूर्ण दिया जाता है । यदि दोष हो तो पिप्पल्यादि चूर्ण देना यह सशेषदोषा का अर्थ नहीं है । स्त्री सशेषदोष होती है, इसलिए प्रसवोत्तरकाल के प्रारंभिक कुछ दिनों में पिप्पल्यादि चूर्ण देना यह परिचर्यापरिपाटी है । इसलिए चरकसंहिता में, सूतिका को भूख मालूम होते ही पिप्पल्यादि चूर्णयुक्त स्नेह देने के लिए बताया है । आदुष्टशोणितात्—जब तक स्राव अधिक खराब रहता है, तब तक । इसकी अवधि तीन चार दिन की होती है । इसलिए पिप्पल्यादि चूर्णयुक्त स्नेह दो तीन दिन तक देने के लिए कहा है । अध्यर्धमास—इससे सूतिका की अवस्था (Puerperium) की अवधि बताई गई है । प्रसूतावस्था शब्द स्त्री की उस अवस्था के लिए प्रयुक्त होता है, जिस अवस्था में गर्भावस्था और प्रसव के कारण उत्पन्न हुए उसके शरीर के ह्रास की पूर्ति होकर वह यथापूर्व स्वस्थ और एक दृष्टि से फिर गर्भक्षम हो जाती है । इस अवस्था का प्रारंभ प्रसवदिन से होता है और अन्त गर्भाशय के पूर्वावस्था प्राप्त होने पर होता है । अन्तिम मर्यादा प्रारंभिक मर्यादा के समान निश्चित नहीं है । उसमें प्रत्येक स्त्री में कुछ अन्तर हो सकता है । तथापि व्यावहारिक दृष्टि से, अगर कोई खराबी या विदोष कारण न हो तो, गर्भाशय की पूर्वस्थिति छः हफ्ते में प्राप्त होती है । इसलिए आयुर्वेद के अनुसार पाश्चात्य प्रसूतिशास्त्र भी प्रसूतावस्था की अवधि छः सप्ताह की मानते हैं—Strictly speaking, it (puerperium) lasts from the commencement of the third stage until the completion of the uterine involution—that is, for about six weeks. *Jellet's Midwifery*. प्राचीन परम्परा के अनुसार भारतवर्ष में सूतिकावस्था की अवधि तीन महीने की मनाई जाती है और चौथे महीने के प्रारंभ में बालक के साथ देवतादर्शन (आगे ५१वें सूत्र का वक्तव्य देखो) करने के पश्चात् स्त्री विगतसूतिकाभिधाना और आहाराचार से स्वतन्त्र होती है—न्युप्रदवां विशुदां च विशाय वरवर्णिनीम् । ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो नियमं

परिहारयेत् । इन आधारों पर प्रसूतावस्था की कम से कम अवधि डेढ़ महीने की और अधिक से अधिक तीन महीने की समझना उचित है । पुनरातवदर्शनात्—एकीय मत से यह शब्द प्रयोग प्रसूतावस्था की उत्तर मर्यादा बतलाता है । एक दृष्टि से यह मत ठीक है क्योंकि आतवदर्शन से गर्भाशय अपनी पूर्व स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो चुका है, इसका परिचय हो जाता है । परंतु आतवदर्शन के ऊपर मर्यादा स्थिर करने में उसमें बढ़ा अस्थैर्य आ जाता है । इसका कारण यह है कि दूध पिलाने की अवस्था में आतवदर्शन न होना यह एक नष्टातव का स्वाभाविक कारण है (दूसरे अध्याय के २२वें श्लोक का और आगे ३६वें श्लोक का वक्तव्य देखो) और इसलिए कई स्त्रियों में प्रसूति के पश्चात् बारह मास तक आतवदर्शन नहीं होता । आतवदर्शन पर उत्तरमर्यादा निश्चित करने का परिणाम यह होगा कि प्रसूतावस्था की अवधि कुछ स्त्रियों में दो महीने की, कुछ स्त्रियों में तीन महीने की, कुछ स्त्रियों में चार महीने की और कुछ स्त्रियों में साल भर की हो जायगी, और उनको उतने काल तक नियन्त्रित आहार-विहार से रहना पड़ेगा । इस प्रकार के नियन्त्रित आहार-विहार से अधिक काल तक रहना न व्यावहारिक दृष्टि से शक्य है, न स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर है । इसके सिवा कुछ स्त्रियों में कई बार बिना आतवदर्शन के गर्भधारणा हुआ करती है । इस नियम के अनुसार ये स्त्रियाँ कभी प्रसूता और कभी गर्भवती रहेंगी; तीसरी अवस्था इनके लिए न हो सकेगी । अर्थात् गर्भवती और प्रसूता ये दोनों अवस्थाएँ नियन्त्रित आहार-विहार की होने के कारण इन स्त्रियों को अपनी प्रजोत्पादन की आयु नियन्त्रित आहार-विहार में बितानी पड़ेगी । संक्षेप में यद्यपि एक दृष्टि से पुनरातवदर्शन पर प्रसूतावस्था की उत्तरमर्यादा स्थिर करने में कुछ तथ्य है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से यह नियम अनुपपाद्य है । धन्वभूमिजाता—मरुभूमिप्रजाता—समानौ मरुधन्वानौ (अमर-कोष) । जियते पिपासया यस्मिन् मरुः । आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार इसको जांगलदेश कह सकते हैं—अल्पोदकद्रुमो यस्तु प्रवातः प्रनुरातपः । ज्ञेयः स जांगलो देशः । (चरक, विमान ३) । ऐसे देश में प्रसूत हुई । तु—परंतु । इससे यह स्पष्ट होता है कि इससे पहले याने पंद्रहवें सूत्र में जो उपचार वर्णन किया गया है, वह आनूप देश प्रजाता स्त्री के लिए है । श्रुततैलयोरन्यतरस्य—काश्यपसंहिता के अनुसार पुत्रप्रजाता के लिए तैल और कन्याप्रजाता के लिए घी । काश्यपसंहिता में तीनों प्रकार के देशों में स्त्री की उपचर्या के संक्षिप्तसूत्र निम्न प्रकार से वर्णित हैं—त्रिविधं देशमाश्रित्य वक्ष्यामि त्रिविधं विधिम् । आनूपदेशे भूयिष्ठं वातश्लेष्मात्मका गदाः ॥ तत्राभिसन्दभूयस्त्वादादौ स्नेहो विगर्हितः । मण्डादिरत्र कर्तव्यः संसर्गोऽश्विलवावहः ॥ स्नेहो निवातशयनं सर्वमुष्णं च शस्यते । नियतं जांगले देशे वातपित्तात्मका गदाः । तदत्र स्नेहासाम्यत्वात् स्नेहादिः स्यादुपक्रमः । कार्यप्रजातमात्राया विशेषश्चात्र बुध्यते ॥ कुमारप्रसवे तैलं कुमारीप्रसवे श्रुतम् । पित्वेज्जोर्णे यवागूं च दीपनीयोपसंस्कृताम् ॥ पञ्चाहं सप्तरात्रं वा ततो मण्डाद्युपक्रमः ।

देशे साधारणे चास्या हितः साधारणो विधिः ॥ (सूतिकोपक्रमणीय अध्याय) । उष्णोदकेन परिषिञ्चेत्—चरक और अष्टांगसंग्रह में यवागूं पान करने से पूर्व दिन में दो बार गरम पानी से परिषेचन या स्नान कराने के लिए लिखा है—उभयतः कालं चोष्णोदकेन च परिषेचयेत् प्राक् स्नेहयवागूपानाभ्याम् ॥ क्रोधायासमैथुन—इनके संबंध का विवरण इसी वक्तव्य में आगे स्वतन्त्ररूप से किया गया है ।

प्रसूता की परिचर्या तथा स्वस्थवृत्त—उपर्युक्त तीन सूत्रों में प्रसूता की परिचर्या और स्वस्थवृत्त का विचार किया गया है । इसी का विचार अब जरा व्यवस्थित रूप से किया जायगा । अपरा निकल जाने के पश्चात् प्रसूता की परिचर्या का प्रारंभ होता है । अपरा के निकल जाने का, निकालने का और निकल आने पर उदर और जननेन्द्रिय के संबंध का विचार आगे २०वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । यहाँ पर सर्वसाधारण अन्य बातों का विचार कर्तव्य है । (१) आराम—अपरा निकल जाने के पश्चात् प्रसूता को खटिया या पलंग पर उत्तानासन में लेटे रहना ही प्रशस्त होता है । खटिया या पलंग का सिरहाना कुछ ऊँचा करने से प्रसवशोणित (Lochia) के नीचे की ओर बहने में आसानी होती है । यह उत्तानासन प्रसूता को दो हफ्ते से चार हफ्ते तक रखना चाहिए । प्रारंभिक कुछ दिन मलमूत्र विसर्जन और अन्नग्रहण भी लेटे लेटे करना उचित है । यदि यह न हो सके तो इन आवश्यक कामों के लिए थोड़ी देर तक प्रसूता उठ सकती है, परंतु बाकी सब काल प्रसूता को बिस्तर पर आराम से पड़े रहना चाहिए । साधारणतया जब तक योनि से प्रसवशोणित का स्राव बंद होता रहता है, तब तक पूर्ण आराम करना चाहिए और स्राव बंद होने के पश्चात् कुछ दिनों तक आवश्यक कामों के लिए थोड़ी देर बैठना उचित है । यदि इससे फिर से योनि से स्राव प्रारंभ हो जाय तो फिर से बैठना बंद कर देना चाहिए । भारतवर्ष में प्रसूता स्त्री को प्रथम दस दिन पूर्ण आराम और पश्चात् महीना भर अधिकांश आराम देने का रिवाज अत्यंत प्राचीन काल से चला आ रहा है । यह रिवाज अत्यंत युक्तियुक्त और स्वास्थ्यवर्धक है । परंतु आधुनिक काल में भारतीय जैसे अपने अच्छे अच्छे रिवाजों और रीतियों को पाश्चात्त्यों की नकल करने के लिए छोड़ रहे हैं, वैसे इस रिवाज के बारे में भी हुआ है और प्रसूति के दो चार दिनों के पश्चात् स्त्रियाँ उठने-बैठने, चलने-फिरने लगी हैं । यह पाश्चात्त्य ढंग अधिकतर लिखी-पढ़ी स्त्रियों में और प्रसव के लिए अस्पताल में जाने वाली स्त्रियों में दिखाई देता है । लिखी-पढ़ी स्त्रियाँ वैसे भी कमजोर रहती हैं और पाश्चात्त्यों की देखा-देखी इस प्रकार के चोचले करने से उनकी मिट्टी और भी पलीद हो जाती है और उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है । आराम की दृष्टि से स्त्रियों के तीन विभाग कर सकते हैं । (१) जंगली और देहाती स्त्रियाँ—ये स्त्रियाँ मजबूत होती हैं । इन्हें आराम की आवश्यकता बहुत कम होती है । जंगली स्त्रियाँ अधिक मजबूत होती हैं, जो आखिर तक जंगल में या रास्ते में अपना काम किया

करती हैं और प्रसव के समय जरा सी ओझल होकर, प्रसूति के पश्चात् बच्चे को अपनी पीठ पर बाँधकर फिर से अपने काम में लग जाती हैं। देहाती स्त्रियाँ उतनी मजबूत नहीं होतीं। ये प्रायः दस दिन तक आराम करके फिर अपने काम में लग जाती हैं। (२) मध्यमवर्ग की स्त्रियाँ—ये स्त्रियाँ प्रायः अनपढ़ या उनके बराबर होती हैं तथा अपने गृहकर्म में लगी रहती हैं। अतः इनमें न बहुत चोचले होते हैं, न बहुत कमजोरी होती है। क्योंकि गृहकर्म करने की आवश्यकता पढ़ने के कारण उनको चोचले करने के लिए समय नहीं मिलता, तथा शरीर को काफी व्यायाम होता है। इन स्त्रियों के लिए प्रसूति के पश्चात् पहले वर्ग की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक आराम की आवश्यकता होती है। इनको एक महीने से कम आराम न मिलना चाहिए। (३) लिखी-पढ़ी स्त्रियाँ—ये स्त्रियाँ पढ़ने से तथा शारीरिक श्रम न करने से अधिक कमजोर होती हैं। इनके लिए तीन महीने के आराम की आवश्यकता होती है। आराम की आवश्यकता क्यों? प्रसूति के पश्चात् प्रसूता को आराम करने के दो कारण होते हैं—(१) गर्भाशय की स्थिति—गर्भ को अपने भीतर समाने के लिए सगर्भाविस्था में गर्भाशय लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, समाई और भार इन सब बातों में अगर्भाविस्था की अपेक्षा कई गुना बढ़ता है। प्रसूति होते ही जादू के असर से गर्भाशय अपनी पूर्वस्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। उसमें धीरे धीरे परिवर्तन होते हैं, जिससे वह यथापूर्व हो जाता है। इस प्रक्रिया को गर्भाशय की स्वसंवृत्ति (Involution) कहते हैं और इसके लिए छः सप्ताह लग जाते हैं। प्रसूतावस्था की अवधि इसी स्वसंवृत्ति पर (पीछे अध्यायमास की टिप्पणी देखो) निर्भर होती है। प्रसव के पश्चात् उसी दिन गर्भाशय का तौल, लम्बाई और समाई अनुक्रम से १ सेर २ छट्ठाक, ८ इंच और ७ इंच होती है। दो रोज के बाद तौल पौन एक सेर, लम्बाई ७ इंच, समाई ६½ इंच होती है। एक हफ्ते के बाद तौल आधा सेर, लम्बाई पाँच इंच और समाई ४½ इंच होती है। दो हफ्ते के बाद तौल ६ छट्ठाक, लम्बाई ३¾ इंच और समाई ३¾ होती है। ६ हफ्ते के बाद गर्भाशय के नाप और तौल पूर्ववत् हो जाते हैं। प्रसूति के पश्चात् जैसे गर्भाशय के तौल और नाप अधिक रहते हैं वैसे ही उसके बंध (Ligaments) गर्भवृद्धि और प्रसवप्रवाहण के कारण अत्यन्त परिश्रान्त और शिथिल होते हैं। इसके सिवा श्रोणिगुहा के भीतर कुछ शून्यता भी आ जाती है। चरक में प्रसूता के रोगों की कृच्छ्रसाध्यता के जो निम्न कारण बताये गये हैं, वे गर्भाशय तथा उसके बंधों के लिए भी लागू होते हैं—गर्भवृद्धिस्थितिशिथिलसर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदनाद्धेदरक्तनिःसृतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च। संक्षेप में प्रसूति के पश्चात् गर्भाशय स्वयं कमजोर, मोटा और भारी तथा उसके बन्धन ढीले, ऐसी स्थिति होती है। इस स्थिति में अगर प्रसूता बिखरे पर आराम न करे तो योनिभ्रंश (Prolapse), गर्भाशय की स्थानापवृत्ति इत्यादि अनेक गर्भाशय के विकार

उत्पन्न होते हैं और गर्भाशय की स्वसंवृत्ति के लिए अधिक समय लगकर वह ठीक भी नहीं होती। योनिव्यापत्तियों के कारणों में मिथ्याचार एक कारण बताया गया है। इस मिथ्याचार में प्रसूति के पश्चात् आराम न करना, इसका समावेश होता है। (२) शरीर की स्थिति—प्रसव के पश्चात् प्रसूता की स्थिति उपर्युक्त चरक के वचन के अनुसार अत्यन्त दुर्बल, शिथिल और शून्य होती है। दुर्बलता की चिकित्सा के जो अनेक उपाय होते हैं, उनमें आराम (Rest in bed) एक प्रधान उपाय है। इस उपाय को छोड़कर अन्य उपायों को अंगीकार करने से उनसे पूर्ण और शीघ्र लाभ नहीं मिल सकता। इसलिए प्रसूति के पश्चात् दो तीन महीनों तक आराम करने की भारतीयों की पद्धति प्रशस्त और स्वास्थ्यवर्धक है। उसी के अनुसार प्रसूता को रहना चाहिए। पाश्चात्य देशों में भी प्रसूता को आराम देने की प्राचीन पद्धति का महत्त्व जँचने लगा है और वहाँ के प्रसवशास्त्रज्ञ प्रसूता को आराम देने की पद्धति के पक्ष में हो गये हैं—Straining and muscular effort with a bulky uterus and a relaxed outlet predispose to prolapse, and hence it is more often met with among those who resume their household duties or perhaps go out to daily work after ten days in bed and a few days convalescence than in those who have a longer rest in bed followed by a further period in which fatigue and strain are avoided. There is, therefore, much to be said for the old fashioned plain of waiting till the uterus has diminished in size and weight, and has sunk well down into the pelvis, and its muscular and ligamentary supports have recovered from the stretching and relaxation of pregnancy and labour before permitting the assumption of the erect position. *Ten Teachers' Midwifery.*

(२) आहार—प्रसूता स्त्री का आहार रुचिकर, सादा, हलका, पौष्टिक और पर्याप्त होना चाहिए। प्रसूति के पश्चात् कुछ रोज उसको तरल आहार देना ही उचित है क्योंकि उस समय उसकी पचनशक्ति कुछ दुर्बल होती है। इसके साथ साथ इस बात को भी ध्यान में रखें कि एक समय अधिक मात्रा में देने की अपेक्षा अल्पमात्रा में अधिक समय उसको भोजन दिया जाय। खाद्यद्रव्यों में प्रोटीनों की अधिकता होनी चाहिए क्योंकि शारीरिक धातुओं की ह्रास की पूर्ति के लिए वे आवश्यक होते हैं। प्रोटीनों के अलावा जीवनीय द्रव्य और खटिक (चूना Calcium) की भी आवश्यकता होती है। पिष्टमय (Carbohydrates) और चरबीमय पदार्थ अधिक न होने चाहिए। इनके सेवन से पचन क्रिया में बाधा उत्पन्न होती है तथा आभ्रान और मलावरोध उत्पन्न करने वाले पदार्थ भी वर्ज्य करने चाहिए। इस दृष्टि से प्रसूता को दूध, चाय, काफी तथा

दूध के अन्य पदार्थ, माखन, यवागू, काँजी, हाथकुटे चावलों का भात, संपूर्ण गेहूँ की रोटी, हलुआ, मधुरस के फल (जैसे, मीठा नींबू, मोसंबा अनार इत्यादि) ये पदार्थ अधिक मात्रा में विशेष करके दूध देना फायदेमन्द होता है । ताजी डबल रोटी, मिल (Mill) के साफ किये हुए (Polished) चावल, दाल, आलू, गोभी, कच्ची साग-सब्जी, मद्य इनको वर्ज्य करना चाहिए । मांसाहार के संबंध में इतना कहना पर्याप्त है कि प्रारंभ में अण्डा दिया जा सकता है, परंतु मांस न देना ही प्रशस्त है । आगे स्वास्थ्य ठीक होने पर मांस दिया जा सकता है । पीने के लिए प्रसूता को पर्याप्त मात्रा में पानी देना उचित है । रक्तस्राव तथा प्रसव प्रवाहनादि के कारण उसको पिपासा बहुत होती है । इसके लिए उबालकर ठंडा किया हुआ जल देना उचित है । सोडा वाटर भी दे सकते हैं । इन सर्वसाधारण बातों के अलावा आहार में कुलसात्म्य और देश का भी विचार करना पड़ता है—द्राक्षरात्रात्परं जांगलरसादिभिश्च क्रमादाप्यायेदग्निबलादीन्यपेक्ष्य । कथितशीतञ्च तोयं पाययेत् । तथा जीवनीय-बृंहणीय-मधुर-वातहरसिद्धैरन्नपानैश्च हृष्येरुपाचरेत् । एवं पुनर्नवीभवति । (अष्टांगसंग्रह, शारीर ३) । वैदेश्याश्च प्रयच्छन्ति विविधा म्लेच्छजातयः । रक्तमांसस्य निर्यूहं कन्दमूल-फलानि च ॥ कुलसात्म्यं च बुध्येत यस्मिन् यस्मिन् यथा यथा । औचित्यात् कुलसात्म्यस्य तत्तथैवानुवर्तते ॥ अतो नैकान्तिकत्वाच्च सूतिकोपक्रमस्य च । देशं च जातिसात्म्यं च संप्रधार्य प्रयोजयेत् ॥ काश्यपसंहिता, सूतिकोपक्रमणीय) । आहार के संबंध में आगे १९वें श्लोक के वक्तव्य में अपतर्पण की टिप्पणी में विचार किया गया है, उसको भी देखो ।

(३) मलमूत्र विसर्जन—मलाशय और मूत्राशय का आधार कम होने से, उदरगुहा की रक्तावस्था से, उदर की पेशियों की शिथिलता से, प्रसूता की कमजोरी से, मूत्रमार्ग की सूजन से या पीडा के कारण मूत्रमार्ग बंद हो जाने से प्रसूति के पश्चात् कुछ रोज तक प्रसूता स्वयं मल-मूत्र का त्याग करने में असमर्थ हो जाती हैं । इसलिए आयुर्वेद में मूत्रसंग, मलावरोध, आध्मान इत्यादि प्रसूता के रोग माने गये हैं—योनिरग्रंथा क्षता चैव विभिन्ना मूत्रसंगिनी । आनाहाध्मापने चोमे वनोमूत्रप्रहावपि ॥ (काश्यपसंहिता, सूतिकोपक्रमणीय) । प्रसूति के कुछ पूर्व यदि स्त्री को विरेचन दिया गया हो तो प्रसूति के पश्चात् एक दो दिन पाखाना न होने से कोई हरजा नहीं है । उसके बाद न हो तो एरण्डी का तेल कोष्ठशुद्धि के लिए देना प्रशस्त है । रेवंदचीनी, म्यागसल्फ या अन्य क्षारीय विरेचक माता के दूध में कुछ खराबी पैदा करते हैं, इसलिए उनको जहाँ तक हो सके, न देना चाहिए । एरण्डी के तेल की मात्रा कुछ अधिक (२॥ तोला) देनी चाहिए । उसके पश्चात् प्रत्येक दो दो, तीन तीन दिन के पश्चात् कोष्ठशुद्धि रखनी चाहिए । यदि विरेचन से पाखाना न हो तो बस्ति भी दी जा सकती है, परंतु जहाँ तक हो सके बस्ति न देना ही उचित है क्योंकि उससे बवासीर (अर्श) बढ़ने की संभावना होती है । बारह घंटे में कम से कम एक बार स्त्री को मूत्रत्याग

करना चाहिए । इससे अधिक काल बस्ति में मूत्र रहने से बस्ति विस्फारित और निर्बल होने का डर रहता है । इसलिए छः सात घंटे में अगर स्त्री ने मूत्रत्याग न किया हो तो भग पर गरम सेक करना चाहिए और बस्तिप्रदेश पर हाथ से थोड़ा दबाव डालना चाहिए । इससे प्रायः स्त्री मूत्रत्याग करने में समर्थ हो जाती है । यदि आवश्यक हो तो उस समय उसको बैठाने से मदद होती है । यदि इन उपायों से काम न हो जाय और बारह घंटे तक मूत्र का त्याग न हो सके तो सलाई के द्वारा मूत्र को निकालना चाहिए । सलाई डालते समय योनि की सफाई की ओर बहुत ध्यान देना चाहिए । (४) मानसिक आराम और निद्रा—शारीरिक आराम के साथ प्रसूता को मानसिक आराम भी मिलना आवश्यक होता है और मानसिक आराम ठीक न मिलने से शारीरिक आराम मिलने पर भी उससे पूरा फायदा नहीं होता । प्रसूता को क्रोध, चिन्ता इत्यादि मानसिक विकारों से दूर रहना चाहिए तथा ऐसे काम न करने चाहिएँ, जिससे उसे गुस्सा, रंज और फिक्क पैदा हो । इन मानसिक विकारों से उसका स्वास्थ्य खराब होकर दूध भी खराब (आगे ३२वाँ सूत्र देखो) हो जाता है और बालक को भी तकलीफ होती है । प्रसूता को पर्याप्त निद्रा भी मिलनी चाहिए और प्रायः मिलती भी है । निद्रानाश के कारण—जैसे, कमरे के पास शोर या भीड़ (पीछे चौथे अध्याय का ४१वाँ श्लोक देखो—) भी न होने चाहिए । (५) मैथुन—प्रसूतावस्था में मैथुन वर्ज्य करना चाहिए । मैथुन वर्ज्य करने के तीन कारण हैं—(१) प्रसूति के कारण अपत्यमार्ग अत्यंत कमजोर और क्षतयुक्त हो जाता है । मैथुन के समय संपूर्ण अपत्यमार्ग पर काफ़ी दबाव और घर्षण होता है । इससे अपत्यमार्ग के फिर से क्षतयुक्त होने का, उससे रक्तस्राव होने का डर रहता है । (२) प्रसव के कारण अपत्यमार्ग की श्लेष्मल कला क्षतयुक्त और कमजोर होती है, जिसके कारण उसके ऊपर विकारी जीवाणुओं का अधिकार जल्दी जम सकता है । जननेन्द्रिय के बाह्य भाग हमेशा ही गन्दे रहते हैं और मैथुन के कारण बाहर की गन्दगी और उसके साथ विकारी जीवाणु भीतर पहुँचकर रोग उत्पन्न कर सकते हैं । (३) गर्भाधान—मैथुन से गर्भधारणा होने का डर रहता है । जो पुरुष इसमें उतावले रहते हैं, उनका यह गुप्त कर्म कई बार साल भर के भीतर दूसरी बार स्त्री प्रसूत होने से प्रकट हो जाता है । जल्दी जल्दी बच्चे होने से पहले बालक का स्वास्थ्य खराब दूध मिलने से खराब होता है और होने वाले बालक का स्वास्थ्य माता की कमजोरी से अच्छा नहीं हो सकता और दोनों के भार से माता का स्वास्थ्य और भी खराब हो जाता है । पुनर्गर्भधारण करने के लिए स्त्री का स्वास्थ्य पूर्ववत् हो जाना चाहिए । यदि प्रसव में कोई गड़बड़ न हुई हो तथा पश्चात् भी कोई तकलीफ न हुई हो तो उचित आहार-विहार से स्त्री को पूर्व स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए छः महीनों की अवधि बताई गई है—वृद्धिमासैः प्रसूताया धातवो रुधिरादयः । प्रसागच्छन्त्य-

रोगाया यथास्वं परिसंस्थितिम् । (काश्यपसंहिता, सूतिकोप-
क्रमणीय अध्याय) । अर्थात् इसके पहले मैथुन करने से
अगर गर्भधारणा हो जाय तो होने वाले बालक का
स्वास्थ्य खराब होगा । अब वर्तमान बालक की दृष्टि से
विचार किया जाय तो जब तक वह माँ का दूध पी रहा
है तब तक भी गर्भधारणा होना ठीक नहीं है क्योंकि गर्भ-
धारणा से माता का दूध खराब हो जाता है और उससे
पारिगर्भिक नामक रोग होता है—प्रदुष्टधातोर्गर्भिण्याः
स्तन्यं रोगकरं शिशोः । (अष्टांगसंग्रह) । न गर्भिण्याः पिवेत्
स्तन्यं पारिगर्भिककृद्धि तत् । (अष्टांगसंग्रह) । पाश्चात्य
चिकित्सक भी मानते हैं कि गर्भवती स्त्री का दूध बालक के
लिए विकारकारी होता है । बालक को माता के दूध की तब
तक आवश्यकता होती है, जब तक वह अन्नसेवन नहीं
करता । अन्नसेवन बालक के लिए तब हितकर हो सकता
है, जब बालक के दाँत निकल आते हैं । यद्यपि छठे महीने
में अन्नप्राशनविधि की जाती है, तथापि बालक को
आहार की दृष्टि से अन्न देने का काल एक वर्ष का है ।
इसका विवरण आगे ५२वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है ।
अर्थात् बालक के अन्नसेवन करने के पश्चात् अगर माता
गर्भवती हो जाय तो बालक को किसी प्रकार की तकलीफ
नहीं हो सकती । धर्मशास्त्र में बालक के दन्तजनन के पश्चात्
मैथुन के लिए आज्ञा दी गई है—वर्णमासान् कामयेन्मत्स्यो गर्भिणी
स्त्रियमेव हि । आदन्तजननादूर्ध्वमेवं धर्मो न हीयते । (अत्रिस्मृति) ।
(इस विषय का कुछ विवरण पीछे २ अध्याय के ३४वें
श्लोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है, उसे देखो)
बालकों के दाँत दो से ढाई साल में संपूर्ण निकल आते हैं ।
तब तक मैथुन न किया जाय तो उत्तम पक्ष है, परंतु इसमें
अव्यावहारिकता है । दाँत निकल आने का प्रारंभिक काल
६-९ महीने का होता है । आयुर्वेद में आठवाँ महीना
प्रशस्त माना गया है—तथाष्टमे मासि सर्वगुणसम्पन्ना भवन्ति ।
(काश्यपसंहिता, दन्तजन्मिक अध्याय) । अर्थात् मैथुन
करने के लिए नीचे की मर्यादा आठ महीने की मान सकते
हैं । इसलिए मैथुनवर्जन का काल प्रसूति के पश्चात् आठ
महीने का मानने में कोई आपत्ति नहीं है । जातदशन बाल
की आयु एक वर्ष की भी मानी जाती है और उसके पश्चात्
बालक का स्नानत्याग करके उसको अन्न दिया जाता है—
अथैनं जातदशनं क्रमशोऽपनयेत् स्नानात् । (अष्टांगसंग्रह) ।
इसकी टीका में इन्दु लिखते हैं—अथ वर्षादनन्तरं जातदशनं
बालं क्रमशः स्नानादपनयेत् । इस आधार पर बालक के एक वर्ष
का होने के बाद मैथुन करना चाहिए । संक्षेप में प्रसवोत्तर
मैथुन के संबंध में निम्न नियम मार्गदर्शन के लिए होते
हैं—प्रथम तीन महीनों में मैथुन करना निष्ट और गह्य
है । प्रथम छः से आठ महीने के बाद करना कनिष्ठ पक्ष है ।
एक साल के बाद करना मध्यम पक्ष है और दो साल के
बाद करना उत्तम पक्ष है । (६) अभ्यंग और आयास
(Massage and exercise)—व्यायाम या शरीर की
हलचल स्वास्थ्य चिरन्तन करने के लिए एक आवश्यक कर्म
है । प्रसूता स्त्री को भी उसकी आवश्यकता होती है । परंतु

उसकी शरीर की स्थिति देखकर उसके लिए व्यायाम या
शारीरिक परिश्रम अहितकर होते हैं । प्रारंभिक कुछ दिनों
तक उसको पूर्ण आराम करना चाहिए और उसके बाद भी
दैनिक आवश्यक कर्मों के अलावा अधिक थकावट उत्पन्न
करने वाले कर्म न करने चाहिए परंतु बिस्तरे पर लेटे रहने
से यद्यपि शरीर को आराम मिलता है तथापि केवल
आराम करने से शरीर का स्वास्थ्य ठीक नहीं हो सकता ।
इसलिए कोई मध्यम मार्ग निकालना चाहिए, जिसमें
आराम और व्यायाम के गुण हों परंतु दोष न हों । जैसे,
गरम या ठंडे पानी में निचोढ़े हुए तौलिया से शरीर
पोंछने पर स्नान न करते हुए स्नान का फल मिलता है,
अथवा मलखांब करने पर दूसरे कुश्तीबाज के साथ कुश्ती
न लड़ते हुए कुश्ती लड़ने का फल मिलता है, वैसे ही
बिस्तरे पर पड़े रहकर दूसरे से अभ्यंग या मालिश करवाने
से व्यायाम न करते हुए व्यायाम का फल मिल जाता है ।
भारतवर्ष में प्रसूता को बलातैल या अन्य ओषधियों के तैलों
को लगाकर मालिश कराने की पद्धति अत्यन्त प्राचीन काल
से जारी है—जीवनीयवृंहणीयमधुरवातहरसिद्धैरभ्यङ्गोत्सादन-
परिषेकावगाहैरुपाचरेत् । (अष्टांगसंग्रह) । स्वेदाभ्यङ्गपरा
नित्यं भवेत् । (चिकित्सा १५) । पाश्चात्य देशों में भी
मालिश का महत्त्व काफी बढ़ गया है और वहाँ के प्रसूति-
शास्त्रज्ञ प्रसूता के लिए भी उसका प्रयोग हितकर मानते
हैं—Gentle massage of the skin is useful also in
childbed. Light massage of the back and extre-
mities by some one especially trained for this is
in many cases to be especially recommended.
In general, one should be cautious with active
exertion in the first days, and, where there is
good assistance, devote oneself more to the
passive movements and light massage, but never
too great exertion. *Ideal Birth*. (७) स्नान, अवगाह,
परिषेक—प्रतिदिन तैल की मालिश करने के पश्चात् एक
या दो बार गरम पानी से स्नान करना चाहिए । स्नान के
समय संपूर्ण शरीर की सफाई के साथ बाह्य जननेन्द्रिय की
सफाई के ऊपर भी बहुत ध्यान देना चाहिए । जननेन्द्रिय
का बाह्य भाग खराब होने से वह खराबी भीतर पहुँच
जाती है । स्नान के पश्चात् तथा अन्य समय में भी प्रसूता
को हवा के शोके झपाटे से तथा सर्दी से बचकर रहना
चाहिए । शरीर कमजोर होने के कारण सर्दी से बीमार
होने का डर रहता है । इसके संबंध का कुछ विवरण पीछे
चौथे सूत्र के वक्तव्य में सूतिकागार के वर्णन में किया गया
है । (८) आगन्तुक परिचर्या—इसमें जननेन्द्रिय का ही
अधिक संबंध आता है । इसका विवरण आगे २०वें सूत्र
के वक्तव्य के अन्त में किया गया है । संक्षेप में प्रसूता की
परिचर्या और स्वस्थवृत्त—प्रसूता हितमाहारं विहारञ्च समा-
चरेत् । व्यायामं मैथुनं क्रोधं शीतसेवां विवर्जयेत् ॥ सर्वतः परिशुद्धा
स्यात् खिग्धपथ्याल्पभोजना । स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेन्मास-
मतन्द्रिता ॥ व्युपद्रवां विशुद्धां च विहाय बलवर्णिनीम् । (अष्टांगसंग्रह)

चतुर्थो मासेभ्यो नियमं परिहारयेत् । (भावप्रकाश) । ये ही श्लोक थोड़े भेद से सुश्रुत के मूढगर्भचिकित्सित अध्याय में भी मिलते हैं । अब इसके बाद उक्त आहार-विहारादि का उल्लेखन करने से क्या होता है, उसको श्लोकद्वय से संक्षेप में बताते हैं—

भवतश्चात्र—

मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते ।

स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवेदत्यतर्पणात् ॥१८॥

तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा ।

परीक्ष्योपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुयात् ॥१९॥

(सूतिका रोग—) मिथ्याचार और अत्यतर्पण के कारण सूतिका की जो (कोई) व्याधि उत्पन्न होती है, वह कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य रहती है ॥१८॥ इसलिए देश और काल को देखकर व्याधिसात्म्य उपायों द्वारा उसकी चिकित्सा करे, जिससे वह मृत्यु को प्राप्त न हो जाय ॥१९॥

वक्तव्य—प्रथम श्लोक में सूतिका रोग उत्पन्न होने के कारण दिये हैं और दूसरे श्लोक में उसकी चिकित्सा का सूत्र बताया है । सूतिका रोग उत्पन्न होने के तीन कारण होते हैं, जिनमें से दो का उल्लेख यहाँ पर किया गया है और तीसरा चरक और अष्टांगसंग्रह में दिया है । काश्यप-संहिता में सूतिका रोगों में प्रधान ज्वर बताया गया है और उसके कारण दिये हैं—सर्वेषामेव रोगाणां ज्वरः कष्टतमो मतः । वेगसंधारणाद्रीक्ष्याद् व्यायामादत्यसूक्ष्मत्वात् । शोकादत्य-मिसंतापाद् कटुम्लोष्णातिसेवनात् ॥ दिवास्वप्नात् पुरोवातादुर्व-भिष्यन्दिभोजनात् । स्तन्यागमाद् ग्रहावाधादजीर्णादुष्प्राजयनात् ॥ ज्वरः संजायते नार्याः षड्विधो हेतुमेततः ॥ (सूतिकापक्रम-णीयाध्याय) । ये कारण भी इन तीन कारणों में समा-विष्ट होते हैं । इन तीन कारणों में प्रथम कारण सहायक (Predisposing) है और शेष दो एक प्रधान या उत्पादक (Precipitating) हैं । (१) शरीरदौर्बल्य—यह प्रथम सहायक कारण है, जिसका उल्लेख यहाँ पर नहीं किया गया है, परंतु चरक में किया है और कृच्छ्रसाध्यता का वही कारण बताया गया है—तस्यास्तु खलु यो व्याधिरुत्पद्यते स कृच्छ्रसाध्यो भवत्य-साध्यो वा गर्भवृद्धिक्षयितशिशिलसर्वधातुत्वाद्, प्रवाहणवेदना-क्लेदनरक्तनिःसृतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च ॥ इसके दो परिणाम होते हैं । प्रथम परिणाम प्राणशक्ति तथा रोगापहरण सामर्थ्य घटने में होता है, जिससे जरा सा कारण होने पर स्त्री रोगों की शिकार हो जाती है । दूसरा परिणाम कृमियों या आधुनिक परिभाषा के अनुसार विकारी जीवाणुओं के प्रवेश में हो सकता है । अगर सफाई की ओर ध्यान न देने से उनका अवस्थान जननेन्द्रिय के पास हो जाय । (२) अत्यत-र्पण—लंघन या मात्रा से बहुत कम आहार करना । डल्हणा-चार्य तथा हारारणचन्द्र अत्यतर्पण रोग की असाध्यता का कारण मानते हैं—अत्यतर्पणादिति असाध्यभवने हेतुः । (डल्हण) । अत्यतर्पणादसाध्यत्वं च । इनका कहने का

तात्पर्य यह है कि प्रसूता के रोग मिथ्याचार से उत्पन्न होते हैं, वे कृच्छ्रसाध्य होते हैं और अत्यतर्पण से वे असाध्य हो जाते हैं । यह कथन एक दृष्टि से ठीक है, परन्तु अत्यत-र्पण का संबंध रोगोत्पत्ति के साथ भी लगाया जा सकता है । प्रसूति के पश्चात् धातुक्षीणता की पूर्ति करके स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए प्रसूता को पर्याप्त पौष्टिक आहार मिलना चाहिए । प्रसूतावस्था कोई बीमारी नहीं है कि उसको लंघन दिया जाय, या अल्पमात्रा में आहार दिया जाय । प्रसूतावस्था नौ महीने बालक का बोझ उठाने के कारण तथा प्रसव के कठिन परिश्रम के कारण उत्पन्न हुई स्वस्थ मनुष्य की परिश्रान्तावस्था है, जिसमें थकावट दूर करने के लिए स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा अधिक पौष्टिक आहार की अपेक्षा होती है । केवल फर्क इतना ही होता है कि स्वस्थ मनुष्य का पचनसंस्थान स्वस्थ होता है और प्रसूता का कुछ कमजोर तथा थका हुआ रहता है । इस दृष्टि से प्रसूता को प्रारंभिक कुछ दिनों तक हलका और सुपाच्य आहार देना चाहिए, परन्तु कम मात्रा में देने का कोई कारण नहीं है । यदि आहार की राशि शरीरधातुक्षीणता की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त न हो तो गर्भधारणपोषण तथा प्रसूति से क्षीण हुआ शरीर और भी क्षीण होगा और क्षीण हुए शरीर पर मिथ्याचार से कोई भी रोग जल्दी अपना अधिकार जमा लेगा । प्रसूता को बीमार समझकर उसको पर्याप्त मात्रा में आहार न देने का रिवाज या परम्परा उस समय में होगी, उसको ध्यान में रखकर यह शब्द यहाँ पर लिखा गया है, ऐसा मालूम होता है । यूरोप में इस प्रकार की अपतर्पण की पद्धति थी, इसका उल्लेख जेलेट अपनी प्रसूतितन्त्र की पुस्तक में करते हैं—The older notions that a low diet was required at this time have, in the words of a recent writer, been consigned to the same limbo of defunct prescriptions as the 'starve a fever' principle. A puerperal woman, more than other people, requires the maximum amount of nourishment which she can digest without imposing too great a tax on her digestive organs. इस उद्धरण से यह स्पष्ट होगा कि प्रसूता आहार की दृष्टि से संतर्पणीय व्यक्ति है, अर्थात् प्रसूता को दूध, घी, शर्करा, मांसरस इत्यादि पौष्टिक आहार्य द्रव्यों से पुष्ट करना चाहिए । पाश्चात्य वचन के आधार पर बनाया हुआ यह निराधार मत नहीं, परंतु आयुर्वेदसंमत यह मत है । द्विविधोपक्रमणीय अध्याय (अष्टांगहृदय, सूत्र १४ और अष्टांगसंग्रह, सूत्र २४) में वाग्भटाचार्य लिखते हैं कि चिकित्सा संप्रदाय कितने भी क्यों न हों, वे दो भागों में विभक्त किये जाते हैं—संतर्पण चिकित्साविभाग और अपतर्पण चिकित्साविभाग । ये ही विभाग 'बृंहण चिकित्सा' और 'लंघन चिकित्सा' कहलाते हैं । प्रसूता बृंहणचिकित्सा योग्य होती है—उपक्रमस्य हि द्वित्वाद् द्विवैधोपक्रमो मतः । एकः संतर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः ॥ बृंहणो लंघनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ । बृंहण

यद् बृहत्वाय लघ्वं लाघवाय यत् ॥ बृहदेव्याधिभैषज्यमद्यस्त्रीशोक-
कशितान् । गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धान् ग्रीष्मे परानपि ॥ मांसक्षीर-
सितासर्पिर्मधुरस्निग्धवस्तिभिः । स्वप्रशय्यासुखाम्बुज्जलाननिर्वृति-
र्हणैः ॥ इससे यह स्पष्ट होगा कि जहाँ पर संतर्पण की
आवश्यकता है, वहाँ पर अपतर्पण कराने से वह रोगोत्पत्ति
का कारण हो जाता है । जेलेट अपने प्रसूतितन्त्र में स्पष्ट
लिखते हैं—It is probable that the custom still
observed by some physicians of keeping parturient
patients on unnecessarily low diet is responsible
for occasionally bringing about a susceptibility
to infection. *Jellet's Midwifery*. (३) मिथ्याचार—
शरीर और कपड़ों की सफाई न करना, उदर पर वस्त्रपट्ट
न बाँधना (आगे के सूत्र का वक्तव्य देखो), शीत से
शरीर की रक्षा न करना, प्रसूति के पश्चात् उचित काल तक
बिस्तर पर आराम न करना और प्रारंभ से ही घूमना
फिरना, मैथुन इत्यादि । संक्षेप में प्रसूता के लिए जो
स्वस्थवृत्त बतलाया गया है, उसके विरुद्ध आचार ।
यो व्याधिः—यः कोऽपि व्याधिः । सूतिका को मिथ्योपचार से
अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं । रोग कोई भी हो, प्रसूता
क्षीणमांसबल होने के कारण रोग दारुण और कृच्छ्राध्य
होते हैं । काश्यपसंहिता में सूतिका के निम्न चौसठ रोग
बतलाये गये हैं—योनिग्रन्था क्षता चैव विभिन्ना भूवसंगिनी ।
स शोफस्ताविणी चैव प्रसूता वेदनावती ॥ पार्श्वप्रकटीशूलं हृदि शूलं
विस्त्विका । झीहा महोदरत्वं च शाखावातोऽङ्गमर्दकः ॥
भ्रूक्षेपको हनुस्तम्भो मन्यास्तम्भोऽपतानकः । मकछो विद्रधिः शोफः
प्रलापोन्मादकामलाः ॥ दौर्बल्यं भ्रमली काश्यं भक्तद्वेषोऽविपाचकः ।
ज्वरातिसारौ वैसर्पश्छर्दिस्तृष्णा प्रवाहिका ॥ हिक्का श्वासश्च कासश्च
पाण्डुरुल्मश्च रक्तजः । आनाहाध्मापने चोमे वर्चोमूत्रग्राहवपि ॥
मुखरोगोऽक्षिरोगश्च प्रतिश्यायगलग्रहौ । राजयक्ष्माऽर्दितं कम्पः
कर्णस्त्रावः प्रजागरः ॥ उष्णवातो ग्रहाबाधस्तनरोगोऽथ रोहिणी ।
वाताघ्नीला वातगुल्मरक्तपित्तविचर्चिकाः ॥ इत्येते सूतिकारोगाश्चतुः-
षष्टिरुदाहृताः ॥ (सूतिकोपक्रमणीयाध्याय) । इनमें से
कुछ रोग प्रसव के समय योनि तथा उसके आस-पास के
अंगों पर जो तनाव और दबाव पड़ता है उसीसे होते हैं—
जैसे, मलमूत्र संग, योनिक्षत या विदार इत्यादि । कुछ
रोग पहले से ही स्त्री में गुप्त या प्रकट रहते हैं और प्रसूति
के पश्चात् जोर पकड़ते हैं । जैसे, राजयक्ष्मा, उन्माद
इत्यादि । इनमें सब से महत्त्व का रोग है ज्वर—सर्वेषामेव
रोगाणां ज्वरः कष्टतमो मतः । (काश्यपसंहिता, सूतिकोप-
क्रमणीय) । इसको सूतिकाज्वर (Puerperal fever)
कहते हैं । अतः इसी का यहाँ पर विचार किया जायगा ।

व्याख्या—प्रसूति के पश्चात् स्त्री को मसुरिका, विषम-
ज्वर, कालाभजार, एन्फ्लुएन्जा, न्युमोनिया, जुकाम,
श्लेष्मिपद, राजयक्ष्मा इत्यादि अनेक रोगों के होने से ज्वर
आ सकता है, परन्तु इनको प्रसूतिज्वर नहीं कह सकते
हैं । ये ज्वर जैसे स्त्री को होते हैं, वैसे पुरुष को भी होते
हैं और स्त्री को भी जैसे प्रसवोत्तर हो सकते हैं वैसे प्रसवा-
वस्था को छोड़कर बचपन से वृद्धावस्था तक सभी अव-

स्थाओं में हो सकते हैं । अर्थात् ये ज्वर प्रसूतावस्था
विशिष्ट नहीं हैं । प्रसूतिज्वर प्रसूतावस्था विशिष्ट ज्वर है,
जो इस अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्था में नहीं होता,
तथा जो प्रसूतावस्था में प्रसव के कारण गर्भाशय और
अपत्यमार्ग में उत्पन्न हुई स्वाभाविक विशिष्ट स्थिति की
विकृति से उत्पन्न होता है । इस दृष्टि से प्रसूतिज्वर को
'प्रसूतयोनिदोषज ज्वर' ऐसा संप्राप्तिदर्शक नाम दे सकते
हैं । अंग्रेजी में इसके लिए कई संप्राप्तिदर्शक नाम प्रचलित
हैं । जैसे, Puerperal sepsis, puerperal infection,
puerperal Toxaemia, P. septicaemia, surgical
fever of childbed etc. प्रधान कारण—प्रसव के कारण
गर्भाशय तथा अपत्यमार्ग व्रणयुक्त और कमजोर हो जाता
है । ऐसे स्थान में यदि प्योत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश
हो जाय तो वे जल्दी व्रणयुक्त स्थानों पर अपना अधिकार
जमा लेते हैं और गंभीर विकृति उत्पन्न करते हैं, जिसके
कारण ज्वर उत्पन्न होता है । विकार उत्पन्न करने में निम्न
जीवाणु होते हैं—स्ट्रेप्टोकोकाय, स्टाफिलोकोकाय, बैसी-
लसकोली, न्यूमोकोकाय, गोनोकोकाय, वै० एरिओजीनस
कैटसुलेटस तथा अन्य । इनमें स्ट्रेप्टोकोकाय विशेष
महत्त्व का और अधिकता से मिलने वाला होता है । ये
जीवाणु कष्टप्रसूति के समय प्रसव कराने के लिए प्रयुक्त
हुए गंदे हाथों से या औजारों से भीतर प्रविष्ट होते हैं ।
अथवा प्रसूति के पश्चात् योनिद्वार की सफाई ठीक न रखने
से तथा योनिद्वार के साथ संबंध रखने वाले कपड़े गन्दे
प्रयुक्त करने से भीतर प्रविष्ट होते हैं । सहायक कारण—
कष्टप्रसूति जहाँ पर यन्त्रशास्त्रों का उपयोग किया गया हो,
विलम्बी प्रसूति, प्रसवजन्य अधिक रक्तस्राव, अपतर्पण
(पीछे अपतर्पण देखो), चिता दुःख इत्यादि मानसिक
विकार, प्रसवशोणित का स्राव ठीक न होना, अपरा और
जरायु का कुछ अंश गर्भाशय में शेष रहना, मलाबरोध,
अकालप्रसूति, जैसे गर्भपात या गर्भस्राव इत्यादि—
स्त्रीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः । दाहज्वरकरो घोरौ जायते
रक्तविद्रवैः । अपि सम्यक्प्रजातानामसूकायादनिसूतम् । रक्तजं
विद्रधिं कुर्यात् कुक्षौ मकछसंज्ञितम् ॥ (निदान ९) । शारीरिक
विकृतियाँ—व्यावहारिक दृष्टि से शारीरिक विकृतियों के तीन
विभाग किये जाते हैं—(१) स्थानिक—इसमें जीवाणु योनि-
गर्भाशय में ही सीमित रहते हैं । इसमें स्थानिक लक्षण
अधिक और सार्वदैहिक सौम्य रहते हैं । स्थानिक विकृति
में गर्भाशय का वह भाग, जहाँ पर अपरा लगी रहती
है, अधिक दूषित होता है । इसके सिवा योनि में या
योनिद्वार में कहीं विदार या व्रण हुए हों तो वहाँ पर भी
विकृति होती है । (२) समीपवर्ती विकृतियाँ (Local second-
ary lesions)—इसमें गर्भाशय तथा योनि समीपवर्ती अंगों
में विकृति समीपता के कारण सिराओं, रसायनियों और
बीजवाहिनियों द्वारा फैलती है, जिसके परिणाम स्वरूप में
सिराशोथ (Phlebitis), रसायनीशोथ (Lymphangitis),
बीजवाहिनीशोथ (Salpingitis), बीजग्रंथिशोथ (oophori-
tis), श्रोणिगुहाशोथ (Pelvic cellulitis), मूत्राशयशोथ

(Cystitis) और उदरावरणशोथ (Peritonitis) इत्यादि उपद्रव होते हैं। (३) सार्वदैहिक और दूरवर्ती विकृतियाँ—ये विकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं—(अ) विषमय (Toxæmic)—इसमें स्थानिक विकृति से विष रक्त के साथ संपूर्ण शरीर में संचार करता है। विष का परिणाम अधिकतर यकृत, प्लीहा, हृदय और मस्तिष्क पर होता है। प्रत्येक स्थानिक विकृति के साथ, चाहे सौम्य हो, चाहे तीव्र हो, न्यूनाधिक विषमयता हुआ करती है। (आ) जीवाणुमय (Septicæmic)—इसमें स्थानिक विकृति के जीवाणु रक्त और लसिका के साथ संपूर्ण शरीर में संचार करते हैं और कभी कभी स्थान स्थान पर अवस्थान करते हैं। (इ) अन्तःशल्यमय (Embolie)—कभी कभी गर्भाशय समीपवर्ती सिराओं में जमा हुआ रक्त हलचल या दबाव के कारण वहाँ से छोटे छोटे कणों के रूप में रक्त के साथ संपूर्ण शरीर में फैलता है और स्थान स्थान पर अन्तःशल्य (Embolus) के रूप में अवस्थित होता है। जमे हुए रक्त के साथ जीवाणु भी रहते हैं। द्वितीय और तृतीय विकृति के अनुसार जीवाणु या जमा हुआ रक्त अधिकतर फुफ्फुस, हृदय, हृदयावरण, संधियाँ, मस्तिष्क, मस्तिष्कावरण इत्यादि में अवस्थान करते हैं। उपसर्ग सौम्य और प्रसूता का स्वास्थ्य अच्छा होने पर विकृति प्रायः स्थानिक रहती है और उपसर्ग तीव्र और प्रसूता का स्वास्थ्य खराब होने पर विकृति समीपवर्ती या दूरवर्ती अंगों में फैलकर रोग गंभीर हो जाता है। लक्षण—विकृति के समान लक्षणों के स्थानिक और सार्वदैहिक विभाग किये जाते हैं। स्थानिक लक्षण—इनमें योनिगर्भाशय के लक्षणों का समावेश होता है। योनि में सूजन, जलन और पीड़ा होती है। गर्भाशय आकार में बढ़ा रहता है, टटोलने पर पीड़ायुक्त और पिलपिला मालूम होता है। विकृतिसमीपवर्ती भागों में फैलने पर वे भाग कठिन और पीड़ायुक्त होते हैं। जब गर्भाशय में अपरा और जरायु के कुछ अंश बाकी रहते हैं, तब जीवाणुओं के उपसर्ग से उनके सड़ने के कारण गर्भाशय एक विद्रधि सा हो जाता है। इसी का उल्लेख निदान में मल्लविद्रधि (Putrid endometritis) करके और काश्यपसंहिता में विद्रधि करके किया गया है। प्रसवशोणित के ऊपर स्थानिक विकृति का परिणाम दिखाई देता है। इसकी राशि कम या अधिक होती है, या यह बिल्कुल बंद हो जाता है, उसका रंग भूरा या काला सा होता है, उसमें गाढ़ापन आ जाता है तथा उससे दुर्गंध आने लगती है। उदर कुछ बढ़ा रहता है। यदि उपसर्ग प्रसव के समय पहुँच गया हो तो ये लक्षण दूसरे या तीसरे दिन से प्रारंभ होते हैं। यदि प्रसव के बाद उपसर्ग हुआ हो तो देर में प्रारंभ होते हैं। सार्वदैहिक लक्षण—इनमें ज्वर महत्त्व का और प्रधान लक्षण है। सौम्य रोग में ज्वर दूसरे या तीसरे सप्ताह में आ सकता है और तीव्र रोग में प्रसूति के दिन भी आ जाता है। प्रसूति के पश्चात् ज्वर आने के दिन से रोग की तीव्रता का कुछ अनुमान किया जा सकता है। ज्वर एकाएक या शनैः शनैः चढ़ता है। जब एकाएक

चढ़ता है, तब ज्वर के पूर्व सर्दी या जाड़ा मालूम होता है। रोग की स्थिति के अनुसार ज्वर १०१°-१०५° तक चढ़ता है। जब रोग शरीर के अन्य अंगों में फैलता है, तब रोगी को बार बार सर्दी लगती (प्रतिशोतता Repeated rigors) है। तीव्र रोग में फुफ्फुस में विकृति होने से कास, श्वास, मस्तिष्क में विकृति होने से चित्तभ्रम, प्रलाप, बेहोशी, त्वचा पर विविध प्रकार के और सरक्त विस्फोट, कामला, पक्षाघात, एकांगघात, अर्द्धित इत्यादि लक्षण उत्पन्न होकर प्रसूता की मृत्यु होती है। जब गर्भाशय और योनि में अपतानक के जीवाणु का उपसर्ग होता है तब अपतानक (Tetanus), हनुस्तम्भ, मन्थास्तम्भ ये लक्षण होते हैं। कुछ स्त्रियों में उपसर्ग का परिणाम उन्माद में होता है। इसको प्रसवोन्माद (Puerperal insanity) कहते हैं। संक्षेप में, काश्यपसंहिता में प्रसूता के जो चौसठ रोग बताये गये हैं, वे वास्तव में स्वतन्त्र रोग न होकर योनिगर्भाशय की दुष्टि होने के कारण उत्पन्न हुए विविध लक्षण हैं।

देशकालौ च परीक्ष्य—देश से यहाँ पर रोगी और काल से आतुरावस्था ग्रहण करनी चाहिए। आतुर की परीक्षा प्रकृति, विकृति इत्यादि दस बातों से बलदोषप्रमाण जानने के लिए और काल की परीक्षा ओषधि का योग्य उपयोग और लाभ होने के लिए की जाती है। चरक में लिखा है—देशस्तु भूमिरातुरश्च। आतुरस्तु खलु कार्यदेशः। तस्य परीक्षा आयुःप्रमाणज्ञानहेतोर्वा स्वाद्वलदोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा। तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयतश्चेति, बलप्रमाणविशेषग्रहणेतोः। कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च। आतुरावस्थास्वपितु कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा। अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्याकालः, कालः पुनरन्यस्य। न ह्यतिपातितकालमप्राप्तकालं वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति। कालो हि भेषज्यप्रयोगपर्याप्तिमपि निर्वर्तयति॥ (विमान ८)। व्याधिसात्म्येन कर्मणा—रोग के लिए औषध, अन्न और विहार का जो लाभदायक प्रयोग हो, उसके द्वारा—उपशयो हि हेतुव्याधिविपरीतैर्विपरीतार्थकारिभिरौषधाहारविहारैः सुखानुबन्धः। स हि व्याधिसात्म्यसंज्ञः। (अष्टांगसंग्रह, निदान १)। गयदासाचार्य इस श्लोकार्थ का पाठ इस प्रकार से देते हैं—गन्धी तु देशकालौकव्याधिसात्म्येन कर्मणा इति पठित्वा देशादिभिः सह पृथक् सात्म्यशब्दं संवन्नाति, ओकसात्म्यमभ्याससात्म्यम्। (डल्हणटीका)। ओकसात्म्यम्—उपशोते यदौचित्यादोकासात्म्यं तदुच्यते। इस पाठभेद से कोई विशेष अर्थ नहीं निकल आता। इसकी अपेक्षा मूलपाठ सब दृष्टि से प्रशस्त है। एवं नालयमाम्नुयात्—प्रसूति का रोग शरीरदौर्बल्य तथा अन्य कारणों से दारुण, कृच्छ्रसाध्य या असाध्य होता है। इसकी चिकित्सा आधुनिक उत्तमोत्तम ओषधियों (जैसे, प्रोटोन्सिल, सोल्यूसेप्टासीन इत्यादि) और चिकित्सापद्धतियों द्वारा करने पर भी कई स्त्रियों का नाश होता है और यदि पूर्व सुकृत से बच भी जाय तो रोगग्रस्त या गर्भाक्षम या सुप्रजानिर्माणाक्षम हो

जाती है । इसलिए 'प्रक्षालनादि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इस न्याय से स्त्री को प्रसूति रोग पैदा ही न हो जाय इस प्रकार प्रसवपूर्व, प्रसवकालीन और प्रसवोत्तर परिचर्या करना प्रशस्त है । इस विषय का विवरण पीछे गर्भिणी परिचर्या (तीसरे अध्याय के १३वें सूत्र और इस अध्याय के दूसरे सूत्र) में, प्रसवकालीन परिचर्या में और आगे के सूत्र में किया गया है । इसका तात्पर्य यहाँ पर संक्षेप में दिया जाता है । सगर्भावस्था में स्त्री सुपाच्य, पौष्टिक, पर्याप्त, जीवद्रव्ययुक्त आहार का सेवन करे, त्वचा और जननेन्द्रिय की स्वच्छता के ऊपर अधिक ध्यान दे; मुख गला, नासा, त्वचा इत्यादि में कोई दूषित स्थान (Septic focus) हों तो उनकी चिकित्सा करके ठीक करे । रक्तक्षय या अन्य रोगों की चिकित्सा करे । जहाँ तक हो सके, योनि के भीतर अंगुलियों को प्रविष्ट करके परीक्षा न करे । अगर करना अत्यावश्यक हो तो हाथों की सफाई के ऊपर ध्यान देकर करे । प्रसूति के कार्य में प्रयुक्त स्त्रियाँ मुख, नासा, गला, स्वरयन्त्र, फुफ्फुस और त्वचा के विकारों से पीडित हों तो उनको तैनात न करे, डॉक्टर या वैद्य को भी श्वसन संस्थान और त्वचा के रोगों से पीडित होने पर प्रसूति का काम न करना चाहिए । प्रसूति के समय विरेचन और बस्ति के द्वारा मलाशय साफ रखे । प्रसवोपयोगी वस्त्रपात्र शल्ययन्त्रादि को अत्यन्त विशोधित करके काम में लावे । योनिद्वार में कहीं विदार हुआ हो तो तुरन्त टाँके लगावे, आहार-विहार के संबंध में प्रसूता की परिचर्या जिस प्रकार से बताई गई है उस प्रकार करे, योनिद्वार की सफाई रखे तथा योनिद्वार के साथ संबन्ध रखने वाले सब वस्त्र अत्यन्त स्वच्छ प्रयुक्त करे, इत्यादि ।

अथापराऽपतन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते, तस्मात् कण्ठमस्याः केशवेष्टितयाऽङ्गुल्या प्रमृजेत्, कटुका-लावुकृतवेधनसर्पपसर्पनिर्मोकैर्वा कटुतैलविमिश्रै-र्योनिमुखं धूपयेत्, लाङ्गलीमूलकत्वेन वाऽस्याः पाणिपादतलमालिम्पेत्, मूत्रि वाऽस्या महावृक्ष-क्षीरमनुसेचयेत्, कुष्ठलाङ्गलीमूलकत्वं वा मद्य-भूत्रयोरन्यतरेण पाययेत्, शालमूलकत्वं वा पिप्प-ल्यादिं वा मधेन, सिद्धार्थककुष्ठलाङ्गलीमहावृक्ष-क्षीरमिश्रेण सुरामण्डेन वाऽऽस्थापयेत्, एतैरेव सिद्धेन सिद्धार्थकतैलेनोत्तरवस्ति दद्यात्, स्निग्धेन वा कृत्तनखेन हस्तेनापहरेत् ॥२०॥

(प्रसव की तृतीयावस्था—) गर्भजन्म के पश्चात् (गर्भाशय से) न गिरी हुई अपरा आनाह और आध्मान करती है । अतः (अपरापातनार्थ) बालों से लिपटी हुई अंगुलि से उसके कण्ठ (गले) में गुदगुदी करे; अथवा कड़वी तुम्बी, कड़वी तोरी, सरसों, साँप की केंचुली को कड़वे तैल से मिलाकर उनसे योनिमुख का धुन करे; अथवा उसके हाथ-पैरों की तली में लांगली की जड़ के कल्क का लेप करे; अथवा उसके सिर पर सेहुण्ड के रस

का सेचन करे; अथवा मद्य या गोमूत्र के साथ कुछ और लांगली के मूल के कल्क को पिलावे; अथवा शालीमूलकल्क या पिप्पल्यादि (गण का चूर्ण) मद्य के साथ (पिलावे); अथवा श्वेत सरसों, कुछ लांगली, सेहुण्डक्षीर इनसे मिश्र सुरामण्ड का आस्थापन करे; इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध सिद्धार्थक तैल की उत्तर वस्ति दे; अथवा नाखून काटे हुए और स्नेहद्रव्य से स्निग्ध किये हुए हाथ से निकाले ॥२०॥

वक्तव्य—इस सूत्र में अपरापातन के विविध उपाय बताये गये हैं । प्रसव की तृतीयावस्था की यही मुख्य घटना होती है । गर्भ को बाहर निकालने में गर्भाशय को तथा माता को अत्यधिक परिश्रम करने पड़ते हैं, जिसके कारण गर्भजन्म होने पर ये दोनों भी थक जाते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि दस-पंद्रह मिनट तक गर्भाशय में संकोच नहीं होता और इससे प्रसववेदना भी उतने समय तक बंद हो जाती है । इस अवधि में गर्भाशय पूर्णतया निष्क्रिय नहीं होता । यदि इस अवधि में गर्भाशय के ऊपर हाथ रक्खा जाय तो उसमें हलकी सी हलचल हो रही है, ऐसा मालूम होगा । इस हलचल से गर्भाशय अपनी शक्ति को फिर से काम करने के लिए इकट्ठा करता है और शरीर को छोटा बनाता है । इस परिवर्तन को संहरण (Retraction) कहते हैं । यह संहरण का कार्य बहुत महत्त्व का है । प्रथम और द्वितीय अवस्था में गर्भाशयसंकोच (Contractions) का जो महत्त्व है, वही महत्त्व तृतीयावस्था में गर्भाशयसंहरण का है । तृतीयावस्था में गर्भाशय के दो कार्य होते हैं—एक कार्य अपने प्रति होता है और दूसरा कार्य अपरा के प्रति होता है । ये दोनों कार्य अत्यन्त महत्त्व के हैं और इनका एक समय में होना भी आवश्यक है । ये दोनों कार्य संहरण के द्वारा होते हैं । संहरण में गर्भाशय के तन्तुओं में स्थायी संकोच हो जाता है, जिसके कारण गर्भाशय आकार में छोटा होता है । आकार छोटा होने से उसका भीतर का पृष्ठभाग भी क्षेत्रफल में छोटा होता है । तृतीयावस्था के पूर्व अपरा का गर्भाशयाभिमुख पृष्ठभाग और गर्भाशय का अपराभिर्संबंधित पृष्ठभाग इनमें मेल रहता है । तृतीयावस्था के प्रारंभ से जब गर्भाशय छोटा होने लगता है, तब दोनों के पृष्ठभाग में कुछ अनमेल शुरु होता है और धीरे धीरे यह अनमेल बढ़ता जाता है । अपरा गर्भाशय के साथ छोटी नहीं होती, इसलिए तृतीयावस्था के प्रारंभ से अपरा गर्भाशय से पृथक् होने लगती है । प्रथम अपरा का मध्यभाग प्रायः पृथक् होता है । पृथक् होने पर गर्भाशय और अपरा के बीच में कुछ रक्त इकट्ठा होता है । अनमेल के बढ़ने से अपरा अधिकाधिक पृथक् होती जाती है तथा दोनों के बीच में अधिक रक्त इकट्ठा होता है । इसको प्रत्यापरा रक्तसंचय (Retro-placental haematoma) कहते हैं । यह रक्तसंचय भी अपरा को पृथक् करने में सहायता करता है । संहरण का अन्तिम परिणाम अपरा के पूर्ण पृथक् होने में होता है । तत्पश्चात् गर्भाशय के संकोच से तथा प्रवाहण से अपरा गर्भाशय के भीतर से निकलकर नीचे योनि में आती है । इस तरह संहरण का

अपरा के प्रति परिणाम उसके पृथक्करण में होता है। अपरा पृथक्करण के साथ साथ यदि अपरा को रक्त पहुँचाने वाली रक्तवाहिनियों के मुख बंद न किये जायें, तो अपरा के स्थान से रक्त का स्राव बहुत होगा। परंतु यह देखा जाता है कि अपरा के साथ जो दो-तीन छटांक रक्त निकलता है उसके बाद रक्तस्राव नहीं होता। इसका कारण भी संहरण है। संहरण के द्वारा अपरा के स्थान की रक्तवाहिनियों के मुख गोया अवस्यक बन्धनों (Ligatures) से बंद किये जाते हैं। इस तरह संहरण का गर्भाशय के प्रति कार्य रक्तस्राव बंद करने में होता है। जिस समय संहरण ठीक नहीं होता, उस समय अपरा गर्भाशय से अलग भी ठीक नहीं होती, और यदि जबरदस्ती निकाली जाय तो उसका कुछ हिस्सा भीतर रहने का तथा रक्तस्राव होने का डर रहता है।

अथ—गर्भजन्म के पश्चात् । प्रसव की तीसरी अवस्था में प्रसवरूपवृद्ध की दो शाखाएँ होती हैं—मातृशाखा और अण्डशाखा। दोनों शाखाओं का काम साथ साथ करना पड़ता है और किया भी जाता है। इन शाखाओं के कार्य बालोपचर्या और स्तितोपचर्या कहलाते हैं। ये दोनों कार्य साथ साथ चलते हैं, इसका स्पष्ट निर्देश चरक में किया गया है—तस्मात् सन्तपराया प्रपत्ताये कर्मणि कियमाणे जातयावश्येन कुमारस्य कार्याण्येतानि कर्माणि भवन्ति। बारहवें सूत्र में बालोपचर्या और पंद्रहवें सूत्र से स्तितोपचर्या का विवरण किया गया है। वाल्म्य में सुधृत में दिया हुआ स्तितोपचर्या का क्रम कुछ उल्टा हो गया है। अपरापतन का कर्म सब से पहले याने पंद्रहवें सूत्र के पहले देना जरूरी है। अपरापतन के सिवा प्रसव पूरा नहीं होता और अम्यंग-छान, भोजन इत्यादि कर्म नहीं किये जाते। चरक और अष्टांगसंग्रह में स्तितोपचर्या का क्रम ठीक दिया है—यदा च प्रजाता स्नातयेनानपेक्षेत—काचिरसा अपरा प्रपत्ता न नेति। तस्माद्येदपरा न प्रपत्ता स्नातयेनानप्यतना की इत्यादि। इसके बाद स्तिका के आहार अम्यंगदि के बारे में विवरण किया गया है। अतस्मात्—यह अपरा का विशेषण है। चरक के उपपुंक्त वचन में और भी एक बात है, जो सुधृत में नहीं मिलती। वह बात इस सूत्र के पहले मानी गई है, ऐसा मान्य होता है। इस बात के साथ इस सूत्र का प्रारंभिक भाग निम्न प्रकार से परिचित कर सकते हैं—अपरापतन-तन्मातृशाखाभ्यामी कुले, तस्मात् तस्माद्येदपरा न प्रपत्ता स्नातहि कण्डमस्याः केनैवेहितपशुत्वा प्रसूजेद इत्यादि। इसका मतलब यह है कि गर्भजन्म के पश्चात् अपरा का निष्कासन या पतन आप से हो जाता है; उसके लिए विशेष कोशिश करने की आवश्यकता नहीं होती। गर्भाशय से पृथक् होने पर अपरा एक समय में बाहर नहीं आती। प्रथम गर्भाशय से योनि में आती है और योनि से बाहर निकलती है। गर्भाशय से अपरा पृथक् कैसे होती है, इसका विवरण इस चरक्य के प्रारंभ में किया गया है। गर्भाशय और योनि की अपरा को बाहर केकने की शक्ति भिन्न भिन्न होती है। गर्भाशय के संहरण से अपरा पृथक् होकर उसी के संकोच

से वह बालक के जन्म के पश्चात् दस-पंद्रह मिनट में खट से योनि में निकाली जाती है। गर्भाशय में जो संकोच शक्ति है, वह योनि में नहीं है। इसलिए योनि से बाहर आने में अपरा को अधिक समय लगता है। अगर अपरा का संपूर्ण निष्कासन निसर्ग या स्वभाव के ऊपर ही छोड़ दिया जाय तो समय की दृष्टि से यह देखा गया है कि २५ प्र० श० स्त्रियों में अपरा निर्गमन के लिए आधा घंटा, २५ प्र० श० स्त्रियों में एक घंटा, २५ प्र० श० में दो घंटे और शेष में दो घंटे से लेकर १२ घंटे तक समय लग जाता है। इससे यह स्पष्ट होगा कि संपूर्ण निष्कासन स्वभाव के ऊपर छोड़ने में कुछ अनिश्चिति है और कालापचर्य होने की संभावना होती है। इसलिए आधुनिक काल में अपरा निष्कासन के लिए मध्यम मार्ग पसंद किया जाता है। यह मध्यम मार्ग यह है कि गर्भाशय से योनि तक का अपरा का निष्कासन स्वभाव के ऊपर छोड़ा जाता है और योनि से बाहर आने के कार्य में हस्तद्वारा सहायता दी जाती है। प्रथम कार्य याने गर्भाशय से अपरा का पृथक् होने का कार्य स्वभाव पर छोड़ने का उद्देश्य यह है कि उससे अपरा पूर्णतया निकल आती है और प्रसवोत्तर रक्तस्राव (Post partum haemorrhage) नहीं होता। अगर यह कार्य जबरदस्ती किया जाय तो अपरा के कुछ टुकड़े भीतर रहने का डर होता है तथा गर्भाशय का संहरण ठीक न होने से रक्तस्राव भी हो सकता है। योनि से अपरा को कृत्रिम उपायों द्वारा निकालने में इन दोनों बातों का भी डर नहीं होता और समय की बचत होती है, क्योंकि योनि में संकोचन की शक्ति न होने के कारण योनि से बाहर आने में ही अधिक समय लगता है। साधारणतया बालक के जन्म के पश्चात् दस-पंद्रह मिनट तक गर्भाशय में जोर से संकोच नहीं होते और स्त्री को भी पीड़ा नहीं मान्य होती। इस समय में संहरण का कार्य जारी रहता है और उसके साथ साथ अपरा पृथक्करण का भी कार्य चलता है। अपरा जब पूर्णतया पृथक् हो जाती है, तब एकाध संकोच से वह गर्भाशय के बाहर योनि में निकाल दी जाती है। यह कार्य प्रायः पंद्रह-बीस मिनट में हो जाता है। परंतु इसके लिए अधिक से अधिक एक से सवा घंटा प्रतीक्षा की जाती है। यदि इस समय में अपरा योनि में न आ जाय तो समझना चाहिए कि गर्भाशय या अपरा में कुछ दोष है, जिससे अपरा का पृथक्करण स्वभाव से नहीं हो रहा है और कृत्रिम उपायों की आवश्यकता है।

योनिगत अपरा के लक्षण—गर्भाशय को छोड़कर अपरा जब योनि में आती है, तब कुछ लक्षण और परिवर्तन होते हैं जिनको देखने से या प्रतीत करने से अपरा के योनि में आने की सूचना मिलती है। घंटा सवा घंटे का जो समय बताया गया है तब तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती। ये पाँच लक्षण होते हैं—(१) नाभिनाडी अधिक लंबी हो जाती है—बालक के जन्म के पश्चात् नाडीच्छेदन के समय नाडी पर दो बंधन लगाये जाते हैं। एक नाभि से दो तीन इंच पर और दूसरा योनिद्वार के

बाहर । पश्चात् नाडी नाभिबन्धन के पास काट दी जाती है । दूसरे बन्धन का उपयोग जैसे यमल के रक्तस्राव को रोकने के लिए होता है, वैसे ही अपरावतरण जानने के लिए होता है । जब अपरा गर्भाशय से योनि में आती है, तब योनिद्वार के बाहर की नाभिनाडी अधिक लंबी हो जाती है और इसका ज्ञान योनिद्वारसमीपवर्ती बन्धन योनिद्वार से अधिक दूर होने पर हो जाता है । (२) गर्भाशय ऊपर की ओर नाभि के पास चढ़ता है—बालक का जन्म होते ही गर्भाशय का ऊपर का हिस्सा भगास्थि से कुछ ऊपर और नाभि से कुछ नीचे होता है । जब अपरा गर्भाशय से निकलकर योनि में आती है, तब गर्भाशय अपरा के ऊपर चढ़ता है । इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय उदर-गुहा में कुछ ऊँचा हो जाता है और नाभि तक या उससे कुछ अधिक ऊँचाई तक पहुँचता है । (३) नाभि के पास उभार—श्रोणिगुहा से गर्भाशय ऊपर चढ़ने के कारण नाभि के पास उदरप्राचीर में कुछ उभार दिखाई देने लगता है । (४) गर्भाशय की स्थिरता कम होती है—श्रोणिगुहा में अपरा के साथ जब गर्भाशय रहता है, तब वह चारों ओर से घेरा हुआ रहने के कारण हाथ से हिलाने पर इधर-उधर बहुत कम हिल सकता है । परंतु जब वह अपराविरहित होकर उदरगुहा में चढ़ता है, तब हाथ से उसको दायें बायें हिला सकते हैं । (५) गर्भाशय को खींचने से नाडी खींची नहीं जाती—जब तक अपरा गर्भाशय में होती है, तब तक गर्भाशय को ऊपर की ओर खींचने से नाभिनाडी भी ऊपर की ओर खींची जाती है । खींचते समय योनि के बाहर की नाडी पर ध्यान देने से इस बात का पता लग जाता है । इन लक्षणों के ऊपर ध्यान देने से अपरा गर्भाशय से अलग होकर योनि में आ गई है या नहीं, इसका ज्ञान हो जाता है ।

तृतीयावस्था की व्यवस्था—बालक का जन्म होने पर एक तरफ बालक की परिचर्या शुरू होती है और दूसरी तरफ प्रसूता की परिचर्या जारी रहती है । बालक की परिचर्या का विचार पीछे ११वें सूत्र में किया जा चुका है । इस सूत्र में सूतिका की तृतीयावस्था की परिचर्या का विचार किया गया है । तृतीयावस्था में प्रसूता उत्तानासन में ही रखी जाती है । यही आसन इस अवस्था के लिए सुविधाजनक रहता है । भारतवर्ष में द्वितीयावस्था में भी यही आसन पसंद किया जाता है । इसलिए तृतीयावस्था में आसन-परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । जो लोग पाश्चात्यपद्धति के अनुसार द्वितीयावस्था में पार्श्विकासन पसंद करते हैं, वे लोग तृतीयावस्था में फिर से स्त्री को उत्तानासन में रखते हैं । बालक का जन्म होने पर एक हाथ स्त्री के उदरप्राचीर पर नाभि के पास इस तरह खड़ा दबाया जाता है कि कनिष्ठिका नीचे की ओर हो, अंगुठा ऊपर हो और हथेली भगास्थि की ओर हो । इस तरह हाथ रखने से गर्भाशय का सब हाल मालूम होता है, यदि आवश्यक हो तो गर्भाशय को हल्के पीड़न से उत्तेजित कर सकते हैं और अपरा के नीचे आने का पता लग जाता

है । इसके सिवा गर्भाशय पर हाथ रखने से भीतर दूसरा गर्भ हो तो उसका भी ज्ञान हो जाता है ।

जब अपरा योनि में आ जाती है, तब उसको निम्न तीन पद्धतियों से निकाल सकते हैं—(१) पीदन (Expression)—इसमें उदरप्राचीर पर से गर्भाशय पकड़ा जाता है और पीछे तथा नीचे की ओर दबाया जाता है । इस पीदन से योनि पर ऊपर से दबाव पड़कर अपरा बाहर निकलती है । (२) नाडी से खींचना—नाभिनाडी का जो हिस्सा बाहर रहता है, उसको पकड़कर खींचने (Traction) से अपरा बाहर खींची आती है । अपरा गर्भाशय में ही रहने पर इस पद्धति का प्रयोग करने से कभी कभी गर्भाशय उल्टा (Inversion) हो जाता है । यह बड़ा गंभीर उपद्रव है । इसलिए नाडी को खींचने से पूर्व अपरा योनि में आ गई है, इसका ठीक ठीक ज्ञान लक्षणों के द्वारा कर लेना चाहिए । (३) हाथ से निकालना (Manual removal)—इसमें स्पष्ट किया हुआ हाथ योनि में प्रविष्ट करके उसी से अपरा बाहर निकाली जाती है । ये तीनों पद्धतियाँ यथापूर्व गुणावह हैं ।

आयुर्वेदिक अपरानिष्कासन की विधियाँ—इस सूत्र में जो विधियाँ बतलाई गई हैं, उनके अलावा चरक में निम्न विधियाँ अधिक मिलती हैं—एनामन्वतमा स्त्री दक्षिणेन पाणिना नामेक्ष्यरिष्टाद्बलवन्निपीक्य सन्धेन पाणिना पृष्ठत उपसंगृह्य तां मुनिवृत्तिं निधेनुयात् । अथास्याः पाण्ण्यं शोणीमा-कोटयेत् । इत्यादि । वाग्भटोक्त अष्टांगसंग्रह और अष्टांग-हृदय में भी ये ही विधियाँ बतलाई गई हैं । इनके ऊपर ध्यान देने से एक बात स्पष्ट होती है कि जहाँ तक हो सके, अपरा का पतन स्वभाव के ऊपर ही छोड़ा जाता है । अगर उससे काम न हो तो स्वभाव को सहायता करने वाले बाहरी इलाज किये जाते हैं और उनसे न बने तो अन्त में हाथ से निकालने का काम किया जाता है । चरकसंहिता में हस्तापहरण की विधि नहीं मिलती । हाथ से जबदेखी निकालने में अपरा और जरायु के हिस्से भीतर रहने का तथा रक्तस्राव होने का डर रहता है । इनके अलावा अगर हाथ की सफाई की ओर ध्यान न दिया जाय तो हाथ के साथ पूषोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश गर्भाशय में होकर प्रसूति रोग उत्पन्न होने की संभावना रहती है । इसलिए आधुनिक काल में बाहरी उपायों के द्वारा ही अपरापातन का कार्य, जहाँ तक हो सके, किया जाता है । जब इनसे कार्य नहीं बनता, तब हाथों से निकालने की कोशिश की जाती है । आयुर्वेद की उपयुक्त विधियों के क्रम में अपरा पातन का यही तत्त्व दिखाई देता है । ये विधियाँ अपरा पातन में किस प्रकार सहायता करती हैं, इसका कुछ विचार यहाँ पर किया जाता है ।

(१) केशवेष्टितयांगुल्या कण्ठं प्रवृजेत्—चरकसंहिता में तथा अष्टांगहृदय में वेणी का अग्र (बालवेणी) या वेणी कण्ठप्रमाज्जन के लिए प्रयुक्त की गई है । केशवेष्टित अंगुलि या वेणी से कण्ठ या तालु को छूने से (Tickling the fauces) गले में मुरमुराहट वा गुदगुदी उत्पन्न होती

है। इसका परिणाम कण्ठरासनी (Glossopharyngeal) नाडी के द्वारा सुषुम्नाशीर्षगत केन्द्र (Vomiting centre) के ऊपर होकर तद्वारा वमन की क्रिया होती है। वमन क्रिया में वक्षोद्वगुहामध्यस्थ महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) का तथा उदरप्राचीरपेशियों का संकोच होता है। इससे उदरगत अंगों पर दबाव पड़ता है। अर्थात् गर्भाशय पर भी दबाव पड़ता है। इस दबाव से गर्भाशय में संकोच पैदा होकर अपरापृथक्करण में सहायता होती है। (२) लांगली प्रयोग—लांगली के गुणधर्म पीछे १०वें सूत्र के अन्त में दिये हुए हैं। लांगली में गर्भाशय में संकोच पैदा करने की शक्ति है। अर्थात् लांगली गर्भाशयसंकोचक (Ecbolic, oxytocics) है। इसका गुण शरीर पर बाँधने से, लेप करने से या पीने से प्रकट होता है। इसका प्रलेप यहाँ पर केवल हाथ पर के तलों पर करने के लिए लिखा है। अष्टांगसंग्रह में नाभिप्रदेश पर करने के लिए भी लिखा है—लांगलीमूलकत्केन वा पाणिमुदरं चालिम्पेत। लांगली का कल्क उदर पर लगाने से जब तक कल्क गीला है, तब तक वह अपनी शीतलता के कारण गर्भाशय में संकोच पैदा कर सकता है। इससे अपरापातन में सहायता होती है। इसके सिवा यह ठंडा कल्क प्रसवोत्तर रक्त्ताव रोकने के लिए भी उपयोगी हो सकता है। डा० निकोलस प्रसव के पश्चात् अपरापातन के लिए ठंडे पानी में भिगोया हुआ तौलिया उदर पर रखने के लिए लिखते हैं—*I lay a towel, four fold, wrung out of cold water on the abdomen. This assists in the contraction of the uterus, helps to throw off the placenta, if still adherent, and do expel it, and is a safeguard against haemorrhage. Esoteric Anthropology.* लांगलीकल्क प्रलेप में ठंडे पानी के सब गुण हो सकते हैं और इनके अलावा लांगली का विशेष गुण भी होता है। (३) वस्ति या आस्थापन—वस्ति देने से मलाशय में संकोच पैदा होता है और मलाशय तथा गर्भाशय के संबंधित होने के कारण उनमें भी संकोच पैदा होकर अपरापातन में सहायता होती है। चरक में इसके संबंध में लिखा है—तदास्थापनमस्याः सह वातमूत्रपुरीषैर्निर्हरत्यपरामासकां बायोरेवाप्रतिलोमगत्वात्। अपरां हि वातमूत्रपुरीषाण्यन्यानि चान्तर्बहिर्भागानि सज्जन्ति। (४) नामेरुपरिष्ठाद् बलबदुपपीड्य—यह पीडन आधुनिक Expression नामक उपाय के साथ मिलता है। अगर अपरा गर्भाशय में ही हो तो गर्भाशय का ऊपर का भाग एक या दो हाथों में पकड़कर निचोड़ना, जिससे अपरा नीचे योनि में चली जाय। पश्चात् गर्भाशय को पीछे और नीचे की ओर दबाना जिससे वह योनि के बाहर निकल जाय। (५) हस्तेनापहरणम्—यह अन्तिम उपाय है। उपर्युक्त बाह्य और भीतरी उपायों से अगर अपरा न निकल पड़े तो नाखून कटवाकर और हाथों को तैल या घृत से चुपड़कर यह कर्म किया जाता है। इस कर्म में हाथों की सफाई के ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिए, वरना पुष्योत्पादक जीवाणुओं

का प्रवेश होकर मकलविद्रधि, प्रसूतिज्वर उत्पन्न होता है। प्रथम हाथों को साबुन से साफ धोकर पश्चात् लायसोल के घोल से निर्दोष करना चाहिए। यदि विशोधित रबड़ के मोजे हाथ पर चढ़ाये जायें तो और भी अच्छा है। योनि में हस्तप्रवेश करने से पूर्व योनिद्वार को भी लायसोल के घोल से साफ धोना चाहिए। पश्चात् पाँचों अंगुलियाँ मिलाकर शंकु की तरह बनाया हुआ हाथ योनि में से गर्भाशय में प्रविष्ट किया जाता है। तदनन्तर अंगुलियों को आगे पीछे करके धीरे धीरे सारी अपरा गर्भाशय से पृथक् की जाती है। इस समय दूसरा हाथ उदरप्राचीर पर गर्भाशय के ऊपर रक्खा जाता है। इससे गर्भाशय स्थिर होता है और अपरा को पृथक् करने में सहायता होती है। पृथक् हुई अपरा हथेली पर लेकर बाहर निकाली जाती है। दूसरी बार हाथ को भीतर प्रविष्ट करके अपरा के अगर कुछ अंश भीतर रहे हों तो वे निकाले जाते हैं। इसके बाद आधे से एक प्रतिशत लायसोल का उत्तरवस्ति गर्भाशय में दिया जाता है। गर्भाशय में हाथ प्रविष्ट करते समय नाडी के अनुरोध से प्रवेश करना चाहिए—स्निग्धेन वा कृत्तनखेन पाणिना नालानुसारतोऽपहरेत्। (अष्टांगसंग्रह)। अथवा वैद्योपदेशेन काचित् पाणिना स्नेहाम्यक्तेन क्लृप्तनखेन बहिःप्रलम्बमपरानालमनुसारवन्ति कुशला तामपरामन्तरपहरेत्। (इन्दु)। नालानुसारतः इस शब्दप्रयोग की खूबी निम्न अंग्रेजी वचन से ध्यान में आ जायगी—*The other hand is inserted into the vagina and follows the cord up into the uterus to the placenta. Ten teachers' Midwifery.* हाथ भीतर प्रविष्ट करने के पश्चात् अगर अपरा कहीं पर थोड़ी सी पृथक् हुई हो तो वहीं से पृथक् करने का काम प्रारंभ करना उचित है। इससे आसानी होती है। अगर कहीं पर भी पृथक् न हुई हो तो ऊपर किनारे से पृथक् करना चाहिए। अगर अपरा बहुत ही आसक्त हो (Adherent) तो उसको टुकड़े टुकड़े बनाकर निकालना चाहिए। स्वाभाविक तौर से निकल आने पर या कृत्रिम तौर से निकालने पर यह देखना आवश्यक है कि अपरा या जरायु का कोई टुकड़ा गर्भाशयद्वार से योनि में तो नहीं लटक रहा है। यदि लटक रहा हो तो उसको अंगुलियों से पकड़कर या चिमटी से पकड़कर धीरे से निकालना चाहिए। गर्भाशय के भीतर रहे हुए टुकड़े की अपेक्षा गर्भाशय के मुख से लटकता हुआ टुकड़ा अधिक भयावह होता है क्योंकि उसके द्वारा सीढ़ी की तरह योनिगत जीवाणु आसानी से गर्भाशय के भीतर पहुँच सकते हैं।

अपरा का परीक्षण—अपरा के बाहर निकल आने पर उसको एक थाली में रखकर भली भाँति देखना चाहिए। अपरा का गर्भाशय की ओर का भाग खुरदरा होता है। क्योंकि उसमें कई उभार होते हैं। ये दाल (Cotyledons) कहलाते हैं। अपरा परीक्षण में इन दालों के ऊपर ध्यान देना चाहिए। कभी कभी एकाध दाल भीतर रह सकता है। जरायु के बारे में उनके छिद्र देखने चाहिए। जरायु

में एक ही छिद्र होता है, जिसमें से गर्भ बाहर निकलता है। कभी कभी अन्य स्थान में भी जरायु फट जाने से छिद्र हो सकता है। यदि दूसरा छेद मिल जाय तो फटे हुए भाग मिलाकर देखना चाहिए कि वह केवल विदार है या उसका कुछ हिस्सा भीतर रह गया है। अपरा का कोई हिस्सा भीतर रहा हो तो उसको निकालना आवश्यक है, परंतु अगर जरायु का थोड़ा सा अंश भीतर रहा हो और गर्भाशयमुख से नीचे योनि में न लटकता हो तो उसको निकालने की आवश्यकता नहीं है। वे टुकड़े प्रसवशोणित के साथ निकल आते हैं।

अपरा निकल आने के बाद रक्त से भरे हुए कपड़ों को हटाकर योनिद्वार, चूतड़ तथा आसपास के भाग को स्वच्छ पानी और कपड़े से पोंछना चाहिए। आधुनिक काल में इसके लिए लायसोल का घोल प्रयुक्त करते हैं। जननेन्द्रिय तथा आसपास की सफाई करने के बाद जननेन्द्रिय का निरीक्षण विदारों के लिए करना चाहिए और यदि दरार हों तो उनको टाँकें लगाना चाहिए। पश्चात् जननेन्द्रिय पर कौपीन की तरह स्वच्छ कपड़े की मोटी पट्टी नाभि से लेकर चूतड़ तक उदरपट्ट की सहायता से बाँधनी चाहिए। जननेन्द्रिय की पट्टी प्रसवशोणित को सोखने के लिए और अप्रत्यक्षतया स्त्री के कपड़ों की खराबी न होने के लिए बाँधना आवश्यक है। उदर की पट्टी कौड़ी प्रदेश से ऊरु मध्य तक लगाई जाती है। गर्भाशय से गर्भ निकल जाने के बाद उदरगुहा में शून्यता, रिक्तता उत्पन्न होती है और उदरप्राचीर की पेशियाँ गर्भवृद्धि के तनाव के कारण दुर्बल और शिथिल हो जाती हैं। इसलिए उदर को सहारा देना आवश्यक हो जाता है। इसके सिवा गर्भाशय के ऊपर कुछ दबाव की आवश्यकता होती है। ये कार्य उदर पर कसके पट्टी बाँधने से होते हैं। यदि स्त्री का उदर अधिक मोटा और स्थूल हो तो पट्टी के नीचे नाभि पर वस्त्र की मोटी तह रखना उचित है—वेष्टयेदुदरं महताऽच्छेन वाससा; तथा तस्या न वायुरदरे विकृतिमुत्पादयत्यनवकाशत्वात्। (चरक)। प्रजातमात्रामाश्वस्य सतां शक्ता प्रसाविका। न्युञ्जां शयानां संवाह्य षष्ठे संस्थिष्य कुक्षिणा ॥ पीडयेद्वदमुदरं गर्भदोषप्रवृत्तये। महताऽदुष्टपट्टेन कुक्षिपार्श्वे च वेष्टयेत्। तेनोदरं स्वसंस्थानं याति वायुश्च शान्म्यति ॥ (काश्यपसंहिता, सूति-कोपक्रमणीयाध्याय)। सूतिका के साथ संबंध रखने वाला हर एक वस्त्र अदुष्ट होना चाहिए। इसमें भी जो वस्त्र जननेन्द्रिय के ऊपर रखा जाता है, वह विशेष करके अदुष्ट होना आवश्यक है।

जननेन्द्रिय के ऊपर की पट्टी प्रारंभिक कुछ दिनों में दिन में कई बार बदलनी पड़ती है क्योंकि स्त्राव अधिक रहता है। इस प्रसवशोणित स्त्राव के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह स्त्राव बहुत जल्दी दूषित हो जाता है तथा व्रण के साथ इसका संबंध होने से व्रण भी जल्दी दूषित होता है। इसलिए जब तक स्त्राव हो रहा है, तब तक प्रसूता अपने हाथों का संबंध जननेन्द्रिय के साथ न करे, तथा दाईं जननेन्द्रिय की सफाई करने से पूर्व बालक

की परिचर्या समाप्त करे क्योंकि प्रसवशोणित का संसर्ग नवजात बालक की नाभि या नाभिनाडी पर होने से उसमें पाक होने का डर रहता है। जब एक ही दाईं दोनों का काम करती है, तब इस नियम का पालन करना जरूरी है। जब आयुर्वेद के अनुसार प्रत्येक काम के लिए स्वतन्त्र स्त्री होती है, तब पहले और पीछे का सवाल नहीं उठता।

प्रजातायाश्च नार्या रूक्षशरीरायास्तीक्ष्णैरविशो-
धितं रक्तं वायुना तद्देशगतेनातिसंरुद्धं नामेरधः
पार्श्वयोर्बस्तौ बस्तिशिरसि वा ग्रन्थि करोति; ततश्च
नाभिवस्त्युदरशूलानि भवन्ति, सूचीभिरिव निस्तु-
द्यते भिद्यते दीर्यत इव च पक्वाशयः, समन्तादाध्मा-
नमुदरे मूत्रसङ्गश्च भवतीति मकल्लक्षणम् ॥२१॥

(मकल्लक्षण—) प्रसूत हुई (अत एव) रूक्ष शरीर की स्त्री का (पिप्पल्यादि) तीक्ष्ण ओषधियों से अविशोधित, गर्भाशयगत वायु से रोका हुआ रक्त नाभि के नीचे दोनों पार्श्वों में, बस्ति (देश) में अथवा बस्ति शिर में ग्रन्थि पैदा करता है। उससे नाभि, बस्ति और उदर में शूल होता है, पक्वाशय सूचियों से चुभ रहा है, मेदित या विदीर्ण हो रहा है (ऐसी पीडा होती है), उदर में चारों ओर आध्मान होता है और मूत्र रक जाता है, यह मकल्लक्षण है ॥२१॥

वक्तव्य—रूक्षशरीर—शरीर की रूक्षता गर्भवृद्धि-जन्म धातुक्षय, रक्तस्त्राव इत्यादि कारणों से होती है। अर्थात् सगर्भावस्था और प्रसव के कारण प्रत्येक प्रसूता स्त्री के शरीर में रूक्षता हो ही जाती है। तीक्ष्णैरविशोधितम्—पीछे १५वें सूत्र में प्रसवशोणित शुद्धि के लिए पिप्पली पिप्पली-मूलादि का चूर्ण देने के लिए बताया है। इसको न देने से रक्त अविशोधित रहता है। प्रसवशोणित की शुद्धि उसका ठीक स्त्राव होने में है। उसका ठीक स्त्राव न होने से वह अविशोधित रहता है। पिप्पल्यादि तीक्ष्ण ओषधियों से इसका स्त्राव ठीक होता है और न देने से नहीं होता। वायुना तद्देशगतेन—गर्भाशयगत वायु अर्थात् अपान वायु। मकल्लक्षणम्—प्रजातायाः प्रजननशोणितसंजनितशूलं मकल्लः। (डल्हण)। प्रजननशोणित वही है, जिसका वर्णन पीछे १५वें सूत्र के वक्तव्य में प्रसवशोणित (Lochia) करके किया गया है। मकल्ल को आफ्टरपेन्स (After pains) कहते हैं। मकल्ल के कई कारण हो सकते हैं। साधारणतया प्रसव के पश्चात् गर्भाशय में जोरदार संकोच नहीं होते, परंतु धीरे धीरे संहरण (१०वें सूत्र का वक्तव्य देखो) होता रहता है। कभी विलम्बी प्रसव, कष्टप्रसव या अन्य कारण से गर्भाशय कुछ प्रक्षुब्ध (Irritated) हो जाता है और प्रसव के पश्चात् भी कुछ काल तक जोर से संकुचित होता रहता है। इस संकोच के समय शूल होता है। कभी कभी अपरा और जरायु के कुछ टुकड़े गर्भाशय में रह जाते हैं। उनको निकालने की कोशिश में गर्भाशय में संकोच होते हैं और उससे शूल होता है। कभी कभी गर्भाशय

की कमजोरी से संहरण ठीक नहीं होता और रक्त का स्राव कुछ अधिक होता है। यह रक्त गर्भाशय के भीतर जमने लगता है और उनकी गॉठ बनती हैं। इनको निकालने के लिए उत्पन्न हुए संकोच से शूल होता है। संक्षेप में, कभी प्रक्षोभ के कारण, कभी अपराजरायु शेष रहने के कारण, कभी भीतर रक्त जम जाने के कारण और कभी कोई ठीक कारण मालूम न होते हुए भी प्रसव के बाद गर्भाशय में जो संकोच होते हैं, उनसे मकल होता है। वास्तव में आवी और मकल में शारीरिक कार्य की दृष्टि से कोई फर्क नहीं है। जो फर्क है वह कारण और काल की दृष्टि से है। आवी गर्भ को निकालने के लिए होती है, मकल गर्भ-जनित कुछ शेष दोष निकालने के लिए होता है; आवी गर्भजन्म के पूर्व होती है और मकल गर्भजन्म के पश्चात् होता है। इस काल-कारण की दृष्टि से आवी को प्रसवपूर्व गर्भनिःसारक वेदना और मकल को प्रसवोत्तर गर्भदोष-निःसारक वेदना कह सकते हैं। इसी का संक्षेप करके आवी के लिए जैसे प्रसववेदना कहते हैं, वैसे ही मकल के लिए प्रसवोत्तर वेदना कहना चाहिए। अंग्रेजी में मकल को ऐसा ही (After pains) कहते हैं। प्रसवोत्तर वेदना गर्भाशय के संकोच के कारण जैसी होती है, वैसे ही आन्त्र-गत वायु (आध्मान) और मूत्रसंग के कारण होती है। इसको मिथ्या प्रसवोत्तर वेदना (False after pains) कहते हैं। उदरगुहा से गर्भ निकल जाने पर उदर में शून्यता और रिक्तता आ जाती है तथा योनिद्वार के आस पास के भाग पर प्रसव के समय काफी दबाव और आघात होने के कारण मूत्रद्वार और मलद्वार के सुषिरस्त्रायु (Sphincters) संकुचित रहते हैं, जिसके कारण मल और मूत्र का उत्सर्ग नहीं होता—आनाहाध्मापने चोमे वचोमूत्र-ग्रहावपि। (काश्यपसंहिता)। प्रसवोत्तर वेदना और मिथ्या प्रसवोत्तर वेदना में निम्न भेद होते हैं—(१) मिथ्या वेदना आन्त्रगत वायु या मूत्रसंग के कारण और वास्तविक वेदना गर्भाशय संकोच के कारण होती है। (२) मिथ्या वेदना अनियमित समय पर और वास्तविक वेदना नियत समय पर होती है। (३) मिथ्या वेदना के समय गर्भाशय के ऊपर हाथ रखने से वह कड़ा नहीं मालूम होता; वास्तविक वेदना के समय कड़ा मालूम होता है। (४) बच्चे को दूध पिलाते समय वास्तविक वेदना अधिक हो जाती है या उस समय न होती हो तो शुरू होती है। मिथ्या वेदना पर बालक के स्नानपान का कोई परिणाम नहीं होता। (५) मलमूत्र त्याग करने से या अन्य उपायों द्वारा मलमूत्र निकालने से मिथ्या वेदना कम हो जाती है या बंद होती है। वास्तविक के ऊपर कोई परिणाम नहीं होता।

अष्टांगसंग्रह में 'मकल' का उल्लेख 'मर्कल' नाम से किया गया है।

तत्र (सर्पिणा सुखोष्णेन लवणचूर्णेन वा) वीर-तर्वादिसिद्धं जलमुषकादिप्रतीवापं पाययेत्, यव-क्षारचूर्णं वा पिप्पल्यादिकाथेन, पिप्पल्यादिचूर्णं वा

सुरामण्डेन, वरुणादिकाथं वा पञ्चकोलैलाप्रतीवापं, पृथक्पण्यादिकाथं वा भद्रदारुमरिचसंस्पृष्टं, पुरा-णगुडं वा त्रिकटुकचतुर्जातककुस्तुर्बुरुमिश्रं खादेत्, अच्छं वा पिवेदरिष्टमिति ॥२२॥

(मकलचिकित्सा—) उसमें वीरतर्वादि (गण की ओषधियों से) सिद्ध काथ ऊषकादि (गण की ओषधियों) का प्रक्षेप देकर (मन्दोष्ण घृत से या नमक के चूर्ण) से पिलावे; अथवा पिप्पल्यादि काथ यवक्षार चूर्ण के साथ, अथवा सुरामण्ड के साथ पिप्पल्यादि चूर्ण, अथवा वरुणादि काथ पञ्चकोल और एला के चूर्ण का प्रक्षेप देकर, अथवा पृथक्पण्यादि काथ देवदारु और काली मिरच के साथ (पिलावे), अथवा त्रिकटु, चतुर्जात और धनिया इनसे मिश्र पुराना गुड़ खावे, अथवा केवल अरिष्ट-सेवन करे ॥२२॥

वक्तव्य—वीरतर्वादिगण, उषकादिगण, पिप्पल्यादि-गण, वरुणादिगण इनकी ओषधियों का विवरण सूत्रस्थान के द्रव्यसंग्रहणीय (३८वें) अध्याय में किया गया है। अच्छं वा पिवेदरिष्टम्—अच्छं केवलम्। अरिष्टमभयारिष्टादिकम्। (डल्हण)। यदि गर्भाशयगत रक्तदोष के कारण शूल होता हो, उस दोष को गर्भाशय के पीडन से निकालने की कोशिश करनी चाहिए। शूल वायु के कारण होता है, इसलिए उदर पर नाभि के आस-पास गरम पानी से सेकना चाहिए, मलाशय में तथा योनि में बस्ति देना चाहिए और यदि कोष्ठशुद्धि न हो तो विरेचन द्वारा कोष्ठशुद्धि करनी चाहिए। इससे प्रायः मकल शूल दूर हो जाता है। अगर शूल कम न हो तो आजकल फेनासिटिन, एस्पिरिन, मार्फिया इत्यादि वेदनाहर ओषधियों का उपयोग किया जाता है।

सूतिका परिचर्या का विवरण यहाँ पर समाप्त होता है। इसके बाद फिर से बालकोपचर्या प्रारंभ होती है।

अथ बालं क्षौमपरिवृतं क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत्, पीलुवदरीनिम्बपरूषकशाखाभि-श्चैनं परिवीजयेत्, मूर्ध्नि चास्याहरहस्तैलपिचुमव-चारयेत्, धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नैर्धूपैः, रक्षोघ्नानि चास्य पाणिपादशिरोग्रीवास्त्वस्त्रजेत्, तिलातसीसर्षपक-णांश्चात्र प्रकिरेत्, अधिष्ठाने चाग्निं प्रज्वालयेत्, व्रणितोपासनीयं चावेक्षेत ॥२३॥

(रक्षार्कर्म—) स्नान के पश्चात् बालक को क्षौम के वस्त्र में लपेटकर क्षौम का वस्त्र जिस पर बिछा हुआ हो, ऐसे बिछौने पर सुलावे; पीलु, बेर, नीम और फालसे की शाखाओं से पंखा करे; उसके सिर पर प्रति दिन तैल का फाहा रखे; उसे रक्षोघ्न धूप से धूपित किया करे और उसके हाथ पैर सिर और ग्रीवा में रक्षोघ्न द्रव्य बाँधे और बालक के अगार में तिल, अतसी और सरसों को बखेर दे; बालकागार में अग्नि जलावे और व्रणितोपासनीय (अध्यायोक्त विधि) को काम में लावे ॥२३॥

वक्तव्य—अथ—बारहवें सूत्र में बताये हुए क्षीरवृक्ष कषायदि से बालक को खान कराने के बाद । मूर्ध्नि—तालु (Anterior fontanelle) पर । बालक की तालु तेल से भरने का रिवाज अभी तक भी जारी है । यह कर्म पाँच छः महीनों तक लगातार प्रतिदिन किया जाता है । तालु के सिवा कान में भी तेल छोड़ने का रिवाज है—अहरहृशस्य श्रोत्रशृङ्गाटकं स्नेहाश्लुतेन प्लोतेन प्रच्छादयेत् । (अष्टांगसंग्रह) । श्रोत्रं च शृङ्गाटकं च तयोः समाहारः श्रोत्रशृङ्गाटकम् । शृङ्गाटक—तालु । धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नैर्धूपैः—नीम की पत्ती, सरसों, नमक और घृत इनके धूप को रक्षोघ्न धूप कहते हैं—सर्षपादिषट्पञ्चाभ्यां सर्षपा लवणेन च । द्विरहः कारयेद् धूपं दशरात्रमतन्द्रितः ॥ (सूत्रस्थान १९) । काश्यपसंहिता में निम्न धूप रक्षोघ्न बताया है—घृतं सिद्धार्थको हिङ्गु देवनिर्माल्यमक्षताः । सर्पत्वग्भिभुसंघाटी धूपो रक्षोघ्न उच्यते ॥ (धूपकल्पाध्याय) । भिक्षुसंघाटी—फटे पुराने कपड़े । धूप से बालक, उसके वस्त्र, संपूर्ण मकान इनका भी धूपन किया जाता है—एतैर्बालान् समापन्नानरिष्टागारमेव च । वस्त्रशय्यासनाद्यं च बालानां धूपयेद् भिक्षुः ॥ (काश्यपसंहिता, धूपकल्पाध्याय) । रक्षोघ्नानि—व्रणितोपासनीय अध्यायोक्त छत्रातिच्छत्रादि ओषधियाँ, किंवा चरकोक्त (आगे रक्षाकर्मविधि देखो) वचा कुछ हिङ्गु सर्षप इत्यादि ओषधियाँ, किंवा जीवत्त्वद्वादिशृंगोत्थान् सदा बालः शुभान् मणीन् । धारयेदोषधीः श्रेष्ठा ब्राह्मयैन्द्रीजीविकादिकाः ॥ (अष्टांगहृदय, उत्तर १) । व्रणितोपासनीयं चावेक्षेत—प्रसूता तथा बालक दोनों भी व्रणित होते हैं । प्रसूता योनिगर्भाशय में और बालक नाभिनाडी और नाभि में व्रणयुक्त होते हैं । अर्थात् व्रणित की परिचर्या जिस प्रकार करनी आवश्यक होती है, उसी प्रकार इनकी भी परिचर्या करनी चाहिए । इस सूत्र में व्रणितोपासनीय अध्यायोक्त कुछ बातें बताई गई हैं; अनुक्त बातों के लिए यह शब्दसमूह प्रयुक्त किया गया है—जैसे, प्रशस्त और आतपवर्जित कुमारागार, सशस्त्र स्वास्तीर्ण, प्राक्शीर्षशयन, शान्तिमंगलदेवताब्राह्मण-परता, अजस्रदीपसूक्तदामादि, ऋग्यजुःसामाथर्ववेदादि मंत्रों का पठन इत्यादि ।

इस सूत्र में बालक की रक्षाकर्मविधि वर्णन की गई है । यह विधि दस दिन तक की जाती है—अथास्य रक्षां विदध्यात्—आदानीखदिरकर्कशुपीडुपूरुषकशाखाभिरस्या गृहं समन्ततः परिवारयेत् । सर्वतश्च सूतिकागारस्य सर्षपातसीतण्डुल-कणकणिकाः प्रकियुः । तथा तण्डुलबलिहोमः सततमुभयकालं क्रियेतानामकर्मणः । द्वारे च मुसलं देहलीमनु तिरश्चीनं न्यसेत् । वचाकुष्ठक्षौमकहिंसुसर्षपातसीलशुनकणकणिकानां रक्षोघ्नसामान्या-तानां चौपधीणां पोट्टलिकां बद्ध्वा सूतिकागारस्योत्तरदेहल्यामव-सृजेत्, तथा सूतिकायाः कण्ठे सपुत्रायाः, स्याल्युदककुम्भपर्यङ्के-ष्वपि, तथैव च द्वयोर्द्वारपक्षयोः । कणकणकणकेनवनान्निस्तित्नुक-काधिनश्चाग्निः सूतिकागारस्याभ्यन्तरतो निलं स्यात् । स्त्रिय-श्वैनां यथोक्तगुणाः सुहृदश्चानुश्वानुजागृयुर्दशहं द्वादशहं वा । अनुपरतप्रदानमङ्गलाशीः स्तुतिगीतवादित्रमन्त्रपानविशदमनुक्तप्रह-ष्टजनसंपूर्णं च तद्देशं कार्यम् । ब्राह्मणश्चाथर्ववेदवित् सततमुभयकालं शान्तिं जुहुयात्, स्वस्वयनार्थं कुमारस्य तथा सूतिकायाः । (चरक) ।

अब यहाँ पर बालक से संबंधित कुछ विषयों का विचार किया जायगा—(१) कुमारागार—चरकसंहिता में बालक के लिए स्वतन्त्र गृह बनाने के लिए लिखा है—वास्तुविचा-कुशलः प्रशस्तं रम्यमतमस्कं निवातं प्रवातैकदेशं दृढमपगतश्वापद-पशुर्दंष्ट्रमूषिकपतंगं सुविभक्तसलिलोलखलमूत्रवर्चःस्थानस्थान-भूमिमहानसमृत्सुखं यथर्तुशयनासनास्तरणसंपन्नं कुर्यात् । तथा सुविहितरक्षाविधानबलिमंगलहोमप्रायश्चित्तं शुचिवृद्धवैधानुरक्तजन-संपूर्णम् । सुशुत और अष्टांगहृदय में कुमारागार स्वतन्त्र नहीं दिया है, परंतु अष्टांगसंग्रह में चरक के अनुसार स्वतन्त्र दिया है । अब प्रश्न यह उठता है कि स्वतन्त्र कुमारागार आवश्यक है या नहीं है, और यदि आवश्यक हो तो किस परिस्थिति में आवश्यक होता है । जन्म के पश्चात् भी, यद्यपि गर्भावस्था के समान नहीं, माता और बालक का घनिष्ठ संबंध होता है क्योंकि बालक का पोषण माता के दूध पर ही हुआ करता है । इसलिए जहाँ पर और जब तक बालक माता का ही दूध पीता है वहाँ पर और तब तक बालक के लिए माता के स्थान से स्वतन्त्र स्थान न आवश्यक है, न उचित है । जहाँ पर और जब से बालक का पोषण माता के दूध पर नहीं होता, वहाँ पर और तब से बालक का स्थान माता से अभिन्न रखने में न कोई सुविधा है, न औचित्य है । इसलिए जहाँ पर माता स्वयं बच्चे को दूध पिलाती है तथा उसकी देख-भाल करती है, वहाँ पर कुमारागार की कोई आवश्यकता नहीं है, सूतिकागार में ही कुमार के लिए आवश्यक प्रबंध करने से काम हो जाता है । परंतु जहाँ पर माता बालक को दूध नहीं पिला सकती (जैसे, रुग्ण माता), अथवा बालक को दूध पिलाना नहीं चाहती (जैसे, धनी, अमीर या राजपुरुष की स्त्री अथवा आधुनिक कालीन पाश्चात्यों का अन्धानुकरण करने वाली स्त्री, जो बच्चे को पिलाना एक असम्भ्य काम समझती है या जो बच्चे की अपेक्षा अपने स्तनों की पुष्टता को याने पर्याय से अपने यौवन को अधिक महत्त्व देती है) और इस परिस्थिति के कारण जहाँ पर बालक के लिए धात्री रक्खी गई है, वहाँ पर सूतिकागार और कुमारागार पृथक् रखना ही आवश्यक है । कुछ भी हो, जहाँ पर बालक रहे वहाँ पर बालक के लिए आवश्यक सब बातों का प्रबंध होना चाहिए । जैसे कि ऊपर चरक के वचन में बताया गया है । कुमारागार के संबंध में कुछ विवरण पीछे चौथे सूत्र के वक्तव्य में सूतिकागार के साथ किया गया है । बालक के वस्त्र शय्यादि—बालक के वस्त्र स्वच्छ, निर्मल, मृदु, शुष्क और सुवैत होने चाहिए और उसकी शय्या मृदु, खटमल या पिस्सु से विरहित तथा यदि मच्छर हों तो मच्छरदानी से युक्त होनी चाहिए—निर्मलकुण्डलमशकमतमस्कं च शस्यते । शुचिर्धौतोपवानानि निर्बलीनि मृदूनि च । शय्यास्तरणवासांसि रक्षोघ्नैर्धूपितानि च ॥ (अष्टांगसंग्रह) । शयनास्तरणप्रारवणानि कुमारस्य मृदुलुशुचि-सुगन्धीनि स्युः, स्वेदमलजन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वज्यानि स्युः, असति संभवेऽप्यन्येषां तान्येव च सुप्रक्षालितोपधानानि सुधूपितानि शुद्धशुष्काण्युपयोगं गच्छेयुः । धूपनानि पुनर्वासांसा

शयनास्तरणप्रावरणानां च यवसर्पपातसीहिङ्गुगुग्गुलुवचाचोरक-
वयःस्यागोलोमीजटिलापलङ्कपाशोकोहिणीसर्पनिर्मोकाणि घृतयुक्ता-
नि स्युः । (चरक) । चरक का कथन है कि जो वस्त्र
मल-मूत्रादि से दूषित हो जाते हैं, उनको वर्जित करना
चाहिए। यदि यह न हो सके तो उनको अच्छी तरह धोकर
और सुखाकर तथा धूपित करके काम में लाना चाहिए।

ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ
स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्र-
नाम वा ॥२४॥

(नामकरणविधि—) तदनन्तर दसवें दिन माता-पिता
मङ्गलोत्सव किये हुए पुण्याहवाचन करके अपने को अभीष्ट
अथवा नक्षत्र नाम रखें ॥२४॥

वक्तव्य—दशमेऽहनि—प्रसूता के लिए दस रोज तक
अशौच रहता है, इसलिए 'ग्यारहवें दिन' ऐसा इसका अर्थ
करना चाहिए। चरकसंहिता में 'दशमे त्वहनि' पाद के
बदले 'दशम्यां निश्यतीतावाम्' ऐसा भी पाठभेद मिलता
है। यह नामकरणविधि दसवें, या बारहवें दिन में और
उन दिनों में न हो सकी तो आगे शुभ मुहूर्त पर किसी
दिन की जाती है—नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य
कारयेत् । पुण्ये तथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ (मनु-
स्मृति २-३०) । इस श्लोक की टीका में कुल्लूक भट्ट लिखते
हैं—अथवा 'आशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति
शङ्खवचनाद् दशमेऽहन्यतीते एकादशाहे इति व्याख्येयम् ॥
प्रसूति के बाद माने गये इस अशौच को जननाशौच
या सूतक कहते हैं। यह अशौच प्रसवशोणित स्त्राव
के लिए रक्खा गया है जैसे आर्तवस्त्राव के लिए अशौच
होता है उसी प्रकार का यह अशौच है और जैसे आर्तव-
शोणितस्त्राव की औसत अवधि तीन दिन की होने से उसका
अशौच तीन दिन माना जाता है, वैसे ही प्रसवशोणितस्त्राव
की औसत अवधि दस रोज की होती है, इसलिए जनना-
शौच दस रोज का माना जाता है—पित्रोस्तु सूतकं मातु-
स्तदस्यदर्शनाद् ध्रुवम् । (याज्ञवल्क्यस्मृति ३-१९) । इस पर
विज्ञानेश्वर लिखते हैं—सूतकं जनननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमा-
शौचं पित्रोर्मातापित्रोरेव न सर्वेषां सपिण्डानाम् । तच्चास्पृश्यत्वं
मातुर्ध्रुवं दशाहपर्यन्तं स्थिरमित्यर्थः । कुतः । तदस्यदर्शनात् ।
तस्याः संवधित्वेनास्योर्दर्शनात् । अतएव वसिष्ठः—नाशौचं
विद्यते पुंसः संसर्गं चेन्न गच्छति । रजस्तत्राशुचि ज्ञेयं तच्च पुंसि
न विद्यते ॥ जेलेट अपनी पुस्तक में लिखते हैं—These
figures show an average duration (of lochia)
of 8½ days. *Manual of Midwifery*. अशौच मानने
की कारणपरंपरा इस प्रकार की है—जैसे, आर्तवशोणित
से शरीर शुद्ध होता है (३ अध्याय के ९ सूत्र के वक्तव्य
को देखो), इसलिए वह शोणित अशुद्ध रहता है और
उससे युक्त स्त्री अस्पृश्य मानी जाती है, वैसे ही प्रसव-
शोणित से योनिगर्भाशय की शुद्धि (Cleansing) होती
है, इसलिए वह शोणित अशुद्ध रहता है और उससे युक्त
स्त्री अस्पृश्य मानी जाती है। डा० निकोलस लिखते हैं—

A cleansing discharge, called lochia, is kept up
for ten or twelve days after delivery in the
common practice. *Esoteric Anthropology*. इसकी
औसत अवधि नौ या दस दिन की है, अर्थात् कुछ स्त्रियों
में यह स्त्राव अधिक दिनों तक जारी रहता है। यदि प्रसव-
शोणित स्त्राव पर अशौच के दिन निश्चित किये जायेंगे तो
प्रत्येक स्त्री में जननाशौच की अवधि भिन्न भिन्न होगी
और व्यवहार में अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होगा। अतः
व्यवहार के लिए दस दिन का अशौच औसत स्त्राव दिनों
पर निश्चित किया गया है, जैसे आर्तव का तीन दिनों का
अशौच औसत स्त्राव दिनों पर निश्चित किया गया है—
माता शुष्मेदशाहेनेत्येतच्च संव्यवहारयोग्यतामात्रम् (विज्ञानेश्वर) ।
कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा—कौतुक का अर्थ उत्सव
है। चरकसंहिता में इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया
गया है—दशमे त्वहनि सपुत्रा स्त्री सर्वगन्धौषधैर्गौरसर्पपलोप्रेक्ष्य
स्नाता लघ्वहतशुचिवस्त्रं परिधाय पवित्रेष्टलघुविचित्रभूषणवती च
संस्पृश्य मङ्गलान्युचितामर्चयित्वा च देवतां शिखिनः शुक्लवासोऽ-
व्यङ्गांश्च ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा कुमारमहतानां च वाससां
संचये प्राक्षिरसमुदक्षिरसं वा संवेद्य देवतापूर्वं द्विजातिभ्यः
प्रणमति ॥ नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रं वा—दो नाम रखे
जाते हैं, एक अपनी इच्छा के अनुसार और दूसरा नाक्षत्रिक
याने जिस नक्षत्र पर बालक का जन्म होता है, उस
नक्षत्र की जो देवता होती है उसका नाम। नामकरण के
कई नियम होते हैं—जैसे प्रारंभ में अमुक अक्षर, मध्य में
अमुक, अन्त में अमुक अक्षर होने चाहिए। पुरुषों के नाम
दो या चार अक्षर के, स्त्री के तीन अक्षर के, ब्राह्मण हो तो
शर्म, क्षत्रिय हो तो वर्म इत्यादि—घोषवदाद्यन्तरस्यमभिनि-
ष्ठानान्तं बक्षरं चतुरक्षरं वा। युग्मानि त्वेवं पुंसाम्। आयुजानि
स्त्रीणाम् । (आश्वलायन गृह्यसूत्र) । मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य
स्यालक्षत्रियस्य बलान्वितम् । वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगु-
प्सितम् ॥ शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राशो रक्षसमन्वितम् । वैश्यस्य
पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ स्त्रीणां सुखोद्यमकरं विस्पृष्टार्थं
मनोहरम् । मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादिमिधानवत् ॥ (मनुस्मृति
२-३१-३३) । शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम् । गुप्त-
दासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥ (विष्णुपुराण) ।

ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्य-
मवयस्कामरोगां शीलवतीमचपलामलोलुपाकृ-
शामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलम्बौष्ठीमलम्बोर्ध्वस्तनी-
मव्यङ्गामव्यसनिनीं जीवद्वत्सां दोग्ध्रीं वत्सलामशु-
द्रकर्मिणीं कुले जातामतो भूयिष्ठैश्च गुणैरन्वितां
श्यामामारोग्यबलवृद्धये बालस्य ॥२५॥

(धात्री के गुण—) तदनन्तर वर्णानुसार मध्यम-
शरीर की, मध्यम आयु की, नीरोग, सुशील, शान्तस्वभाव
की, जो लोभी न हो, जो न पतली हो न मोटी हो, जिसका
दूध प्रसन्न हो, जिसके होठ लम्बे न हों, जिसके स्तन
न बहुत लम्बे हों न छोटे (पीन) हों, अव्यंग, व्यसनों से
विरहित, जिसके अपत्य जिन्दे हों, बहुत दूध वाली,

प्यार करने वाली, नीच कर्म न करने वाली, उत्तम कुल में पैदा हुई, इसलिए अनेक उत्तम गुणों से युक्त तथा श्यामा धात्री को बालक के आरोग्य और बल की वृद्धि के लिए नियुक्त करे ॥२५॥

वक्तव्य—यथावर्णम्—ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण जाति की, क्षत्रिय के लिए क्षत्रिय जाति की इत्यादि । मध्यमप्रमाणा—जिसके शरीर में किसी बात की अधिकता या अल्पता न होकर मध्यमता हो । इसका संबंध अधिकतर शरीर के जो आठ दोष चरकसंहिता में बताये गये हैं, उनसे है—अतिदीर्घश्चातिह्रस्वश्चातिलोमा चालोमा चातिकृष्णश्चातिगौरश्चातिस्थूलश्चातिकृशश्चेति । (सूत्र, अष्टौनिन्दितीयाध्याय) । ये दोष जिसके शरीर में न हों, ऐसी । मध्यमवयस्का—जो न तरुणी हो, न वृद्धा हो । इसके संबंध में दाहवाही कहते हैं—तरुणी स्यादवत्सला । कुशं न सहते वृद्धा स्तन्यं चास्या न पुष्टिदत् ॥ अलोलुपा—लोलुप का अर्थ यद्यपि लोभी होता है तथापि यहाँ पर उसका संबंध अधिकतर खाद्य पेयों के साथ समझना चाहिए । जो धात्री खाद्य पेयों में लोभी होगी उससे विषमाशन, अध्यशन, समशन तथा बालक के लिए अपथ्य द्रव्यों का सेवन इत्यादि आहारदोष होंगे और उसका दूध खराब होगा । इसलिए धात्री खाद्य-पेय द्रव्यों में लोभ करने वाली न होनी चाहिए । दोग्ध्री—बहुक्षीरा । श्यामा—श्यामा हि प्रायशः प्रचुरक्षीरा भवति । (डल्हण) । श्यामा के लक्षण—शीतकाले भवेदुष्णं ग्रीष्मे च सुखशीतला । तप्तकांचनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कीर्तिता ॥

जीवद्रव्या—जिस स्त्री को बच्चे होकर मरते हैं उस स्त्री को कोई माता अपने बालक को धात्री रखने के लिए तैयार नहीं होगी । माता की दृष्टि से यह भावना का प्रश्न होता है । वैद्य की दृष्टि से भी मृतवत्सा धात्री योग्य नहीं होती क्योंकि बालक की मृत्यु का कारण उसका या उसके दूध का दोष हो सकता है, जो दोष इस नये बच्चे को भी दूषित कर सकता है । माता के दूध का संगठन बालक की आयुवृद्धि के साथ बदलता है, इसलिए जीवद्रव्या धात्री के बालक की उम्र करीब उतनी ही होनी चाहिए, जितनी कि धात्री रखने वाले बालक की होती है । इन गुणों के अतिरिक्त चरक में निम्न गुण अधिक मिलते हैं । देशजातीया—बालक तथा उसके माता-पिता जिस देश के निवासी हों, उसी देश में रहने वाली । देशभिन्नता का परिणाम रहन-सहन और आहार पर होता है । जो आहार धात्री के लिए साम्य होता है, वह बालक के लिए साम्य नहीं होता । इससे बालक को तकलीफ होने की संभावना होती है । इसलिए समानदेशजा धात्री होनी चाहिए । कुशलोपचारा—उपचारज्ञा । बालक की परिचर्या करने में कुशल । धात्री बालक की परिचारिका भी होती है । बालक रुग्ण होने पर खान-पानादि का प्रबंध उसी को करना पड़ता है । इसलिए उसमें परिचारिका गुण जो उपचारज्ञता, वह भी होना चाहिए—उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तारि । शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने ॥ (चरक, सू० ९) । अजुगुप्सिता—बालक का

स्वभाव चिड़चिड़ा हो सकता है, स्वरूप विकृत हो सकता है, स्वास्थ्य हमेशा खराब हो सकता है, अतीसार प्रवाहिकादि विकार हो सकते हैं, ये सब कुछ होते हुए भी जिसको बालक के संबंध में घृणा पैदा नहीं होती, ऐसी । शुचि, अशुचिद्वेषिणी—ये दोनों गुण यद्यपि एक से मालूम पड़ते हैं तथापि एक नहीं हैं । बहुतेरे नौकर जहाँ पर काम करते हैं, वहाँ पर घर की परिस्थिति और सूचनाओं के अनुसार सफाई का ध्यान रखते हैं, परंतु जब घर के बाहर जाते हैं तब सफाई के ख्याल को भूल जाते हैं और अपने गन्दे दोस्तों के साथ मिलते हैं । इसलिए धात्री में स्वयं स्वच्छ रहने का और अस्वच्छता से दूर रहने का गुण होना चाहिए । स्तनसम्पदुपेता—तत्रैवं स्तनसम्पत्-नात्पूध्वं नातिलम्बा-वनतिकृशावनतिपीनौ युक्तपिप्पलकौ सुखप्रपानौ चेति । (चरक) । युक्तपिप्पलकौ—युक्तचूतुकौ । 'With well shaped nipples.' सुखप्रपानौ—जिनको पीने में बालक को आसानी हो । वाग्भटाचार्य इन गुणों के अलावा निम्न गुण अधिक बताते हैं—ब्रह्मचारिणी—निषिद्धपुंसयोगा । (इन्दु) वर्जितमैथुना । (अरुणदत्त) । इस शब्द से कई अर्थ निकल आते हैं । धात्री शीलवती, अचपला, कुलेजाता इत्यादि गुणसंपन्न होती है, अर्थात् वह अधार्मिक मैथुन नहीं कर सकती तथा करने वाली हो तो उपर्युक्त गुणों से युक्त भी नहीं मानी जाती है । ऐसी अवस्था में जब इसके लिए मैथुन या पुरुष-समागम वर्ज्य किया गया है, तब यह समझ सकते हैं कि वह विवाहित और जीवद्भर्तृका स्त्री भी होनी चाहिए । ऐसी स्त्री अगर उसको पुरुषसमागम के बारे में कुछ भी न बताया जाय तो समागम कर सकती है । पुरुषसमागम करने से उसके गर्भवती होने की संभावना होती है और गर्भवती स्त्री का दूध बालक के लिए विकारी होता है । इसलिए मैथुन का निषेध जब तक स्त्री बालक को पिलाती है, तब तक आवश्यक है । धात्री गर्भवती होने पर उसको छोड़ सकते हैं, परंतु दूसरी धात्री रखने में कठिनाई होती है और दूसरी धात्री का दूध बालक के लिए कुछ काल तक असाम्य होने के कारण उसी से भी बालक बीमार पड़ सकता है । इसलिए दूध पिलाने के समय में धात्री को ब्रह्मचर्य व्रत से रहना नितान्त आवश्यक है । धात्री की आवश्यकता—प्रत्येक प्रसूता के लिए या प्रत्येक बालक के लिए धात्री की आवश्यकता नहीं होती । माता के समान बालक को निरपेक्ष प्यार करने वाला, बालक की रक्षा की चिन्ता करने वाला, बालक का पोषण करने वाला संसार में दूसरा कोई मनुष्य नहीं होता है क्योंकि बालक गर्भावस्था में माता के खून से पुष्ट होता है और जन्म के पश्चात् खून से पैदा हुए दूध से पुष्ट होता है—अंगप्रत्यंगजः पुत्रो हृदयाच्चाभि-जायते । तस्मात् प्रियतरो मातुः प्रिया एव तु बान्धवाः ॥ (रामायण २-७४) । नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः । नास्ति मातृसमं व्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया ॥ मातृलभे सनाथत्वमनाथत्वं विपर्यये । समर्थे वाऽसमर्थे वा कुशं बालकृशं तथा । रक्षलेव भुतं माता नान्यः पोष्टा विधानतः ॥ (महाभारत, शान्तिपर्व २६६) । कुपुत्रो जायेत कचिदपि कुमाता न भवति ।

(शंकराचार्य)। यह वर्णन काव्य या पुराण नहीं है, वस्तुस्थिति ही ऐसी है। जन्म के पश्चात् बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वोत्तम खाद्य दूध है और वह भी माता का दूध है, इस बात का स्पष्ट निर्देश आयुर्वेदने अत्यंत प्राचीन काल में किया है—मातुरेव पिवेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये। (अष्टांगहृदय)। पाश्चात्य देशों में माता के दूध का महत्त्व अब मालूम होने लगा है—Breast feeding by the mother—This is the natural method of feeding an infant. *Jellet's Midwifery*. जो बालक माता के दूध पर बढ़ते हैं, उनका स्वास्थ्य औरों की अपेक्षा बहुत अच्छा होता है। इसलिए प्रत्येक स्त्री का यह कर्तव्य तथा धर्म है कि वह अपने बालक को स्तनों का दूध पिलावे। इसमें उसका भी फायदा होता है क्योंकि बालक के स्तनपान से गर्भाशय पूर्वावस्था को प्राप्त होने में सहायता होती है (१४वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। डा० निकोलस कहते हैं कि यदि माता दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति में हो तो उसको बच्चे को दूध पिलाना चाहिए; और यदि वह दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति में न हो तो वह प्रजोत्पादन करने योग्य नहीं है—Every mother ought to nurse her own child, if she is fit to do it, and no woman is fit to have a child who is not fit to nurse it. *Esoteric Anthropology*. परंतु कई बार ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं या खड़ी की जाती हैं कि बालक को माता का दूध नहीं मिल सकता। ये अवस्थाएँ निम्न हैं—(१) माता की मृत्यु—कई बार प्रसूति ज्वर से माता की मृत्यु बालक के जन्म के कुछ दिनों के पश्चात् होती है। जन्म होते ही माता की मृत्यु होने से बालक के पालन-पोषण में औरों को बड़ी कठिनाई होती है और बालक को भी अनेक यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। इसलिए बचपन में माता की मृत्यु होना बालक के पूर्वपाप का निदर्शन माना जाता है—बालवं च मृता माता, वृद्धवं च मृताः मृताः। यौवनं च मृता भार्या पातकं किमतः परम् ॥ (सुभाषित)। (२) माता का अस्वास्थ्य—प्रसव के पूर्व या पश्चात् अधिक रक्तस्राव से या अन्य कारण से उत्पन्न हुआ दौर्बल्य, अपची, राजयक्ष्मा, वृक्करोग, हृद्रोग, पागलपन (उन्माद) इत्यादि रोगों से माता पीड़ित हो तो बालक को दूध न पिलाना चाहिए। (३) स्तनस्तन्यदोष—स्तनप्रकोप, स्तनविद्रधि, स्तन्य की खराबी ये दोष होने पर बालक को दूध न पिलाना ही प्रशस्त होता है। कई बार ऐसा देखा जाता है कि जन्म के समय बालक स्वस्थ होने पर भी माता का दूध खराब होने के कारण बालक खराब होता जाता है और खराब हालत में अन्य रोगों का शिकार बनकर उसकी मृत्यु हो जाती है। ऐसी अवस्था में जन्म से माता का दूध बालक को न देना अच्छा है। (४) पाश्चात्यों का अन्धानुकरण—पाश्चात्य देशों में एक समय ऐसा था कि बालक को पिलाना असम्भ्यता मानी जाती थी और कृत्रिम दूध बनाकर उसके ऊपर बालक की परवरिश करना विज्ञान की करामात और मनुष्यजाति की सम्भ्यता

मानी जाती थी। हमारे देश में भी पाश्चात्य ढंग पर लिखे पढ़े पुरुष पाश्चात्य प्रत्ययनेयबुद्धि होकर इस पद्धति की प्रशंसा करने लगे और स्त्रियाँ इसका अनुकरण करने लगीं। इस रिवाज के ऊपर—‘टेन टीचर की प्रसूतितन्त्र की पुस्तक’ में बड़ी मार्मिक टीका की गई है—It is a curious commentary on the triumph of science in making possible the rearing of infants on a substitute for their natural food that bottle-feeding should have become so general as almost to be taken for granted among certain sections of the community. As soon, however, as the problem is approached from the point of view of the nation as a whole and the effects studied over large numbers, the evils of substitute feeding become clear, and it is a question whether even the triumphs of science will enable a race to survive in the struggle for existence if it depends for the rearing of its young on the milk of another animal. *Ten Teacher's Midwifery*. (५) राजघराने और अमीरी खानदान—यहाँ की स्त्रियाँ प्रायः बच्चों को दूध नहीं पिलाती हैं। यह रिवाज बड़प्पन के कारण जारी हुआ होगा। (६) स्तनों का स्वास्थ्य—इसमें संदेह नहीं है कि बच्चे को पिलाने से स्तन छोटे, पिलपिले, शिथिल, मुझाये हुए हो जाते हैं और स्तनत्याग करने के पश्चात् स्तनों को अपनी पूर्वस्थिति प्राप्त होने के लिए कुछ काल लगता है। अर्थात् साल भर के लिए उत्पन्न होने वाली स्तनों की यह स्थिति कुछ जवान स्त्रियों को अखरती है। इसलिए वे बच्चों को दूध पिलाना पसन्द नहीं करतीं।

बालक को मृतता का स्तनपान न मिलने के ये छः कारण हैं। इनमें से प्रथम तीन कारण आवश्यक और अनैच्छिक हैं और द्वितीय तीन कारण ऐच्छिक और अस्वाभाविक हैं। कुछ भी हो और विज्ञान की उन्नति कितनी भी क्यों न हो, मनुष्य अपनी विशेषता रखता है; इसलिए मातृस्तन्य-त्याग के ये छः कारण हमेशा उपस्थित रहेंगे। ऐसी अवस्था में बालक के पोषण का स्वतन्त्र प्रबंध करना पड़ता है। यह प्रबंध दो तरह से किया जाता है—धात्री द्वारा और गव्यादि दुग्ध द्वारा। ये दोनों उपाय प्राचीन हैं—मातुरेव पिवेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये। स्तन्यधात्र्यावुमे कार्ये तदसंपदि वत्सले। स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तदगुणं पिवेत् ॥ (अष्टांगहृदय)। आधुनिक काल में भी ये दोनों प्रबन्ध प्रचलित हैं।

धात्री—बालक को दूध पिलाने के लिए तथा उसकी देखभाल और सेवा-शुश्रूषा के लिए जो स्त्री रक्खी जाती है, वह धात्री कहलाती है। राजवंश में धात्री रखने का रिवाज होता है, इसका उल्लेख पीछे किया गया है। यह रिवाज बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है—उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चांगुलिम् । (रघुवंश ३-२५)। कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः । आनन्दे-

नाग्रजेनैव समं वृद्धिरे पितुः ॥ (रघुवंश १०-७८) । वाग्भटाचार्य इसी को स्तन्यधारी कहते हैं। अंग्रेजी में नर्स (Nurse) और वेदनर्स (Web-nurse) ये दो शब्द प्रचलित हैं। बालक की दृष्टि से इन दो शब्दों के लिए अनुक्रम से धात्री और स्तन्यधारी ये दो शब्द बहुत ही उत्तम पर्याय हैं। धात्री बालक को जन्म नहीं देती, परंतु जन्म के पश्चात् माता के समान उसका पालन-पोषण अपने स्तन्य से करती है, इसलिए वह उपमाता (Foster-mother) भी कहलाती है। वाग्भटाचार्य बालक के लिए दो धात्री तैनात करने के लिए लिखते हैं। यह सूचना बहुत ही अच्छी है (३०वें सूत्र का वक्तव्य देखो) । अगर एकाध रोज धात्री बीमार हो जाय या आगन्तु कारण से उसको कहीं जाना आवश्यक हो जाय तो जहाँ पर एक ही धात्री है वहाँ पर बालक को तकलीफ होगी; दो होने से किसी प्रकार की तकलीफ नहीं हो सकती, जैसे जहाँ पर रेल की डबल लाइन होती है वहाँ पर एक लाइन खराब होने से आने जाने में रुकावट नहीं होती या गाड़ी को दो एन्जीन होने पर एक एन्जीन खराब होने से गाड़ी बंद नहीं होती। माता के दूध के अभाव में एवं गुणविशिष्ट धात्री का दूध मिल जाय तो वह दूध सोलहों आने माता के दूध का काम कर सकता है। इसलिए बालक की दृष्टि से माता के अभाव में धात्री रखना यही प्रशस्ततर मार्ग है। प्रश्न केवल उपर्युक्त गुण-विशिष्ट धात्री मिलने का है। प्राचीन काल में थोड़े पैसे में उस प्रकार की धात्री मिलना बहुत कठिन नहीं था, इसलिए धात्री रखने का रिवाज अधिक था। आधुनिक काल में इस प्रकार की धात्री अधिक पैसा खर्च करने पर भी मुश्किल से मिल सकती है। इसलिए धात्री रखने का रिवाज इस समय बहुत कम हो गया है। इसका और एक कारण है। प्राचीन काल में कृत्रिम दुग्धपान (Artificial feeding) की जो दूसरी विधि है, उसमें कई कठिनाइयाँ थीं। आधुनिक काल में विज्ञान की सहायता मिलने के कारण कृत्रिम दुग्धपान एक सरल, सस्ती और सब के लिए सुगम विधि हो गई है। इस विधि का विवरण आगे ५१वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

तत्रोर्ध्वस्तनी करालं कुर्यात्, लम्बस्तनी नासिकामुखं हृदादित्वा मरणमापादयेत् ॥२६॥

(स्तनदोष के परिणाम—) इनमें ऊर्ध्वस्तनी (धात्री बालक को) कराल करती है। लम्बस्तनी (धात्री दूध पिलाते समय अपने लंबे स्तनों से बालक के) नाक और मुख को अच्छादित करके मृत्यु उत्पन्न करती है ॥२६॥

वक्तव्य—कराल—विचित्र या भयानक। स्तन ऊँचे होने के कारण दूध पीते समय बालक को ऊँचा देखना पड़ता है। इस अभ्यास से उसकी दृष्टि सदा के लिए वैसी ही हो जाती है। आगे अष्टांगसंग्रह का श्लोक देखो। हाराणचन्द्र कराल से दन्तुर या विकृत दाँतों का समझते हैं—तत्र तासु मध्ये ऊर्ध्वस्तनी करालं स्तनाभ्यां दन्तमूलान्युन्ने-तुमीरणादुन्नतदन्तमिलर्थः। 'करालो दन्तुरे' इत्यमरः ॥ इन दोनों

का परिणाम अष्टांगसंग्रह में लिखा है—पीनोऽतिकन्धरास्तम्भं कुर्याद्धर्वाक्षिमूर्ध्वगः। उच्छ्वासरोधान् लम्बोऽतिस्तनो जीवित-संशयम् ॥ (उत्तर १) ।

ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरःस्नातमहतवास-समुद्रमुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं प्राङ्मुखीमुपवेश्य दक्षिणं स्तनं धौतमीषत्परिस्तुतमभिमन्त्र्य मन्त्रेणा-नेन पाययेत् ॥२७॥

चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिणः। भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बलवृद्धये ॥२८॥ पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने। दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राद्यामृतं यथा ॥२९॥

(धात्री स्तनपानविधि—) तदनन्तर प्रशस्त तिथि पर धात्री को पूर्वाभिमुख बैठकर शिर के ऊपर से नहलाये हुए और स्वच्छ नये वस्त्र पहनाये हुए बालक को (धात्री की गोद में) उत्तराभिमुख बैठकर धोये हुए (और दबाकर) किंचित् दूध निकाले हुए दक्षिण स्तन को इन मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके पिलावे ॥२७॥ हे सुभगे ! बालक की बलवृद्धि के लिए चारों समुद्र तेरे स्तनों में निरन्तर क्षीरवाहक हों ॥२८॥ हे शुभानने ! जैसे अमृत प्राशन करके देव दीर्घायु को प्राप्त हुए, वैसे ही अमृत रूप तुम्हारे दूध को पीकर बालक दीर्घायु को प्राप्त करे ॥२९॥

वक्तव्य—ततः—उपर्युक्त गुणयुक्त प्राप्त करने के बाद। धात्री—बालक के समान धात्री को भी उस दिन स्नान, शुभ्रवस्त्र परिधान और ऐन्द्रयादि ओषधियों का धारण करना पड़ता है—अथ धात्री स्नातानुलिप्ता नित्यमहत-वासाः सुमनाः प्रजास्थापनौषधीः क्षिरसा विभ्राणा इत्यादि। (अष्टांगसंग्रह)। दक्षिणं स्तनम्—प्रथम दक्षिण स्तन और पश्चात् वाम स्तन पिलावे। धौतम्—दूध पिलाने से पहले स्तन को धोने की पद्धति बहुत अच्छी है। दूध पीने के बाद कुछ दूध चूचुक से बाहर निकलता है और वहीं पर सूख जाता है। कभी कभी वह खराब भी हो सकता है। अगर स्तन न धोये जाय तो पहले का सूखा हुआ या खराब हुआ दूध प्रथम बालक के ख में चला जायगा। इससे बालक को कभी कभी तकलीफ हो सकती है। इसलिए प्रत्येक स्तनपान के पहले स्तनों को धोकर साफ करना प्रशस्त है। ईषत्परिस्तुतम्—स्तनचूचुक में दुग्धहारी नालियों का अन्तिम भाग होता है। चूचुकाम्र खराब होने से वह खराबी कुछ मर्यादा तक भीतर जा सकती है। यदि दबाकर थोड़ा-सा दूध निकाला जाय तो उसी दूध से उन नालियों की सफाई हो जाती है। इसलिए प्रत्येक स्तनपान के समय जरा सा दूध निकालकर पीछे बालक को स्तनपान कराना, यह प्रशस्त नियम है। आगे ३१वें सूत्र में परिस्तुत न करने का फल बताया है।

अतोऽन्यथा नानास्तन्योपयोगस्यासात्स्याद् व्याधिजन्म भवति ॥३०॥

(अनियत धात्रीदोष—) इस प्रकार न किया जाय तो अनेक स्तन्योपयोग के असात्म्य से व्याधि उत्पन्न होती है ॥३०॥

वक्तव्य—अतोऽन्यथा—धात्री न रखके अनेक स्त्रियों के दूध का उपयोग करने से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर कुछ लोगों का यह कथन है कि धात्री हमेशा एक ही होनी चाहिए। चरक, सुश्रुत और अष्टांगसंग्रह में एक ही धात्री के लिए लिखा है। परंतु अष्टांगहृदय में दो धात्री रखने के लिए लिखा है—स्तन्यधात्र्यावुमे कार्ये तदसंपदि वत्सले। अष्टांगहृदय ग्रंथ चरक, सुश्रुत, अष्टांगसंग्रह के पीछे का है, इसमें संदेह नहीं है। इस ग्रंथ में चरक सुश्रुतादि ग्रंथों से कई नई नई बातें मिलती हैं। ये सब बातें वाग्भटाचार्यजी ने बहुत सोच-समझकर लिखी हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। इस ग्रंथ में कोई भी बात आयुर्वेद के तत्त्वों के विरुद्ध नहीं हो सकती। दो धात्रियों का निषेध असात्म्य पर ही किया जा रहा है। कविराज यामिनीभूषणराय अपने कुमारतन्त्र की टिप्पणी में लिखते हैं—धात्र्या अनियतत्वे नानास्तन्यपानेन कुमारस्य व्याधिर्जायते। अष्टांगसंग्रहे तु चरकादिवत् एकैव धात्री उक्ता, हृदये तु 'स्तन्यधात्र्यावुमे कार्ये' इति यत् धात्रीद्वयमुक्तं तदनियत-धात्र्या बह्निष्टकारितामनुभवद्विरस्माभिर्नाद्रियते। इसलिये यहाँ पर सात्म्य का थोड़ा विचार किया जाता है। सात्म्य शब्द की व्याख्या चरक में निम्न प्रकार से की गई है—सात्म्यं नाम तत् यदात्मन्युपशेते। सात्म्यं नाम तत्, यस्तातलेनोपसेवमानमुपशेते। (विमान ८)। संक्षेप में सात्म्य अभ्यास-सात्म्य है। यदि प्रारंभ से ही दो धात्री रखकर प्रतिदिन दोनों का दूध पिलाया जाय तो बालक के लिए दोनों स्तन्य सात्म्य हो जायेंगे। इसमें किसी प्रकार की अनिष्टता मालूम नहीं होती। एक धात्री होने में ही कुछ कठिनता हो सकती है। इसका विवरण पीछे २५वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में किया गया है। इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि बालक के लिए धात्री नियत होना आवश्यक है चाहे एक हो, चाहे दो हों। बीच बीच में धात्री बदलना ठीक नहीं है। इससे बालक में रोग उत्पन्न होने की संभावना होती है क्योंकि प्रत्येक धात्री का दूध कुछ रोज तक असात्म्य रहता है। सात्म्य सेवन एकाएक छोड़ने से और असात्म्यसेवन एकाएक करने से असात्म्यज रोग उत्पन्न होते हैं—असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा लग्नाशीलनात्। (अष्टांगहृदय, सूत्र ३)।

अपरिस्त्रुतेऽप्यतिस्तब्धस्तन्यपूर्णस्तनपानादुत्सु-
हितस्रोतसः शिशोः कासश्वासवमीप्रादुर्भावः ।
तस्मादेवंविधानां स्तन्यं न पाययेत् ॥३१॥

(अपरिस्त्रुत स्तन्यसेवन के दोष—) परिस्त्रुत न करने पर भी देर से इकट्ठा हुए दूध से परिपूर्ण स्तन के पान से स्रोतस के भर जाने के कारण बालक को श्वास, कास और वमन होता है। इसलिये इस प्रकार की धात्रियों का स्तन्य न पिलावे ॥३१॥

वक्तव्य—अपरिस्त्रुते—इसका विवरण पीछे २५वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। उत्सुहितस्रोतसः—ऊर्ध्व-पूरितस्रोतस इत्यर्थः। उत्सुहितस्रोतस इति पाठे तु ऊर्ध्वं स्तुहित-मुद्वीर्णं स्रोतो यस्येति समासः। (डक्कण)। उत्सुहितं परितृप्तं परिपूर्णमित्येतत्। (हाराणचन्द्र) अपि—इससे पीछे के सूत्र के साथ संबंध जोड़ दिया गया है और इस बात पर जोर दिया गया है कि धात्री नियत होने पर स्तनपान कराने से पूर्व परिस्त्रुत न करने पर भी रोगोत्पत्ति होती है। एवंविधानाम्—अनियत धात्रियों का और अपरिस्त्रुत स्तनों का दूध।

क्रोधशोकावात्सल्यादिभिश्च स्त्रियाः स्तन्यनाशो भवति। अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्यमुत्पाद्य यवगोधूमशालिषष्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्या-
कलशुनमत्स्यकशेरुकशृङ्गाटकविसविदारिकन्द-
मधुकशतावरीनलिकालावूकालशाकप्रभृतीनि विद-
ध्यात् ॥३२॥

(स्तन्यनाश के कारण और उसकी चिकित्सा—) क्रोध, शोक, (बालक के प्रति) प्रेम न होना इत्यादि से स्तन्य का नाश होता है। (उपर्युक्त कारणों से स्तन्यनाश हो जाय) तब (उसमें) मन की प्रसन्नता उत्पन्न करके जौ, गेहूँ, साँठी के चावल, मांसरस, सुरा, सौवीर, तिलकल्क, लज्जुन, मछली, कसेरु, सिंघाड़ा, कमलकंद, विदारीकन्द, मुलहटी, शतावरी, नाड़ीशाक, कद्दू, कालशाक इत्यादि का सेवन करावे ॥३२॥

वक्तव्य—स्तन्यनाश—स्तनगत दूध का कम होना या पूर्णतया बंद होना। स्तन्यनाश के मुख्य तीन कारण होते हैं—(१) मानसिक स्थिति—यह कारण सब से महत्त्व का है। मनःस्थिति के दो विभाग कर सकते हैं। प्रथम विभाग वह है, जिसमें विशेष घटनाओं से मन थोड़े काल के लिए अस्वस्थ हो जाता है। जैसे—क्रोध, शोक, भय, विषाद, मात्सर्य, काम, द्वेष इत्यादि; याने घर में किसी की मृत्यु का दृश्य देखकर विषण्ण होना आसेष्ट की मृत्यु की वार्ता सुनकर शोकाकुल होना, भयानक वार्ता सुनकर भयभीत होना इत्यादि। भयादि से युक्त मन की स्थिति प्रायः किसी न किसी बाह्य घटना पर निर्भर होती है और उस घटना के पश्चात् जैसे जैसे काल व्यतीत होता जाता है, वैसे वैसे मनःस्थिति भी धीरे धीरे ठीक हो जाती है। संक्षेप में, प्रथम विभाग अनैच्छिक कारणों का होता है और उससे होने वाला स्तन्यनाश स्थायी नहीं होता। द्वितीय विभाग में बाह्य घटनाओं का कुछ भी संबंध न होकर आन्तरिक भावनाओं और विचारों का संबंध होता है। जैसे, अवात्सल्य, बालक को दूध पिलाने की अनिच्छा या आत्मविश्वास का अभाव, कृत्रिम दुग्धपान और कृत्रिम दुग्धों के फायदों के भड़कदार विज्ञापनों और पुस्तकों को पढ़कर बालसंवर्धन की वही सर्वोत्तम पद्धति है, इस प्रकार की विचारसरणि पक्की

करना, स्तनपान कराना यह एक असम्भ्य जातियों की प्रथा है; ऐसी भावना करना ये सब उदाहरण द्वितीय विभाग में आते हैं। इनका परिणाम मन पर स्थायी होता है क्योंकि अवात्सल्यादि कुछ भावनाएँ स्वाभाविक होती हैं और कुछ लिखने पढ़ने के पश्चात् किये हुए विचार के फल होते हैं। इसलिए इनके कारण जो स्तन्यनाश होता है, वह स्थायी स्वरूप का होता है। इस मानसिक स्थिति के संबंध में टेन टीचर के प्रसूतितन्त्र में बहुत सुन्दर विवरण किया है—In the majority of cases failure to nurse is due to the psychological or nervous factor. Experience has proved that nearly every woman willing to do so can suckle her baby. The least hopeful case is that of the woman with little maternal instinct. They have no desire to make a success of what they regard as a needless tax on their liberty. Her mother tells her she has brought on the bottle, and her friends and relatives have advised this or that patent food; Her nurse has ordered a full bottle-feeding equipment in anticipation of the expected, and the moment the birth of her baby is announced she is flooded at every post with samples and advertisements from the patent food-mongers in which she reads such glowing accounts of how babies' lives have been saved by this substitute and that substitute, that it is not remarkable she should accept it as almost inevitable that her child should be reared artificially. Want of Confidence in her own powers is a poor attitude of mind in which to start nursing. वत्सलता, प्रेम इत्यादि से स्तनों में दूध कैसे उत्पन्न होता है? इस विषय का विवरण निदानस्थान के दसवें अध्याय के २१वें सूत्र में तथा उसके वक्तव्य (पृष्ठ ३७५) में किया गया है। (२) शारीरिक स्थिति—इसका और स्तन्य का बहुत कम संबंध है। देखने में कमजोर स्त्रियाँ मन में वत्सलता होने के कारण अपने बालक को भली भाँति दूध पिला सकती हैं। कई बार राजयक्ष्मा से पीड़ित स्त्रियों में भी काफी दूध निकलता है और स्वास्थ्य की दृष्टि से उनको बच्चे को पिलाना मना करना पड़ता है। दूसरी ओर देखा जाय तो कई मोटी मोटी तन्दुरुस्त स्त्रियाँ मन में प्रेम न होने के कारण या आधुनिक विचारों से परिपूर्ण हो जाने के कारण दुग्धहीन होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मानसिक स्थिति के मुकाबले शारीरिक स्थिति का परिणाम स्तन्य पर बहुत कम हुआ करता है। परंतु साधारणतया यह कह सकते हैं कि स्वास्थ्य खराब होने पर स्तन्य भी कम हो सकता है। (३) आहार—स्तन्य का उपादान कारण आहार है, शरीर और मन सहायक कारण है—रसप्रसादो मधुरः पकाहारनिमित्तजः । कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्य स्तन्य इत्यभिधीयते ॥

(निदान १०) । आहार अपर्याप्त और अनुचित होने से स्तन्य ठीक ठीक उत्पन्न नहीं हो सकता। स्तन्य में पानी की राशि बहुत होती है, इसलिए आहार में तथा उसके अलावा जल की राशि कम होने से दूध भी कम हो जाता है। इन तीन प्रधान कारणों के अलावा स्तन्याल्पता के निम्न और दो कारण हो सकते हैं—(४) स्तनों की विकृति, जैसे स्तनप्रकोप, स्तनविद्रधि, च्युतुक प्रकोप इत्यादि। (५) स्तन चूषण में कमजोरी—आयुर्वेद में शुक्र के साथ स्तन्य की तुलना की जाती है (निदान १०, १९-२३) । कई बातों में यह तुलना बहुत उचित भी है। शुक्र का उत्तम प्रवर्तक जवान स्त्री का संग होता है—प्रवर्तनी स्त्री शुक्रस्य । (शार्ङ्गधर) । वाजीकरणमध्यं च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी । (चरक) । स्तन्य का उत्तम प्रवर्तक स्वस्थ सबल बालक का स्तनपान होता है। जब बालक कमजोर होता है या जुकाम, विदीर्णतालु (Cleft palate) इत्यादि से पीड़ित रहता है, तब वह जोर से स्तनपान नहीं कर सकता। अगर यह कमजोरी शुरू से ही रही तो उसका परिणाम स्तन्याल्पता में होता है। अष्टांगसंग्रह में स्तन्यनाश के निम्न कारण बताये हैं—रूक्षान्नपानकशर्शनक्रोध-शोककामादिभिः स्तन्यनाशः ।

स्तन्यनाश की चिकित्सा—निदानपरिवर्जन यह चिकित्सा का प्रधान सूत्र है। यहाँ पर संहिता में जिस परम्परा में स्तन्यनाश का विचार प्रस्तुत हुआ है, उसको देखकर यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा कि माता और बालक दोनों के स्वस्थ होते हुए स्तन्य नाश क्यों होता है और उसकी चिकित्सा कैसी करनी चाहिए, इसका ही विवरण अभिप्रेत है। इस दृष्टि से दूसरे, चौथे और पाँचवें कारणों का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। और यदि विचार भी किया जाय तो उसका समावेश स्तन्यनाशचिकित्सा में न होकर स्वतन्त्ररोगचिकित्सा में होगा। अतः स्तन्यनाश-चिकित्सा की दृष्टि से विचार करने योग्य केवल दो ही कारण रहे, प्रथम और तृतीय; और चिकित्सा में भी इन्हीं का ही परामर्श लिया गया है। सौमनस्यमुत्पाद—इसमें प्रथम कारण का विचार किया गया है। सौमनस्य की उत्पत्ति करने में क्रोध-शोकादि भावों को दूर करना, बालक के प्रति प्रेम ममत्व उत्पन्न करना, कृत्रिम दुग्धपान बालक के लिए हानिकर होता है, माता का स्तनपान यही बालक की वृद्धि का स्वाभाविक, सरल, सस्ता और सर्वोत्तम उपाय है, और अगर स्त्री दिल से चाहे तो बालक के लिए जितना आवश्यक होता है उतना दूध स्तनों में आप से आप उत्पन्न होता है इस बात का आत्मविश्वास स्त्री के मन में उत्पन्न करना इत्यादि विषयों का समावेश होता है। प्राचीन काल की धार्मिक कल्पनाओं के अनुसार स्त्रियाँ गर्भधारण और स्तनपान से बालक पोषण अपना कर्तव्य समझती थीं (प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः । मनु ९-९६), तथा कृत्रिम दुग्धपान और कृत्रिम दूध इनका प्रोपेगंडा (प्रचार) करने वाले फुडमोंगर (उत्पादक) भी नहीं थे, जिसके कारण उपर्युक्त प्रकार का उपदेश करने का कारण प्राचीन

काल में नहीं था। परंतु काल-परिवर्तन के साथ स्त्रियों में कृत्रिम दुग्धपान के संबंध में जो विचार रूढ़ हो गये हैं, उनको दूर करने का प्रयत्न सौमनस्य उत्पादन में ही आ जाता है। (२) आहार—इसके दो विभाग हैं। प्रथम विभाग में भोजन का विचार होता है। जैसे, अपतर्पण, लंघन, कर्शन ये शरीरक्षीणकर भोजन छोड़कर जौ, गेहूँ, चावल, दूध, मांसरस, मछली, विविध शाक, पर्याप्त जल, मधुराम्ल लवणभूयिष्ठ खाद्य पदार्थ इत्यादि से युक्त शरीर को बृंहण करने वाले भोजन (पीछे १७वें सूत्र के वक्तव्य में प्रसूता का आहार देखो) का सेवन—क्षीरजननानि तु मद्यानि सीधुवर्ज्यानि, ग्राम्यान्पौदकानि च शाकधान्यमांसानि, द्रवमधुराम्ललवणभूयिष्ठाश्वाहाराः क्षीरपानमनायासश्च । (चरक) । शोथनाद्वा स्वभावाद्वा यस्याः क्षीरं विशुष्यति । तस्याः क्षीरप्रजनने प्रयतेत विचक्षणः ॥ मधुराण्यन्नपानानि द्रावाणि लवणानि च । मद्यानि सीधुवर्ज्यानि शाकं सिद्धार्थकादृते ॥ वराहमहिषादूर्ध्व मांसानां च रसो हितः । लघुनानां पलाण्डूनां सेवनं शयनं सुखम् । (क्रोधाध्व)भयशोकानामायासानां च वर्जनम् ॥ (काश्यप-संहिता, क्षीरोत्पत्त्यध्यायः) । दूसरे विभाग में क्षीरजनक (Galactogogues) ओषधियों का विचार आता है। जैसे, सिंवाड़ा, विदारीकन्द, शतावरी, तुणपंचमूल, कार्पासमूल, भूमिकूष्माण्ड इत्यादि का सेवन—क्षीरिण्यक्षोषधयः, वीरण-पट्टिशालिकेक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्देक्षटमूलकषायाणां च पानम् । (चरक) । भूमिकूष्माण्डमूलस्य क्षीरपिष्टस्य या रसम् । पिबेत्त-शर्करं तस्याः क्षीरं बहु विवर्धते ॥ शतावरीक्षीरपिष्टा पीता स्तन्य-विवर्धनी । वनकार्पासकेक्षूणां मूलं सौवीरकेण वा । विदारिकन्दं सुरया पिबेद्वा स्तन्यवर्धनम् । (योगरत्नाकर) । संक्षेप में स्वस्थ प्रसूता में क्षीराल्पता हो तो सौमनस्य उत्पन्न करना और यथेष्ट बृंहण आहार देना ये ही दो मुख्य उपाय हैं—
The usual methods of augmenting the supply (of milk) are attention to diet and sometimes 'over-feeding', the administration of large quantities of fluid, small quantities of alcohol, and massage of breasts. स्तनों की मालिश सूतिका के अभ्यंग के साथ की जाती है। पीछे १७वें सूत्र के वक्तव्य में सूतिका की परिचर्या जो बताई गई है, उसके अनुसार भी व्यवहार करना चाहिए। इससे दूध न बढ़े तो स्तन्य-जनक ओषधियों का उपयोग कर सकते हैं। जब प्रसूता में या उसके स्तनों में या बालक में कोई बीमारी हो जाती है, तब उसकी चिकित्सा भी करनी चाहिए।

अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत, तच्चेच्छीतलम-मलं तनु शङ्कावभासमप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छ-त्यफेनिलमतन्तुमन्नोत्प्लवतेऽवसीदति वा तच्छु-द्धमिति विद्यात्, तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो बलवृद्धिश्च भवति ॥३३॥

(शुद्ध स्तन्य की परीक्षा—) उसके दूध की परीक्षा जल में करे। यदि वह ठंडा, निर्मल, पतला, शङ्का के समान (श्वेत) वर्ण का हो, जल में डालने पर एक हो जाय,

फेनविरहित, तन्तुविरहित हो, (जल में) न तैरता हो या न डूबता हो तो उसको शुद्ध समझना चाहिए। इस (प्रकार के शुद्ध दूध) से बालक का आरोग्य, शरीर की बढ़ौती और बल की वृद्धि होती है ॥३२॥

वक्तव्य—इस सूत्र में विशुद्ध स्तन्य की बढ़ी सरल, परीक्षणविधि बतलाई गई है। विशुद्ध और खराब दूध की परीक्षणविधि और लक्षण पहले भी निम्न प्रकार से बताये गये हैं—यत् क्षीरमुदके क्षिप्तमेकी भवति पाण्डुरम् । मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तद्विनिर्दिशेत् ॥ (निदान ११) । अनिष्टगन्धमलं च विवर्णं विरसं च यत् । वर्ज्यं सलवणं क्षीरं यच्च विप्रथितं भवेत् ॥ (सूत्र ४५) । विशुद्ध दूध की प्रतिक्रिया किंचित् क्षारीय, वर्ण किंचित् पीला, गुरुता १०१०-१०४०, स्वाद मीठा होता है और उसमें किसी तरह की गन्ध नहीं होती। दूध की खराबी प्रायः जीवाणुओं के कारण होती है। ये जीवाणु दूध में विविध अम्ल उत्पन्न करते हैं, जिनकी उपस्थिति से दूध की प्रतिक्रिया अम्ल होकर वह विप्रथित हो (फट) जाता है। उसमें खट्टापन पैदा होता है और खट्टी बू भी आती है। एकीभावं गच्छति—अगर दूध विशुद्ध हो तो पानी के साथ मिलाने पर पानी दूध में और दूध पानी में इस तरह बेमालूम मिल जाता है कि मिश्रण में कहीं दूध अधिक और कहीं पानी अधिक इस प्रकार का वैषम्य नहीं मिल सकता। खराब दूध पानी के साथ मिलाने पर उसका तलछट बन जाता है। इसका कारण यह है कि विशुद्ध दूध स्निग्ध पदार्थों का एक ऐसा स्वाभाविक घोल (Natural emulsion of fats) है कि उसमें प्रोटीन, लवण, शर्करा आदि द्रव्य एकता से (Uniformly) फैले हुए रहते हैं और यह एकता पानी में मिलाने पर भी नष्ट नहीं होती। खराब दूध में अन्तर्गत द्रव्यों की एकता नष्ट होती है और पानी में मिलाने पर यह भेद और भी स्पष्ट हो जाता है। नोत्प्लवते न सीदति—दूध की गुरुता पानी से अधिक है। परंतु यहाँ पर उत्प्लवन या अवसाद से गुरुता का कोई संबंध नहीं है। जब तक दूध प्राकृतिक अवस्था में होता है, तब तक पानी में मिलाया हुआ दूध इस प्रकार मिश्रित होता है कि इसके स्वरूप में कोई फर्क नहीं पड़ता, केवल इसको अधिक पानी का दूध कह सकते हैं। अर्थात् वह न ऊपर तैरता है, न नीचे बैठता है। दूध विकृत होने पर उसका कुछ अंश तली में बैठता है और कुछ ऊपर तैरता है। संक्षेप में, यह शब्दप्रयोग 'एकीभावं गच्छति' इसके अर्थ को निम्न प्रकार से प्रदर्शित करता है। तेन कुमारस्या-रोग्यमित्यादि—बालक का स्वास्थ्य, शरीर की बढ़ौती और बलवृद्धि खराब दूध से कदापि नहीं हो सकती; इसमें कोई संदेह नहीं है। शुद्ध दूध से ही ये कार्य हो सकते हैं; इसमें भी संदेह नहीं होता। परंतु शुद्ध दूध से ये कार्य होने चाहिए, यह कोई आवश्यक नहीं है। दूध के भीतर कई सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं, जिनका ज्ञान इस प्रकार के भौतिक या आधुनिक रासायनिक परीक्षणों द्वारा नहीं लगता और परीक्षण करने पर विशुद्ध मालूम हुए दूध के सेवन से बालक का स्वास्थ्य और वर्धन ठीक नहीं होता। स्वास्थ्य

और वर्धन साम्य द्रव्यों के सेवन से होता है । एक विशुद्ध दूध साम्य और दूसरा असाम्य हो सकता है । शरीरसंवर्धन की दृष्टि से विशुद्ध और साम्य दूध की आवश्यकता है । व्यावहारिक दृष्टि से वही दूध विशुद्ध कहा जा सकता है, जिससे बालक का स्वास्थ्य और शरीरोपचय ठीक होता है । काश्यपसंहिता में इसी व्यावहारिक दृष्टि से शुद्ध क्षीर की व्याख्या दी गई है—अव्याहतबलाङ्गायुररोगो वर्धते सुखम् । शिशुधात्रोरनापत्तिः शुद्धक्षीरस्य लक्षणम् ॥ (क्षीरोत्पत्त्यध्याय) । अधिक विचार करने पर व्यावहारिक चिकित्सक दूध की शुद्धता के ऊपर अधिक ध्यान न देकर बालक के ऊपर दूध के परिणामों पर ही अधिक ध्यान देता है । राबर्ट हचीसन बालक के रोगों के अपने व्याख्यानों में काश्यपमुनि के समान अपना अनुभव बताते हैं—
I should advise, you, however, to fix your attention on the child's weight; and so long as this goes up satisfactorily not to pay too much attention to supposed evidences that the milk disagrees. Failure to gain weight, indeed, is the only justification for weaning. Attempt to correlate any particular form of indigestion with some special fault in the composition of breast milk is apt to prove disappointing. When I first began out-patient work I used to make a practice of analyzing the mother's milk in cases of dyspepsia in breast-fed infants, but I gave it up, as I found that the game is not worth the Candle. *Lectures on diseases of children.* इसलिये धात्री के दूध की विशुद्धता देखकर निश्चित न होना चाहिए, परंतु बालक के स्वास्थ्य और तोल पर भी ध्यान देना आवश्यक है । यदि दूध के सेवन से बालक का स्वास्थ्य ठीक न रहे तो विशुद्ध स्तन्य और संपूर्ण गुणों से युक्त धात्री होने पर भी उसका दूध बंद करना चाहिए ।

न च क्षुधितशोकार्तश्चान्तप्रदुष्टधातुगर्भिणी-
ज्वरितातिक्षीणातिस्थूलविदग्धभक्तविरुद्धाहार-
तर्पितायाः स्तन्यं पाययेत्; नाजीर्णौषधं च बालं,
दोषौषधमलानां तीव्रवेगोत्पत्तिभयात् ॥३४॥

भवन्ति चात्र—

धात्र्यास्तु, गुरुभिर्भोज्यैर्विषमैर्दोषलैस्तथा ।
दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रदुष्यति ॥३५॥
मिथ्याहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः ।
दूषयन्ति पयस्तेन शरीरा व्याधयः शिशोः ।
भवन्ति कुशलस्तांश्च भिषक् सम्यग्विभावयेत् ॥३६॥

(स्तन्यदूषण के कारण और उसके फल—) भूख लगी हुई, शोकपीडित, थकी हुई, जिसके शरीर के दोषों में (तथा

धातुओं में) विकार उत्पन्न हुआ है ऐसी, गर्भवती, ज्वर युक्त, अतिक्षीण, अतिस्थूल, विदाहजनक और विरुद्ध आहार सेवन की हुई स्त्री का दूध बच्चे को न पिलावे । (वैसे ही) दोष, औषध और स्वाद्य हुए द्रव्य की तीव्र वेगोत्पत्ति के डर से (प्रथम सेवन कराई हुई) ओषधि का पचन जब तक न हो जाय, तब तक दूध न पिलावे ॥३४॥ यहाँ पर श्लोक हैं—
गरिष्ठ, विषम और दोषोत्पादक आहारों से धात्री के शरीर में दोष प्रकुपित होते हैं, जिससे दूध भी दूषित होता है ॥३५॥ मिथ्या आहार और विहार करने वाली स्त्री के दूषित वातादि दोष दूध को दूषित करते हैं, जिससे बालक में शारीरिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं । कुशल वैद्य इनको (निम्न पद्धति से) भली भाँति जान ले ॥३६॥

वक्तव्य—यहाँ पर स्तन्यदूषण के कारण बतलाये गये हैं । इन कारणों से दूध के प्रोटीनादि के संगठन में फर्क होता है, स्तन शरीरगत चीजों का उत्सर्ग करने वाली ग्रंथियाँ होने के कारण शरीरगत विष और जीवाणुओं का स्तन्य के साथ उत्सर्ग हो सकता है तथा प्रोटीनादि की अन्तर्गत रचना में फर्क हो सकता है । प्रत्येक अवस्था में क्या क्या फर्क होते हैं, इनका ज्ञान होना आज की स्थिति में भी कठिन है; परंतु फर्क होते हैं, इस बात को सभी मानते हैं । जैसे, माता को अफीम देने से बालक पर अफीम का परिणाम होता है, माता को एरण्डी का तेल देने से बच्चे को पतले दस्त होते हैं, माता को हींग, प्याज, लहसुन देने से स्तन्य में इनकी गन्ध आ जाती है, माता को पारा, संखिया इत्यादि ओषधियाँ देने से स्तन्य में इनका अंश मिल जाता है इत्यादि । माता अगर विषमयता (Toxaemia) या जीवाणुमयता (Septicaemia) से पीडित हो तो दूध में विष या जीवाणु मिल सकते हैं । मासिक धर्म के समय स्त्री के शरीर में एक प्रकार का विष होता है, (२ अध्याय के २७वें श्लोक का वक्तव्य देखो) उसका भी उत्सर्ग दूध के साथ होता है और उस समय का दूध पीने से बालक की प्रकृति कुछ खराब भी हो जाती है । इसी कारण से स्तनपानकाल में अधिकसंख्य (९० प्र० श०) स्त्रियों में अनातंव दिखाई देता है (पीछे १५वें सूत्र के वक्तव्य में 'आतंवदर्शनात्' की टिप्पणी देखो) । बालक की स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से निसर्ग या स्वभाव का यह प्रयत्न है । अन्तर्गत संगठन क्या फर्क होता है, इसका विवरण आगे प्रत्येक कारण में कुछ किया गया है । ये स्तनदोष के कारण तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—मानसिक, शारीरिक और आहारविषयक । (१) मानसिक कारणों में क्रोध, शोक, भय, विचेतसत्त्व (विचेतसः । अष्टांगहृदय) इत्यादि का समावेश होता है । ये किस प्रकार से स्तन्यदोष उत्पन्न करते हैं, इसका ठीक ठीक जवाब नहीं दे सकते, परंतु इनके कारण अन्तःस्त्रावी ग्रंथियों के स्रावों में कुछ न्यूनाधिकता या विषाक्तता (सूत्रस्थान ४६वें अध्याय के ४८६वें श्लोक का वक्तव्य देखो) उत्पन्न होती है तथा दूध के संगठन में फर्क पड़ता है, जिसके कारण बालक में विविध रोग उत्पन्न होते हैं—

Nervous impressions of a marked character have a decided and immediate effect upon the milk. An infant who takes the breast under these circumstances may show signs of acute indigestion, such as vomiting and the presence of undigested food in the stools, or there may be, in addition, great prostration, toxic symptoms, and even convulsions. *Jellet's Midwifery.*

(२) शारीरिक कारणों में क्षुधा, तृषा, थकावट, अति-क्षीणता, अतिस्थूलता, ज्वर तथा अन्य शारीरिक विकार आते हैं। इन अवस्थाओं में स्तन्य का स्वाभाविक होना असंभव है। इसके लिए अधिक विवरण की आवश्यकता नहीं है। गर्भधारणा—इसका समावेश शारीरिक कारणों में ही करना उचित है। गर्भधारणा होने से स्तन्य की राशि तथा तद्रत स्नेह तथा अन्य पदार्थों की मात्रा कम हो जाती है क्योंकि बीजग्रंथि के कार्पसल्यूटम और अपरा से प्रोजेस्टेरीन नामक द्रव्य उत्पन्न होकर (तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक का, ३९वें सूत्र का और १०वें अध्याय के १३वें श्लोक का वक्तव्य देखो) वह पोषणिका ग्रंथि के अग्रभाग से उत्पन्न होने वाले स्तन्यप्रवर्तक को बंद करता है। गर्भिणी का दूध पीने से बालक में पारिगर्भिक रोग उत्पन्न होता है—मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि। कासासिदाद-मवधुतन्द्राकाश्वारचिभ्रमैः। युज्यते कोष्ठवृद्ध्या तु तमाहुः पारि-गर्भिकम् ॥ (अष्टांगसंग्रह)। पारिगर्भिक कोई खास रोग नहीं है कि उसके लिए कोई खास नाम दिया जाय। अपर्याप्त और हीनगुण (Poor in quality) दूध मिलने से उत्पन्न हुई शरीरक्षीणता की यह अवस्था है। इसको आधुनिक परिभाषा में वेस्टिंग या म्याराज्मस (Wasting या Marasmus) कह सकते हैं। बच्चों में शरीरक्षय होने के अनेक कारण हैं, उनमें गर्भिणी दुग्धपान एक है।

(३) आहारविषयक—इसमें विषमाहार, विदग्धाहार, विरुद्धाहार और मिथ्याहार इत्यादि आहारविषयक कारणों का विचार होता है। विषमाहार वह है जिसमें समय असमय न्यूनाधिक आहार सेवन किया जाता है—बहुस्तोक-मकाले वा विषये विषमाशनम्। विदग्ध भक्ष्य वह है, जो अग्नि पर अधिक जल गया हो (Over-cooked), किंवा जिसका सेवन करने पर आमाशय, गले में विदाह उत्पन्न होता है—विदाहिद्रव्यमुद्गारमन्त्रं कुर्वात् तथा तृषाम्। हृदि दाहं च जनयेत् पाकं गच्छति तच्चिरात् ॥ जैसे, चटनी, अचार, गरम मसाला युक्त खाद्य, मिर्च इत्यादि। विरुद्धाहार वह है जिसमें एक ही समय में विरोधी कार्य करने वाले पदार्थ सेवन किये जाते हैं। यह विरोध संयोग का, मात्रा का, वीर्य का या अन्य प्रकार का (सूत्रस्थान, अध्याय २० देखो) हो सकता है। मिथ्याहार वह है, जिसमें आहार्य द्रव्यों के विविध घटकों का उचित प्रमाण नहीं होता। आधुनिक परिभाषा के अनुसार मिथ्याहार को Unbalanced diet कह सकते हैं। आहाररस से स्तन्य उत्पन्न होता है और जब माता या धात्री का आहार अपर्याप्त, अनुचित, दोषयुक्त

या अन्य तरह से खराब रहता है, तब उसका परिणाम स्तन्य की खराबी में होना स्वाभाविक है। धात्र्यास्तु—धात्री से उपमाता और माता दोनों का बोध होता है—धात्री स्यादुपमाताऽपि। (अमरकोश)। अपिना जनन्यपि धात्री। माता के अर्थ में धात्री का उपयोग भी होता है—पुनर्धात्री पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति। अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३-८२)। यहाँ पर यद्यपि संदर्भ के अनुसार उपमाता का अर्थ होता है तथापि यह कथन माता और उपमाता दोनों के लिए लागू है। इसलिए धात्री से माता और उपमाता दोनों का ग्रहण करना चाहिए। सन्यग विभावयेत्—अच्छी तरह सोच-विचार करके जाने। बड़े मनुष्य की अपेक्षा बालकों में रोगपरीक्षण में अधिक कठिनाई होती है, क्योंकि बालक स्वयं कुछ भी नहीं बता सकता या गलत बताता है। अतः शरीरगत विकार का स्थान उसके हालचाल, चर्चा, रुदन, मलमूत्रादि की प्रवृत्ति इत्यादि लक्षणों, चिह्नों (Physical signs) और अनैच्छिक क्रियाओं (Involuntary actions) से जान लेने की आवश्यकता होती है। इसलिए अब उन्हीं लक्षणों और चिह्नों का वर्णन करते हैं—

अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते।

मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ॥३७॥

निमीलिताक्षो मूर्धस्थे शिरो रोगे न धारयेत्।

वस्तिस्थे मूत्रसङ्घातो रुजा तृप्यति मूर्च्छति ॥३८॥

विण्मूत्रसङ्गवैवर्ण्यच्छर्द्याध्मानान्नकूजनैः।

कोष्ठे दोषान् विजानीयात् सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः ॥३९॥

(बालकों में विकृति का स्थान जानने की रीति—) बालक के जिस-अंग-प्रत्यंग में पीड़ा होती है, उस अंग-प्रत्यंग को बारबार छूता है और (उस अंग को) स्पर्श करने पर रोता है ॥३७॥ मस्तिष्क के रोग में आँखें बंद किया हुआ रहता है और शिर को धारण नहीं करता। वस्ति (प्रदेश के रोग) में पीड़ा के कारण मूत्र रुक जाता है, तृषायुक्त होता है और मूर्च्छित होता है ॥३८॥ मलावरोध, मूत्रावरोध, विवर्णता, वमन, पेट का फूलना, आँतों में गुद्गुद् शब्द होना इनसे कोष्ठ में दोष है, ऐसा समझे। और रोने से सर्वत्र विकृति समझे ॥३९॥

वक्तव्य—अंगप्रत्यंगदेशे—शरीर में कहीं भी जब कुछ गड़बड़ होती है, चाहे वह आगन्तुक कारणों से हो चाहे निज कारणों से हो, तब उस अंग का हट जाना या स्थानिक पेशियों में संकोच पैदा होना या वहाँ पर हाथ का पहुँच जाना ये कर्म हुआ करते हैं। जैसे, आँख में पीड़ा होने से या आँख के भीतर बाहर से कोई चीज प्रविष्ट होने से पलक बंद होते हैं, पुतली सिकुड़ जाती है और मनुष्य आँख के ऊपर अपना हाथ रखता है। ये कर्म शरीररक्षा के लिए आवश्यक होते हैं। शरीररक्षा के लिए प्रयत्न करना यह जीवसृष्टि का एक स्वाभाविक गुण है और यह गुण अत्यन्त सूक्ष्म जीव से लेकर अत्यन्त बड़े जीव में दिखाई देता है।

इसमें बुद्धि का या मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों का कोई संबंध नहीं होता। अर्थात् ये कर्म अनैच्छिक होते हैं। इनको प्रत्यावर्तन कर्म (Reflex actions) कहते हैं। बालक कितना भी छोटा क्यों न हो, उसमें भी ये कर्म दिखाई देते हैं। इसलिये अगर बालक बार बार कहीं पर छूटा हो तो समझ लेना चाहिए कि उस स्थान में, या उसके आसपास, या उसके नीचे गहराई में स्थित अंगों में पीड़ा है। शरीरगत पीड़ा जानने का यह पहला मार्ग है। स्थूयमाने च रोदिति—जहाँ पर बालक बार बार छूटा है, वहाँ पर स्पर्श करने पर या जरा सा दबाने पर बालक रोता है क्योंकि दबाने से पीड़ा बढ़ती है। शरीरगत असह्य पीड़ा को मालूम कराने का मार्ग बच्चों में रुदन होता है। बड़े मनुष्य में प्रायः रुदन नहीं होता, परंतु पीडन के समय उसके चेहरे की ओर देखने से पीड़ा का ज्ञान हो जाता है। स्पर्श करने पर पीड़ा होने की अवस्था को स्पर्शनाक्षमता या पीडनाक्षमता (Tenderness) कहते हैं—स्पर्श च न क्षमते तत्र रुजमुपलक्ष्येत् । (अष्टांगसंग्रह) । अन्यस्पर्शनं च न सहते । (इन्दु) । यत्र च स्पर्शनाक्षमः, तत्र विषादुजम् । (अष्टांगहृदय, उत्तर २) । इस तरह शरीरगत रुजा दो प्रकार से प्रकट होती है, एक प्रकार में वह बिना स्पर्श के होती रहती है। इस लक्षण को वेदना (Pain) कहते हैं और दूसरे प्रकार में छूने पर प्रकट होती है। इसको पीडनाक्षमता कहते हैं। मूर्धस्थे—इसका संबंध 'रोगे' के साथ है, याने मूर्धस्थ रोग का विशेषण है। यहाँ पर मूर्धस्थ रोग के दो लक्षण बताये गये हैं, आँखें बंद करना और शिर को धारण न करना। इसके और भी लक्षण होते हैं—अवकूजन याने धीरे धीरे असंबद्ध बोलना या मुख से आवाज़ करना (Low muttering), अरतिमानस्वप्न याने ठीक नींद न आना (Disturbed sleep) । शिरो न धारयेत्—इससे शिर धारण करने का असामर्थ्य प्रकट होता है। यह असामर्थ्य दो प्रकार से दिखाई दे सकता है—शिर के एक तरफ़ गिरने से या शिर के काँपने से। आगे काश्यपसंहिता का शिरोरोग संबंध का श्लोक देखो। वस्तिस्थे—भमास्थि के आस-पास के विकार में—मूत्रसंगतुष्मूर्च्छात्रासदिस्वीक्षणखली-हस्तपादस्तम्भकुब्जीभवनकेशलुञ्चनैर्वस्तौ गुह्यं च । (अष्टांगसंग्रह) । कोष्ठे—उदरविभाग में विशेषतया आमाशय और आन्त्र में। 'स्थानान्यामाश्रिपकानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदपुण्ड्रः फुफुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥' इस व्यापक अर्थ में कोष्ठ का प्रयोग न होकर केवल 'स्थानान्यामाश्रिपकानाम्' इनके लिए प्रयुक्त हुआ है। इस अर्थ से कोष्ठ शब्द का उपयोग 'मृदुकोष्ठ कूरकोष्ठ' इन शब्दों में होता है—'मृदुकोष्ठस्त्रिात्रेण लिङ्गत्यच्छोपसेवया । लिङ्गति कूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः ॥ (चरक, सूत्र १३) । सर्वत्रसांश्च रोदनैः—सर्वत्र च स्वभावातिरिक्तरोदेन मुखविकृण्णनं च । (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २) । रोदन से स्वभावातिरिक्त रोदन समझना चाहिए। स्वभावातिरिक्त रोदन का अभिप्राय यह है कि बालक स्वस्थावस्था में जितना रोता है, उससे अधिक रोने पर। कुछ बालक स्वभाव से ही न रोने वाले होते हैं। इनके बारे में जरा सा भी रोना संदेहास्पद

होता है। कुछ बालक स्वभाव से अधिक रोने वाले होते हैं। इनके बारे में जब ये उससे अधिक रोएँगे, तब संदेह होगा। मुखविकृण्णे च—मुखचर्या (Facial expression) के फर्क से। चेहरा शरीर का आदर्श होता है, जिसमें शारीरिक और मानसिक विकारों का प्रतिबिम्ब मिलता है। शरीर या मन में जरा सी उथल-पुथल होने से उसका पता चेहरे से लग जाता है। सर्वत्रस्थाश्च—इसके पहले जो दोष वर्णन किये गये थे, वे एकदेशीय थे। जैसे—शिरोगत, वस्तिगत, उदरगत इत्यादि। इसमें एकदेशीयता न होकर सर्वाङ्गीयता या सर्वशरीरव्यापकता होती है। अर्थात् सर्वत्रस्थ दोषों से ऐसे रोगों का बोध होता है कि जिनमें दोष किसी एक स्थान में सीमित है, ऐसा नहीं बताया जा सकता है। जैसे, ज्वर, सर्वाङ्गीवात, पाण्डु इत्यादि। सूत्रस्थान के २१वें अध्याय का ३२वाँ सूत्र देखो। अर्थात् इसका अभिप्राय यह है कि जब बालक स्वभाव से अधिक रोने लगे, उसके चेहरे में कुछ फर्क पड़ जाय और स्थानिक विकृति के लक्षण कहीं पर न दिखाई दें तो यह समझना चाहिए कि बालक ज्वर जैसे सर्वाङ्गीरोग से पीड़ित हुआ है।

इन श्लोकों में जो बालक बोलना नहीं जानते या अपने विचार प्रकट करना नहीं समझते, उन बालकों के रोगों का निदान लक्षणों को देखकर कैसा करना चाहिए इसका विवरण किया गया है। इस प्रकार का विवरण अष्टांगहृदय और अष्टांगसंग्रह (उत्तर २) में भी मिलता है, परन्तु ये सब विवरण बहुत संक्षेप में हैं। काश्यपसंहिता में इस महत्त्व के विषय का विवरण अधिक विस्तार से दिया गया है। अतः उसका कुछ उपयोगी अंश नीचे दिया जाता है—बालकानामवचसां विविधा देहवेदनाः । प्रादुर्भूताः कथं वैद्यो जानीयाल्लक्षणा-र्थतः ॥ इति पृष्ठो महाभागः कश्यपो लोकवृद्धपः । प्रोवाच वेदनास्तस्मै कार्पण्यैर्बालदेहजाः ॥ मृशं शिरः स्पन्दयति निमीलयति चक्षुषी । अवकूजत्यरतिमानस्वप्नश्च शिरोरुजि ॥ कर्णौ स्पृशति हस्ताभ्यां शिरो भ्रमयते मृशम् । अरत्यरोचकास्त्रमेजनीयात्कण्ठवेदनाम् ॥ लालान्नवणमत्यर्थं स्तनद्वेषारतिव्याधाः । पीतमुद्रिरति क्षीरं नासा-श्वासी मुखामये ॥ लालास्रावोऽरुचिर्ग्लानिः कपोले श्वयथुर्व्यथा । मुखस्य विवृतत्वं च जानीयादधिजिह्विकाम् ॥ मुहुर्नमयतेऽङ्गानि जृम्भते कासते मुहुः । धात्रीमालीयतेऽकस्मात् स्तनं चात्यभि-नन्दति ॥ प्रस्रावोष्णत्ववैषम्यं ललाटस्यातितप्तता । अरुचिः पादयोः शैत्यं ज्वरे स्युः पूर्ववेदनाः ॥ स्तनं व्युदस्यते रौति चोत्तानश्चाव-भज्यते । उदरस्तब्धता शैल्यं मुखस्वेदश्च शूलिनः ॥ स्तनं पिबति चात्यर्थं न च तृप्यति रोदिति । शुष्कौष्ठतास्तुतोयेऽस्तुर्बलस्तृष्णयाऽर्दितः ॥ रोमहर्षोऽङ्गहर्षश्च मूत्रकाले च वेदना । मूत्रकृच्छ्रे दशत्योष्ठौ वस्ति स्पृशति पाणिना ॥ सशर्करातिमूत्रत्वं मूत्रकाले च वेदना । प्रतप्तं रोदिति क्षामस्तं ब्रूयादमरीगदम् ॥ इष्टिव्याकुलता तोद-शोथशूलाश्चरुक्ताः । सुप्तस्य चोपलिप्यन्ते चक्षुषी चक्षुरामये ॥ वर्ष-त्यङ्गानि शयने रोदितिच्छति मर्दनम् । शुष्ककण्ठुर्दितं विषात्ततश्चार्दां प्रवर्तते ॥ सुखायते मृषमानं मृषमानं च शूयते । शूलं स्तवति सस्योढामार्द्रायां शूलदाहवत् ॥ नाभ्यां समन्ततः शोथः श्वेताक्षि-नखवन्त्रता । पाण्डुरोगोऽसिसादश्च श्वयथुश्चाक्षिकृतयोः ॥ पीतचक्षुर्नखमुखविमूत्रः कामलादितः । उभयत्र निरुत्साहो नष्टाक्षि-

रधिरस्पृष्टः ॥ मुहुर्मुखेनोच्छसिति पीत्वा पीत्वा स्तनं तु यः ।
स्त्रवतो नासिके चास्य ललाटे चाभितप्यते ॥ स्रोतांस्यभीक्ष्णं स्पृशति
पीनसे क्षीति कासते । उरोघाते तथैव स्यान्निष्ठनत्युरसाऽधिकम् ॥
स्वस्थवृत्तपरो बालो न शेते तु यदा निशि । रक्तविन्दुचिताङ्गश्च
विषात्तं जन्तुकार्दितम् ॥ (वेदनाध्याय) ।

तेषु च यथाभिहितं मृद्वच्छेदनीयमौषधं मात्रया
क्षीरपस्य क्षीरसर्पिषा धात्र्याश्च विदध्यात्, क्षीरा-
न्नादस्यात्मनि धात्र्याश्च, अन्नादस्य कषायादीनात्म-
न्येव न धात्र्याः ॥४०॥

(ओषधिप्रदान की पद्धति—) उन रोगों में मृदु,
तीक्ष्णवेगारहित और यथोक्त ओषधि मात्रानुसार दूध पीने
वाले बालक को दूध और घृत के साथ और धात्री (या माता)
को (दुग्धादि के सिवा) सेवन करावे । दूध और अन्न
खाने वाले बालक (के रोगों में उस) को तथा धात्री
(या माता) को । अन्न सेवन करने वाले बालक (के रोगों
में उस) को ही दे, धात्री को न दे ॥४०॥

तत्र मासादूर्ध्वं क्षीरपायाङ्गुलिपर्वद्वयग्रह-
(ण) संमितामौषधमात्रां विदध्यात्, कोलास्थिसं-
मितां कल्कमात्रां क्षीरान्नादाय, कोलसंमिताम-
न्नादायेति ॥४१॥

(ओषधि मात्रा का बालक के लिए प्रमाण—) एक
मास से ऊपर के दूध पीने वाले बालक के लिए अंगुलि के
दो पोरों में जितनी ओषधि रह सके, उतनी दे । दूध और
अन्न खाने वाले बालक के लिए बेर की गुठली के समान
कल्क (या चूर्ण) की मात्रा और अन्न खाने वाले बालक के
लिए बेर के बराबर (ओषधि की मात्रा दे) ॥४१॥

वक्तव्य—अंगुलिपर्वद्वयग्रहणसंमिताम्—चुटकी भर ।
क्षीरप इत्यादि—आहार की दृष्टि से बाल्यावस्था के तीन
विभाग होते हैं—प्रथम वर्ष की क्षीरपावस्था, दूसरे और
तीसरे वर्ष की क्षीरपान्नादावस्था और चौथे वर्ष से अन्नादा-
वस्था । सूत्रस्थान के ३५वें अध्याय के ३३वें सूत्र को तथा
उसके वक्तव्य को देखो । मात्रा—इसके संबंध का विवरण
सूत्रस्थान के ३५वें अध्याय के ३६वें सूत्र तथा उसके वक्तव्य
में किया गया है ।

बच्चों को ओषधियाँ हमेशा द्रव या लेह के रूप में
देनी चाहिए । चूर्ण या कल्क घी-शहद के साथ मिलाकर
चटाना चाहिए । गोली या वटिका (Pills and tablets)
बच्चों को कदापि न देनी चाहिए । माता या धात्री
को ओषधि देने की कल्पना भी ठीक है क्योंकि इनसे
सेवन की हुई ओषधि स्तनों से दूध के साथ उत्सर्गित
होती है । बच्चों को अफीम या अफीमयुक्त ओषधि न देना
ही उचित है क्योंकि उनके ऊपर अफीम का विषैला
असर बहुत जल्दी होता है ।

येषां गदानां ये योगाः प्रवक्ष्यन्ते ऽगदङ्कुराः ।

तेषु तत्कल्कसंलितौ पाययेत् शिशुं स्तनौ ॥४२॥

(स्तनलेप से औषध प्रदान करने का मार्ग—) जिन
रोगों के जो रोगनिवारक योग कहे जायेंगे, उन रोगों में
उन योगों के कल्क से लिप्त किये हुए स्तन बालक को
पिलावे ॥४२॥

एकं द्वे त्रीणि चाहानि वातपित्तकफज्वरे ।

स्तन्यपायाहितं सर्पिरितराभ्यां यथार्थतः ॥४३॥

(ज्वर में घृतप्रयोग—) दूध पीने वाले बालक के
लिए वातज, पित्तज और कफज ज्वर में क्रमशः एक, दो
और तीन दिन घृत (का पान) अहितकर होता है ।
क्षीरान्नाद तथा अन्नाद बालकों के लिए जैसा उचित मालूम
हो, वैसा करे ॥४३॥

वक्तव्य—चरकसंहिता में ज्वरचिकित्सा के लिए
प्रारंभ में लंघन और पश्चात् सर्पिष्पान की विधि बतलाई गई
है—यूषेरम्लैरनम्लैर्वा जांगलैर्वा रसैर्हितैः । दशाहं तावदश्रीयाल्लघ्वं
ज्वरशान्तये ॥ अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे । परिपेक्षु
दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽमृतम् ॥ निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलं-
घितम् । न सर्पिः पाययेद्देवः कषायैस्तमुपाचरेत् । (चिकित्सा ३) ।
इस विधि का उपयोग तीनों प्रकार के बालकों में किस
प्रकार करना चाहिए, इसका विवरण इस श्लोक में है ।
क्षीरप बालकों के लिए नियम स्पष्ट है । इतराभ्यां यथार्थतः—
इसका अभिप्राय यह है कि क्षीरान्नाद और अन्नाद बालकों
के लिए वातज्वर के लिए एक दिन से अधिक, पित्तज्वर
के लिए दो दिन से अधिक और कफज्वर के लिए तीन
दिन से अधिक जितने दिन उचित समझे, उतने दिन उनको
घी न दे, उसके पश्चात् दे । यथार्थतः इति निवृत्त्यपरपर्यायोऽ-
यमर्थशब्दो यथा मशकार्थो धूम इति । तथाच अर्थ—‘निर्दशाहम-
पि ज्ञात्वा कफोत्तरमलंघितम् । न सर्पिः पाययेत्’ इत्युक्तं ज्वर-
प्रतिषेधे वक्ष्यमाणं च प्रतिषेधमनतिक्रम्य इतराभ्यामन्नादक्षीरान्ना-
दाभ्यान्तु सर्पिर्विरहितमुपदिशेदित्यर्थः । (हाराणचन्द्र) ।
इतराभ्यां क्षीरान्नादान्नादाभ्यां, यथार्थतः यथाप्रयोजनतः, हितं
सर्पिरित्यर्थः । (डल्हन) ।

न च तृष्णाभयादत्र पाययेत् शिशुं स्तनौ ।

(ज्वर में स्तनपान—) ज्वर में तृष्णा के भय से
शिशु को स्तन न पिलावे ।

वक्तव्य—ज्वर के प्रारम्भ में लंघन करने की या कराने
की विधि होती है—ज्वरे लंघनमेवादाबुपदिष्टम् ॥ (चरक,
चिकित्सा ३) । पिछले श्लोक में ज्वर में सर्पिष्पान की विधि
बताई गई है । इस श्लोकार्थ में लंघन की विधि पर्याय
से बताई गई है । तृष्णाभयात्—स्तन्यतृष्णाभयात्, भ्रम्याहार-
भवादित्यर्थः । स्वस्थावस्था में बालक जितना दूध पीता है,
उतना ही दूध वह ज्वरितावस्था में भी पी सकता है
क्योंकि स्तनों के साथ मुख का संबंध होने पर दूध पीना
इतनी ही बात उस समय वह समझता है । ऐसी अवस्था
में अगर उसको नित्य के समान स्तनपान कराया जाय तो
अजीर्ण होने का डर रहता है । इसलिए ज्वर के प्रारंभिक
दिनों में स्तनपान न कराना ही प्रशस्त मार्ग है । परन्तु

लंघन के इन दिनों में बालक को उबाला हुआ पानी, जैसे कि औरों को दिया जाता है, देना चाहिए—तृष्यते सलिलं चोष्णं दद्याद्वातकफज्वरे । दीपनं पाचनं चैव ज्वरप्रमुभयं हि तत् । स्रोतसां शोधनं बल्यं रुचिस्वेदकरं शिवम् ॥ (चरक, चिकित्सा ३) । लङ्घनादिकाले एव अवस्थाविशेषे देयं जलमाह—तृष्यत इत्यादि । (चक्रपाणिदत्त) । शिशु को पानी देने में आपत्ति न करनी चाहिए । पानी किस प्रकार का देना चाहिए, इसके संबंध में काश्यपसंहिता में लिखा है—उष्णोदकं शिशोः । रक्तपित्तमयं त्यक्त्वा प्रायो वातकफात्मके । रोगे शिशुर्वा भ्रात्री वा गुर्विणी बोष्णकं पिबेत् । कचिद्रोगविशेषेण तप्तशीतं हितं बहु ॥ (पानीयगुण विशेषाध्याय) । यदि बालक स्वस्थ हो तो ज्वरित होने पर कुछ दिनों तक लंघन सह सकता है । यदि बालक दुर्बल हो तो उसके लिए लंघन कराना ठीक नहीं होता । ऐसी अवस्था में 'न' का अर्थ अल्प करके उसको थोड़ा थोड़ा स्नान पान कराना चाहिए । बालक के लंघन के संबंध में राबर्ट हचीसन का निम्न वचन महत्त्व का है—Babies will stand the complete withdrawal of all nourishment for two or three, or even more days without any disadvantage, and, indeed, often with great benefit, provided always that you fulfil two conditions. The first of these is that child is kept warm. And the second condition is that water must on no account be withheld. That may take the form of boiled water. *Lectures on diseases of children.* इसके ऊपर हाराणचन्द्र लिखते हैं—न चेति प्रतिषेधोऽयमजीर्णशङ्कयेति गम्यते, अतो यावन्नाता-वाशङ्का बुद्धिमधितिष्ठति तावदल्पमल्पं पाययेदेव, उपस्थितायाश्च तस्यामाशङ्कायां मात्रायाऽन्तरान्तरा यथास्वौषधसिद्धं जलमेव पाययेदित्युपदिशन्त्याचार्याः ॥ आगे '५०वें श्लोक' के वक्तव्य में 'लंघनात्' देखो ।

विरेकवस्तिवमनान्यृते कुर्याच्च नात्ययात् ॥४४॥

(विरेचनादि के उपयोग का निर्देश—) आत्ययिक अवस्था के अलावा विरेचन, वस्ति और वमन न कराना चाहिए ॥४४॥

वक्तव्य—अत्ययादृते—अत्यन्त आवश्यकता जिसमें हो, ऐसी अवस्था या व्याधि । बालकों में इन्द्रा पूर्ण निषेध नहीं होता । बालकों के रोगों की चिकित्सा के कुछ तत्त्व, जो अष्टांगसंग्रह में दिये हैं, नीचे दिये जाते हैं—त एव दोषा दूष्याश्च ज्वराद्या व्याधयश्च यत् । अतस्तदेव भैषज्यं मात्रा त्वस्य कनीयसी ॥ सौकुमार्याल्पकायत्वात्सर्वान्नुपसेवनात् ॥ लिङ्गा एव सदा बालां दृष्टक्षीरनिषेवणात् । सवस्तान् वमनं तस्मात्पाय-वेन्मतिमान् सृजु ॥ स्तन्यस्य तुप्तं वमयेत् क्षीरक्षीरात्रसेविनम् । पीतवन्तं तनुं पेयामन्नादं दृष्टसंयुताम् ॥ वस्तिं साध्ये विरेकेण मर्शनं प्रतिमर्शनम् । सुंज्यादिरेचनादींस्तु धान्या एव यथोदितान् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २) ।

अब इसके बाद बालकों के कुछ रोग वर्णन किये जाते हैं—

मस्तुलुङ्गक्षयस्य वायुस्तात्वस्थि नामयेत् ।

तस्य तृदैन्ययुक्तस्य सर्पिर्मधुरकैः शृतम् ।

पानाभ्यञ्जनयोर्याज्यं शीताम्बुद्वेजनं तथा ॥४५॥

(तालुपात—) मस्तुलुङ्ग के क्षय के कारण वायु जिस (शिशु) की तालु (प्रदेश) की हड्डी को दबाता है, उस तृषा और दीनता से युक्त बालक को मधुरागण की ओषधियों से सिद्ध घी का पान और अभ्यंग कराना चाहिए और ठंडे जल से उसको उद्वेजित करना चाहिए ॥४५॥

वक्तव्य—तात्वस्थि नामयेत्—मस्तिष्क की खोपड़ी में दो तालुएँ होती हैं—पूर्व (Anterior fontanelle) और पश्चिम (Posterior fontanelle) । इनमें पीछे की तालु जन्म के पश्चात् शीघ्र बंद हो जाती है । पूर्वतालु स्वस्थ बालक में डेढ़ साल की उम्र में बंद हो जाती है । अर्थात् डेढ़ साल तक तालु प्रदेश में हड्डी नहीं होती । बालक के इस प्रदेश में तैलपिचु रखने का रिवाज है । पीछे २३वाँ सूत्र देखो । बचपन में जब तक तालु बंद नहीं होती, तब तक उसकी स्थिति से बालक के साधारण स्वास्थ्य का, मस्तिष्कगत विकारों का तथा हृदय के स्पन्दन का पता चल जाता है । प्रवाहिका, अतीसार, अनुबद्ध वमन तथा अन्य क्षीणता-जनक तीव्र विकारों में तालु में निम्नता (Depression) आ जाती है । आगे तालुकंटक देखो । तालु की निम्नता एक गंभीरतादर्शक लक्षण होता है । अस्थिवक्रता (फ्रैक्चर Rickets आगे ५२वें श्लोक के वक्तव्य में देखो) नामक रोग में तालु की अस्थियाँ देर में मिलती हैं । बड़े रोगियों में नाड़ी की क्षीणता का जो मतलब होता है, वही मतलब बच्चों में तालु की निम्नता का होता है । मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis), मस्तिष्कार्बुद (Tumour) इत्यादि मस्तिष्क के विकारों में तालु तनाव से युक्त और कुछ उन्नत होती है । संक्षेप में, तालुपात या तालु की अन्य स्थिति एक लक्षण है, जिससे बालक की विकृति का कुछ पता चल जाता है । तालुपात बालक की क्षीणता या स्वास्थ्य दैन्य का निदर्शक है । मस्तुलुङ्गक्षय—तालु का पात बालक के अतीसार, प्रवाहिका, वमन इत्यादि शरीरगत जलांश का नाश करने वाले विकारों में होता है । शरीरगत जल की कमी का परिणाम मस्तिष्कसुषुम्नाजल (Cerebro-spinal fluid) की कमी में होता है । यह जल मस्तिष्क के चारों ओर उसके आवरण के भीतर होता है । इसकी कमी होने से सावरण मस्तिष्क का आकार कुछ छोटा होता है । अन्य स्थानों पर कठिन हड्डियाँ होने से इसका पता नहीं लगता, परंतु पूर्वतालु प्रदेश में हड्डी न होने से वह निम्न हो जाता है । संक्षेप में 'मस्तुलुङ्गक्षय' से 'मस्तुलुङ्गजलक्षय' समझना चाहिए । वायु—तालुनिम्नता का आन्तरिक कारण मस्तिष्कजलक्षय है और बाह्य कारण वायु है । वायु से बाह्य वायु (वातावरण Atmosphere) और शरीरगत वायु दोष दोनों का बोध होता है (चरक का वातकलाकलीय अध्याय सूत्र १२) । तालु के पात में बाह्य वायु ही कारण है । हमारे शरीर पर बाह्य वायु का बहुत भारी

दबाव पड़ता है, परंतु भीतर से भी उतना ही दबाव होने के कारण या हड्डी के समान कठिन आवरण होने के कारण उसका ज्ञान हमें नहीं होता । शरीर में जहाँ पर कुछ पोलापन या निर्वात (Vacuum) स्थिति होती है, वहाँ पर बाहर की वायु दबाती है । फुफ्फुसक्षय में जब फुफ्फुस भीतर से विवरयुक्त पोला हो जाता है, तब बाहर की वायु का दबाव पड़ने से पशुकांतरीय स्थान भीतर धँसे हुए दिखाई देते हैं तथा अक्षक (हँसली) के ऊपर और नीचे गंदे बन जाते हैं । मस्तिष्कजलक्षय में बालकों की तालु में हड्डी न होने के कारण बाह्य वायु के दबाव से तालु दब जाती है । बाल्यावस्था के पश्चात् मस्तिष्कजलक्षय होने पर भी इस प्रकार की निम्नता नहीं होती क्योंकि दबने लायक स्थान खोपड़ी में नहीं होता । तृद्दैन्ययुक्तस्य—जिस समय तालुपात होता है, उस समय रोगी की स्थिति बड़ी शोचनीय होती है । जैसे—शरीर की कृशता, क्षीणता, पेशियों का पिलपिलापन, आँखें कपोल और उदर भीतर धँसे हुए, बद्धवासी इत्यादि । शरीरगत जलांश का नाश जिन रोगों में अधिक होता है, उन रोगों में तालुपात होता है । अर्थात् जलांश की पूर्ति करने के लिए बालक को स्वभाव से ही अधिक प्यास मालूम होती है । मधुरकैः शृतम्—मधुरगण में बलकारक, जीवनीय ओषधियाँ (सूत्रस्थान के ४२वें अध्याय का २४वाँ सूत्र देखो) होती हैं । शीताम्बूद्वेजनम्—शीतल जल का प्रयोग दीन, क्षीण बालक को होशियार करने के लिए, उसको होश पर लाने के लिए होता है । इसका उपयोग अधिकतर आँखों पर, चेहरे पर किया जाता है ।

वातेनाध्मापितां नाभिं सरुजां तुण्डिसंज्ञिताम् ।
मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः ॥४६॥

(नाभितुण्ड—) वायु के कारण फूली हुई, पीडा-युक्त तुण्ड नामक नाभि को वायुनाशक स्वेद, स्नेह और उपनाह से शान्त करे ॥४६॥

वक्तव्य—नाडीकल्पन की विधि पीछे ११वें सूत्र में तथा उसके वक्तव्य में भली भाँति वर्णन की गई है । उस समय सूत्र, कैंची, वस्त्र इत्यादि की सफाई में लापरवाही करने से व्रणयुक्त नाडी दूषित होती है । कभी कभी यह दोष नाडी के द्वारा यकृत और रक्त में प्रवेश करके कामला, ज्वर, वमन, प्रवाहिका और जीवाणुमयता उत्पन्न करके बालक का नाश करता है । इसलिए, नाडीकल्पन के सब साधन अत्यन्त शुद्ध काम में लाने चाहिए । परंतु प्रायः दोष इतनी दूर तक न फैलकर नाभि तक सीमित रहता है और नाभिपाक (Omphalitis) उत्पन्न होता है । नाभितुण्ड उत्पन्न होने से पूर्व प्रायः नाभिपाक होता है । इसलिए चरक और अष्टांगसंग्रह में प्रथम नाभिपाक का उल्लेख किया गया है—तस्य चेन्नाभिः पच्येत तां लोभ्रमयुक्तप्रियङ्गुसुरदारु-हरिद्राकल्कसिद्धेन तैलेनाभ्यज्यात्, एषामेव तैलीषधानां चूर्णेनाव-चूर्णयेत् । (चरक, शा० १०) । नाभि का पाक होने से नाभि अधिक कमजोर होती है । इस कमजोरी के साथ यदि बालक में मलावरोध, निरुद्धप्रकाश (निदान १३-५७)

और रोदनाधिक्य ये विकार हों तो उदरगत भार बढ़ जाने से आन्त्र का कुछ हिस्सा नाभि के छिद्र में से बाहर आने लगता है और नाभि ध्मापित होती है । इस अवस्था को नाभिगत आन्त्रवृद्धि (Umbilical hernia) कहते हैं । बिना नाभिपाक के भी मलावरोधादि कारण अधिक काल तक जारी रहें तो यह विकार हो जाता है क्योंकि नाभि का स्थान उदरप्राचीर के अन्य स्थानों की अपेक्षा स्वभावतः कमजोर रहता है । चरकसंहिता में नाभि के चार प्रकार दिये हैं—असम्यक्कल्पने हि नाड्या आयामव्यायामोत्तुण्डितापिण्डलिकाविनामिकाविजृम्भिकावाधेभ्यो भयम् । इसके ऊपर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—आयामो दैर्घ्यं, व्यायामो विस्तारः, ताम्यासुत्तुण्डिता आयामव्यायामोत्तुण्डिता, दीर्घपीनत्व-युतेत्यर्थः । पिण्डलिका परिमण्डलयुता, विनामिका अन्तोच्छ्रान्ता मध्यनिम्ना । विजृम्भिका तु मुहुर्मुहुर्वृद्धिमती । गुरुलाघवमभि-समीक्ष्येति नाडीपाककारकपिप्ते तथा वाते चायामव्यायामोत्तुण्डिता-दिविकारचतुष्टयकारके यो दोषो गुरुः स उपचरितव्यस्त्ववर्येत्यर्थः । ये चार विकार वास्तव में चार स्वतन्त्र विकार न होकर एक विकार के चार प्रकार हैं और यह विकार है नाभिगत आन्त्रवृद्धि । सुश्रुत की तुण्ड चरक की आयामव्यायामो-त्तुण्डिका है । विजृम्भिका में नाभि हमेशा के लिए उभरी हुई नहीं होती, परंतु जिस समय बालक रोता है या मल त्याग करता है, उस समय उदरगत भार बढ़ने के कारण फूलती है । बाकी तीनों प्रकारों में नाभि सदा के लिए फूली हुई रहती है । इस नाभि में क्षुद्रांत्र का कुछ हिस्सा आता है । बालक की आयुवृद्धि के साथ नाभि का आयाम-व्यायाम नहीं बढ़ता परंतु आन्त्र की मोटाई या गोलाई बढ़ती है, जिसके कारण यह विकार आयु बढ़ने पर आपसे आप ठीक हो जाता है । स्नेहस्वेदोपनाहनैः—मालिश, स्वेद और उपनाह के द्वारा । उपनाह—उपनाहो बहलं लेपं दत्त्वा चर्मादिभिरावृत्य व्याधियुक्तस्यांगस्य बंधनम् । (चक्रपाणिदत्त, चरक, सूत्र० १४) । आधुनिक परिभाषा के अनुसार नाभि के उपनाहन को Umbilical belt कह सकते हैं । इसके अलावा मलावरोधादि सहायक कारणों को भी दूर करना चाहिए ।

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम् ।
रसाञ्जनं विशेषेण पानालेपनयोर्हितम् ॥४७॥

(गुदपाक—) बालकों के गुदपाक (नामक रोग) में पित्तनाशक चिकित्सा करे । (इसमें) विशेषतः रसोत् पीने के और आलेपन के लिए हितकर होता है ॥४७॥

वक्तव्य—गुदपाक—क्षुद्ररोगनिदान (१३वाँ अध्याय) में अहिपूतन या गुदकुंद करके बालकों का एक रोग वर्णन किया गया है । गुदपाक के कारण और लक्षण और कहीं पर नहीं मिलते । इसलिए गुदकुंद और गुदपाक में क्या भेद है, इसका निर्णय करना कठिन है । परंतु निम्न कारणों से ये दोनों रोग एक मालूम होते हैं—(१) दोनों रोग बालकों के हैं और दोनों का स्थान एक है । (२) वारभटाचार्य अष्टांगहृदय और संग्रह में अहिपूतन का ही वर्णन

करते हैं, गुदपाक का नहीं करते । (३) गुदपाक में जैसी पित्तघ्न चिकित्सा होती है, वैसी पित्तघ्न चिकित्सा गुदकन्द में भी होती है—सर्व च पित्तघ्नजिच्छस्यते गुदकटुके । (अष्टांगसंग्रह) । (४) अहिपूतन चिकित्सा की ओषधियों में रसांजन भी एक है—पटोलपत्रत्रिफलारसांजनविपाचितम् । पीतं घृतं नाशयति कृच्छ्रामप्यहिपूतनाम् ॥ (चिकित्सा स्थान २०) । इन द्रव्यों में रसांजन विशेषतः हितकर होता है; इसका उल्लेख यहाँ द्वितीय श्लोकार्ध से किया गया है । (५) अहिपूतना की चिकित्सा आगे चिकित्सा-स्थान में स्वतन्त्र वर्णन की गई है । यहाँ पर उसका वर्णन करने का कोई कारण नहीं था । परंतु रोग बालकों का होने के कारण यहाँ पर बालकों के रोगों में संक्षेप में उसका सूत्र बताया गया है । रसांजन—दारुहरिद्रा के काथ से बनाया हुआ, जो रसोत भी कहलाता है ।

बालकों के रोग—बाल्यावस्था में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं । उनमें से कुछ विशेष रोगों का, जो सुश्रुत में वर्णित नहीं हैं, वर्णन यहाँ पर संक्षेप में दिया जाता है—(१) महापक्व—विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो वस्तिशीर्षजः । पक्ववर्णो महापक्वनामा दोषत्रयोद्भवः ॥ शाखाभ्यां हृदयं याति हृदयाद्वा गुदं व्रजेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । यह विसर्प है । इसको नवजात विसर्प Erysipelas neonatorum कहते हैं । इसका प्रारंभ प्रायः नाभि से होता है और नाभिनाडी छेद से उदरगुहा में प्रवेश करके उदरावरण शोथ पैदा करता है । इसी उपद्रव से यह रोग प्राणनाशक होता है । शुश्रुत परिभाषा के अनुसार इस विसर्प का समावेश क्षतज विसर्प में (निदान १०) होता है । (२) दन्त शब्द—रूक्षाशिनो वातिकस्य चालयत्यनिलः सिराः । इन्वाश्रयाः प्रसुप्तस्य दन्तैः शब्दान् करोत्यतः ॥ दन्तशब्द को Grinding of teeth कहते हैं । यह कोई महत्त्व का रोग नहीं है । केंचुवे के कारण कई बार यह लक्षण हुआ करता है । (३) तालुकण्टक—तालुमांसे कफः कुट्टः कुस्ते तालुकण्टकान् । तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते ॥ तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात् पानं शकृद् द्रवम् । तुलक्षिकण्ठास्यरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । तालुकण्टक एक प्रकार का मुखपाक (Stomatitis) है । बालकों की दृष्टि से इसको थ्रश (Thrush) कह सकते हैं । (४) क्षीरालसक—स्तन्ये त्रिदोषमल्लिने दुर्गन्ध्यामं जलोपमम् । विवदमच्छं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेदयते ॥ शकृन्नानाव्यथावर्णं मूत्रं पीतं सितं घनम् । ज्वरारोचकतृष्णार्द्रिशुष्कोद्गारविजृम्भिकाः ॥ अङ्गभङ्गोऽहविषेपः कूजनं वेपथुर्भ्रमः । प्राणाक्षिमुखपाकाया जायन्तेऽप्येऽपि तं गदम् । क्षीरालसकमित्याहुरत्ययं चातिदारुणम् ॥ (अष्टांगहृदय) । क्षीरालसक दूध की खराबी से होने वाली बच्चों की प्रवाहिका है (Infantile diarrhoea) । (५) शूल—स्तनं व्यदस्यते रौति चोत्तानश्चावभज्यते । उदरस्तब्धता शैत्यं मुखस्वेदश्च शूलिनः ॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय) । बच्चों में शूल (Colic) दूध का पचन ठीक होने से होता है । ठीक पचन न होने से आन्त्र में वायु (गैस) पैदा होकर शूल उत्पन्न करती है और उसी से उदरस्तब्धता (कठिनता) आ जाती है । (६) उपशीर्षकम्—कपाले पवने

दुष्टे गर्भस्वस्यापि जायते । सवर्णो नीरुजः शोफस्तं विषादुपशीर्षकम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २७) । उपशीर्षक को Cephal haematoma कहते हैं । यह शोफपार्श्व कपाल पर होता है और कपाल तथा त्वचा के नीचे रक्तस्राव होने से होता है । (७) उल्बकम्—गर्भान्भसामवनात् श्लेष्मणः कण्ठगस्य वा । संपादं हृदये दुष्टो मार्गानावृणुते रसः ॥ बद्धमुष्टितो मुखोद्गो-र्वालोऽभिभूयते । हृद्रोगाक्षेपकश्वासकासच्छर्दिज्वरादिभिः । उल्बकं सहजं व्याधिमम्बुपूर्णं च तं वदेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २) । उल्बक को Infantile convulsions कहते हैं । इसका कारण मस्तिष्क की विकृति होती है, जो कष्टप्रसूति के समय सिर पर दबाव के कारण कभी कभी हुआ करती है । ये आक्षेप प्रायः जन्म के पश्चात् दो तीन दिनों में उत्पन्न होते हैं । अगर हफ्ते दो हफ्ते के बाद यह रोग उत्पन्न हो जाय तो उसका कारण दूध के अपचन से उत्पन्न हुआ शूल या तत्सम अन्य विकार समझना चाहिए । (८) कामला—पीतचक्षुर्नखमुखविण्मूत्रः कामलार्दितः । उभयत्र निरुत्साहो नष्टाग्निरुपरिस्थः ॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय) । बालकों में कामला निम्न कारणों से उत्पन्न हो सकती है—(अ) स्वाभाविक—जन्म के समय बालक के शरीर में रक्तकणाधिक्य होता है । ये कण कुछ दिनों में नष्ट हो जाते हैं और कर्णों की संख्या स्वाभाविक हो जाती है । इन अधिक कर्णों के नाश के कारण कभी कभी कामला होती है, जो स्वाभाविक कहलाती है । (आ) पित्तवाहिनी मुखशोथ—कभी कभी आन्त्र में जीवाणुओं का प्रवेश होने पर ग्रहणी के पित्तवाहिनीद्वार में शोथ होकर पित्त का मार्ग अवरुद्ध होता है और कामला होती है । (इ) नाभिनाडी के दूषित होने से—नाडी कल्पन में सफाई का ध्यान न रखने से कभी कभी पूयजनक जीवाणु उसमें प्रवेश करके उसी के द्वारा सीधे यकृत में प्रवेश करते हैं । यह कामला असाध्य होती है । इसमें ज्वर भी होता है । (ई) सहजज्वर—कभी कभी पित्तवाहिनियों की ठीक वृद्धि न होने से कामला होती है । यह रोग भी असाध्य होता है । (ऊ) सहज फिरंगजन्य—माता-पिता फिरंग पीडित होने पर वह रोग बालक में भी चला आता है । उसको सहज फिरंग (Congenital syphilis) कहते हैं । इसके कारण भी कभी कभी कामला होती है । इसमें बालक में सहज फिरंग के अन्य लक्षण दिखाई देते हैं । (ए) कुलज कामला (Familial jaundice)—इसमें खानदान में कई बालक कामला से पीडित होते हैं । इसका कारण माता की विषमयता (Toxaemia) मानी जाती है । यह रोग जन्म के पश्चात् कुछ घंटों में प्रारंभ होता है और कुछ दिनों में बालक की मृत्यु हो जाती है । (९) फक (Rickets)—इसका वर्णन आगे ५२वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है ।

क्षीराहाराय सर्पिः पाययेत् सिद्धार्थकवचामां-
सीपयस्यापामार्गशतावरीसारिवाब्राह्मीपिप्पलीह-
रिद्राकुष्ठसैन्धवसिद्धं, क्षीरान्नादाय मधुकवचापि-
प्लीचित्रकत्रिफलासिद्धम्, अन्नादाय द्विपञ्चमूली-

क्षीरतगरभद्रदारुमरिचमधुकविडङ्गद्राक्षाद्विब्राह्मी-
सिद्धं; तेनारोग्यबलमेधायुषि शिशोर्भवन्ति ॥४८॥

(स्वास्थ्यरक्षक घृत—) दूध पीने वाले बालक को सिद्धार्थक (गौरसर्षप), वचा, जटामांसी, क्षीरकाकोली, अपामार्ग, शतावरी, अनन्तमूल, ब्राह्मी, पिप्पली, हल्दी, कुष्ठ और सैन्धव इनसे सिद्ध किया हुआ घृत पिलावे । दूध और अन्न खाने वाले को मुलहठी, वचा, पिप्पली, चित्रक और त्रिफला से सिद्ध (घृत पिलावे) । अन्न सेवन करने वाले को दोनों पञ्चमूल, क्षीर, तगर, देवदारु, काली मरिच, मुलहठी, वायविडंग, मुनक्का और दो प्रकार की ब्राह्मी इनसे सिद्ध (घृत पिलावे) । इस (आयु के अनुसार बनाये हुए विशिष्ट घृत के सेवन) से बालक के स्वास्थ्य, बल, बुद्धि और आयु (की वृद्धि) होती है ॥४८॥

वक्तव्य—द्रिपञ्चमूल—दशमूल, लघुपंचमूल और बृहत्पंचमूल । द्विब्राह्मी—ब्राह्मी और मण्डूकपर्णी, अथवा 'भार्गी ब्राह्मी नाम शाकञ्चेति द्विब्राह्मी ।' (हाराणचन्द्र) ।

बालं पुनर्गात्रसुखं गृहीयात्, न चैनं तर्जयेत्,
सहसा न प्रतिबोधयेद्विज्ञासभयात्, सहसा नाप-
हरेदुत्क्षिपेद्वा वातादिविघातभयात्, नोपवेशयेत्
कौञ्च्यभयात्, नित्यं चैनमनुवर्तेत प्रियशतैरजिघांसुः,
एवमभिहतमनास्त्वभिवर्धते नित्यमुदग्रसत्त्व-
संपन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनाश्च भवति । वातातप-
विद्युत्प्रभापादपलताशून्यागारनिम्नस्थानग्रहच्छाया-
दिभ्यो दुर्ग्रहोपसर्गतश्च बालं रक्षेत् ॥४९॥

नाशुचौ विस्त्रेज्ज्वालं नाकाशे विषमे न च ।

नोष्ममारुतवर्षेषु रजोधूमोदकेषु च ॥५०॥

(शिशुपालन—) बालक को (हमेशा) जिससे उसके शरीर को सुख हो, उस तरह से उठावे । उसको झिड़के नहीं । डर उत्पन्न होने के डर से उसे अचानक न जगावे । वातादि (दोषों) का प्रकोप होने के डर से उसे अचानक (दूसरे के पास से) न खींच ले अथवा ऊँचा भी न उछाले । कुबड़ा होने के डर से उसे (जल्दी) न बैठावे और (बालक के स्वास्थ्य का) नाश करने की इच्छा न करने वाला प्रतिदिन सैकड़ों प्रियकर बातों से उसका अनुनय करे । इस प्रकार (बालक के साथ बरताव रखने से) वह अप्रतिहतचित्त रहकर दिन प्रति दिन वृद्धि को प्राप्त होता है और उत्कृष्ट सत्त्वसंपन्न, स्वस्थ तथा प्रसन्न मन भी रहता है । बालक को जोर से बहने वाली वायु (आँधी), (कड़ी) धूप, बिजली की चमक, वृक्ष, लता, शून्यगृह, (कूप, गढ़े इत्यादि) गहरे स्थान, ग्रहों की छाया तथा दुष्ट ग्रहों के उपसर्ग से बचावे ॥४९॥ बालक को मैली जगह पर, आकाश में, ऊँची नीची जगह पर, धूप, आँधी, वर्षा, धूल, धुआँ, पानी (इनसे युक्त स्थानों) में न छोड़े ॥५०॥

वक्तव्य—गात्रसुख—बालक के शरीर के अंग-प्रत्यंग बहुत ही कोमल और कमजोर होते हैं । अतः बालक को

पकड़ते समय या उठाते समय जबर्दस्ती, कड़ाई या लापरवाही करने से उसकी हड्डियाँ टूट सकती हैं, जोड़ विच्छेदित हो सकते हैं, पेशियाँ विदीर्ण हो सकती हैं और नाड़ियाँ घातित (Paralysed) हो सकती हैं । इसी के परिणाम स्वरूप में आगे चलकर हड्डियों का क्षय (Bone T. B.) या अंगघात (जैसे, Musculo spinal nerve paralysis) होता है । कई बार माताएँ क्रोध में बालक को उसके एक हाथ को पकड़कर उठाती हैं या खींचकर ले जाती हैं । बालक के ऊपर क्रोध करने की यह पद्धति खतरनाक है । इससे कभी कभी उपर्युक्त विकार उत्पन्न होकर बालक की जिन्दगी चौपट हो सकती है । माता या बालक के पालन के लिए रखे हुए किसी मनुष्य के लिए यह कर्म अनुचित है । इस प्रकार का बरताव अधिकतर अज्ञान के कारण किया जाता है । माता को अगर इसका परिणाम बताया जाय तो उससे ऐसा निर्धन बरताव नहीं होगा । नौकरों से इस प्रकार का बरताव अज्ञान की अपेक्षा अवात्सल्य और लापरवाही के कारण होता है । उनको माता के समान एक बार बतलाने से काम नहीं हो सकता, उनके साथ कड़ाई से काम लेना पड़ता है । न चैनं तर्जयेत्—जब बालक बहुत रोता है या खाता नहीं या अन्य प्रकार से दिक् करता है, तब उसको चुप करने के लिए भूतप्रेतपिशाचादि के नाम का या चोर, डाकू, व्याघ्र, सिंह इत्यादि का डर दिखाना यह एक बहुत साधारण व्यवहार अत्यंत प्राचीन काल से अब तक दिखाई देता है । परंतु इस प्रकार न करना चाहिए—न ह्यस्य विज्ञासनं साधु । तस्मात् तस्मिन् रुदन्मुञ्जाने वाऽन्यत्र विषेयतामगच्छति राक्षसपिशाच-पूतनाद्यानां नामान्याह्वयता कुमारस्य विज्ञासनार्थं नामग्रहणं न कार्यं स्यात् । (चरक, शा० १०) । विज्ञासभयात्, वातादिविघातभयात्—इनका मथितार्थ निम्न तत्त्व पर निर्भर है । मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों में एक बात को छोड़कर सभी बातों में समता होती है और वह बात है ज्ञान—आहारनिद्राभयमैश्वर्यं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् । ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥ पशुओं में भी कुछ ज्ञान होता है और उसकी विशेषता यह है कि वह जन्म के समय में भी होता है और उतना ही मृत्यु तक रहता है । मनुष्य में जन्म के समय कुछ भी ज्ञान नहीं होता और मृत्यु के समय तक उसका ज्ञान बढ़ता जाता है । अर्थात् जन्म के समय मनुष्य और पशु की तुलना की जाय तो पशु कहीं दर्जे मनुष्य से अधिक ज्ञानी होता है परंतु उसके पश्चात् देखा जाय तो पशु पशु ही रहता है और मनुष्य मनुष्य हो जाता है । इसका कारण यह है कि पशुओं का ज्ञान सहज और मनुष्यों का विकासनशील होता है । इस ज्ञान का स्थान मस्तिष्क के सब से ऊपर के हिस्से (Cortex of the brain) में होता है । इस भाग में कई नालियाँ और कई उभार होते हैं, जिनमें ज्ञानप्राप्ति के अनेक केन्द्र और उन केन्द्रों को जोड़ने वाले तार होते हैं । शारीरिक दृष्टि से विचार किया जाय तो मनुष्येतर प्राणियों की अपेक्षा मनुष्यों में यही मस्तिष्क का भाग अधिक होता

है। मनुष्यों मनुष्यों में भी देखा जाय तो पागलों की अपेक्षा ज्ञानी मनुष्यों में यही भाग अधिक प्रगल्भ रहता है। संपूर्ण शरीर के कार्यों का नियन्त्रण मस्तिष्क से होता है। मस्तिष्कगत केन्द्रों और तत्संबंधित तारों के कार्यों का विकास बाह्य परिस्थिति, शिक्षा, संस्कार इत्यादि पर निर्भर होता है। बचपन में अगर किसी बात के लिए डर पैदा किया जाय तो आगे चलकर उस बात का डर निकल जाने पर भी उसमें डरपोकवृत्ति, चित्तवैकल्य उत्पन्न होता है। संक्षेप में बचपन में बालक के साथ कोई ऐसा व्यवहार न करना चाहिए, जिससे कि उसके कोमल अविकसित मस्तिष्क पर अचानक जोर से प्रतिक्रिया हो। मस्तिष्क के ऊपर प्रतिक्रिया होने के साधन पंचज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके अर्थों में अचानक तीव्र भेद उत्पन्न होने से बालक के मस्तिष्क के ऊपर बुरा असर होता है और वह स्थायी बन जाता है। इसलिए, बालक को अचानक जगाना, ऊपर फेंकना, नीचे गिराना, भास्वर रूपों को दिखाना, इत्यादि कर्म न करने चाहिए। इनसे बालक के मस्तिष्क के विकास में कुछ खराबी हो जाती है। नोपवेशयेत् कौष्यभयात्— बालक का पृष्ठवंश जब तक काफ़ी मजबूत नहीं हुआ है, तब तक उसको जबर्दस्ती बैठाना उचित नहीं है। पृष्ठवंश कमजोर होने पर बैठाने से वह वक्र हो जाता है। यह एक उपलक्षण समझकर चलाने के बारे में भी इस सूत्र का उपयोग कर सकते हैं। जैसे, जब तक बालक के पैरों में शक्ति नहीं आती, तब तक उसको जबर्दस्ती पैरों पर न चलाना चाहिए, वरना तलुवे सपाट (Flat foot) होने का डर रहता है। अष्टांगसंग्रह में पाँचवें महीने में बालक को बैठाने के लिए लिखा है—पञ्चमे मासि पुण्येऽहि धरण्यामुपवेशयेत्। स्वाहेति मन्त्रेणानेन प्रलहं च ततः परम्। साश्रयं सावलम्बं च कव्यादीन् मर्दयेदनु ॥ (उत्तर १)। बालक को बैठाने के नियम निम्न होते हैं। बालक को प्रतिदिन थोड़ी देर बैठाया जाय, रोगी बालक को न बैठाया जाय, अकेला न बैठाया जाय, बैठाने का स्थान मृदास्तरणादि से युक्त हो, उसके आस-पास शस्त्रतोयाग्नि इत्यादि न हो इत्यादि। काश्यपसंहिता में इसका बहुत उत्तम वर्णन दिया है। वहाँ पर पाँचवें के बदले छठे महीने में उपवेशन विधि करने के लिए लिखा है—षष्ठे मासि पुण्याहेऽभ्यर्च्य देवतां, द्विजांश्च भोजनेन संतर्प्य दक्षिणामिः स्वस्ति वाच्य च, गृहमध्ये वास्तुमध्ये वा शुचौ देशे गोमयेनाद्भिश्च चतुर्हस्ताम्रां स्थण्डिलमुपलिप्य मण्डलं चतुरस्रं वा.....ततस्तं मण्डलमध्ये तथैव स्नातमलङ्कृतमहतवासं कुमारं प्राङ्मुखमुपवेशयेन्मुहूर्तम्। सोपाश्रयास्तरणपितायां भूमौ प्रतिदिनमभ्यासार्थं सकृदुपविशेदिति। तत्र श्लोकाः—उपलिप्ते शुचौ देशे शस्त्रतोयाग्निवर्जिते। उपविष्टं सकृच्चैनं न निरात्स्नापयेद् बुधे। स्तैमिलं कटिदैर्बन्धं पृष्ठमङ्गः श्रोमो ज्वरः। विण्मूत्रानिलसंरोधाध्मानं चात्युपवेशनात्। आसीनस्यातिबालस्य सततं भूमिसेवनात्। आसन्नान्येव दुःखानि निर्वातं गात्रमेदनम्। निर्वाताज्जर्जराङ्गत्वं वेदना ज्वरसंभवः। ततो न वृद्धिबालस्य कठोराङ्गत्वमेव च। तस्मान्नातिचिरं नैको न बालो न च रोगितः। उपवेश्यो भवेद्बालो नापुण्याहकृतादिकः ॥ (जातकमौत्तराध्याय)।

अजिघांसुः—स्वास्थ्यमजिघांसुः। बालक के स्वास्थ्य का नाश न करने की इच्छा रखने वाला। हिंसा या घात का संबंध बालक की मृत्यु के साथ नहीं है। यह आलंकारिक शब्द है। इसका अभिप्राय यह है कि जो उपर्युक्त सूचनाओं के अनुसार बालक के साथ बर्ताव नहीं करता, वह बालक के स्वास्थ्य का नाश करता है याने एक दृष्टि से वह बालक की हिंसा करने वाला होता है। जैसे कि—पृथक्स्थया च नारीणामशस्त्रवध उच्यते। 'अजिघांसुः' यह माता का, धात्री का या बालक के लिए रखे हुए नौकर का विशेषण है—अजिघांसुरिति अहन्तुमिच्छुः सन् बालग्राहक इति शेषः। (डल्हन)। इसी को कुमारधार कहते हैं—अभियुक्तः सदाचारो नातिस्थूलो न लोलुपः। कुमारधारः कर्तव्यस्त्राघो बालचित्तवित् ॥ अधार्मिकं दुराचारः स्थूलो विकटगामिनम्। करोति लोलुपो बालं धसरत्वेन रोगिणम् ॥ (अष्टांगसंग्रह)। इसमें 'तत्राघो बालचित्तवित्' यह विशेषण बहुत महत्व का है। इसका अभिप्राय यह है कि कुमारधार बालस्वभाव को जानने वाला हो और उसके साथ इस प्रकार का बर्ताव करे कि बालक के मन पर चोट न पहुँच जाय। साथ ही साथ उस बर्ताव से बालक को कोई बुरी आदत न लग जाय और कोई बुरी आदत (असत्त्व) हो तो धीरे धीरे छूट जाय। यही तत्त्व 'नित्यं चैनमनुवर्तते प्रियशतैरजिघांसुः' इस सुश्रुत के वचन में और निम्न चरक के वचन में पर्याय से बताया गया है—अरोगे त्वरोगवृत्तमातिष्ठेदशकालात्मगुणविपर्ययेण वर्तमानः, क्रमेणासात्म्यानि परिवर्त्योपयुजानः सर्वाण्यहितानि वर्जयेत् ॥ (चरक, शा० ८)। दुर्ग्रहोपसर्गतश्च—स्कन्दादि बालकों के जो नवग्रह होते हैं, उनके उपसर्ग से। स्कन्दग्रहस्तु प्रथमः स्कन्दापस्मार एव च। शकुनी रेवती चैव पूतना चान्धपूतना ॥ पूतना शीतनामा च तथैव मुखमण्डिका। नवमो नैगमेषध्वजः पितृग्रहसंज्ञितः ॥ (उत्तर ७)। इनका उपसर्ग होने के कारण—धात्रीमात्रोः प्राक्प्रदिष्टापचाराच्छौचभ्रष्टान् मङ्गलाचारहीनान्। त्रस्तान् दृष्टांस्तर्जितान् ताडितान् वा पूजाहेतोर्हि स्युरेते कुमारान् ॥ (उत्तर २७)। श्लिनेति नियुक्तास्ते वलिपूजाभिकांक्षिणः। क्रुद्धान् भीतान् विमनसः शून्यस्थानेकचारिणः ॥ बालान् कश्मलधात्रीकान् संध्यासु रुदितो शुचीन्। क्रुद्धोलूकविडालादिरूपैरन्यैस्तथादभ्युनैः ॥ संत्रासयन्तः शयितान् कदाचिज्जाग्रतोऽपि वा। प्रायः पर्वसु गृह्णन्ति ग्रहाश्चिद्रप्रहारिणः ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर ३)। अर्थात् स्कन्दादि दुर्ग्रहोपसर्ग से बालक की रक्षा करने का मार्ग इन श्लोकों में वर्णन की हुई सूचनाओं के अनुसार बालक का पालन है। शून्यागार—इसका निषेध इसलिए किया गया है कि शून्यस्थान में बालक को रखने से स्कन्दादि ग्रहों का उपसर्ग हो जाता है। नाशुचौ—बालक जहाँ पर रक्खा जाय या जहाँ पर खेले, वह भूमि कैसी होनी चाहिए; इसके संबंध में अष्टांगसंग्रह में लिखा है—क्रीडाभूमिः समा कार्या निश्शस्त्रो-पलशर्करा। वेष्टोष्णकणाम्भोभिः सिक्ता निम्बोदकेन वा ॥ क्रीडाभूमि परं केकड़, पत्थर इत्यादि पदार्थ होने पर उनसे बालक को चोट लग सकती है या बालक उठाके उनको मुख में डाल सकता है। इसलिए भूमि इनसे विरहित होनी

चाहिए। धूलियुक्त भूमि होने से बालक का शरीर और कपड़े खराब हो जाया करते हैं तथा मिट्टी खाने का भी डर होता है। ओषधि-द्रव्यों के पानी से भूमि सिक्त करने पर ये दोष दूर हो जाते हैं। नाकासे—ऊँचा स्थान अथवा जहाँ पर कुछ भी आधार न हो, ऐसा स्थान—सोपाश्रयास्तरणोपेतायां भूमौ उपविशेदिति। (काश्यपसंहिता)। सुश्रुत में जिनका उल्लेख नहीं है, उन बातों का अब विचार किया जाता है। क्रीडनक या बच्चों के खिलौने के संबंध में चरक में लिखा है—क्रीडनकानि खलु कुमारस्य विचित्राणि घोषवन्त्यभिरामाणि चायुरूपि चातीक्ष्णाग्राणि चाना-स्वप्रवेशीनि चाप्राणहराणि चावित्रासनानि स्युः। (शारीर ८)। अतीक्ष्णाग्रं गवाश्वादिमङ्गल्यमथवा फलम्। (अष्टांगसंग्रह, उत्तर १)। अष्टांगसंग्रह में बालक के पालन में निम्न श्लोकार्थ मिलता है—वस्त्रपातात् परस्पर्शात् पालयेत्लंघनाच्च तम्। वस्त्रपातात् मुखादिषु वस्त्रपतनम्। (इन्दु)। अनेक लोगों को सोते समय मुख पर वस्त्र ओढ़कर सोने की आदत होती है। यह आदत बहुत खराब है क्योंकि इससे श्वास-प्रश्वास के लिए स्वच्छ हवा नहीं मिल सकती। बड़े आदमी में इस आदत से अधिक नुकसान होने का डर नहीं रहता क्योंकि दम घुटते ही नींद में भी वह मुख के ऊपर के कपड़े को दूर कर सकता है। बच्चों में मुख पर वस्त्र गिरने पर दम घुटके मरने का डर रहता है क्योंकि वे स्वयं वस्त्र को दूर करने में असमर्थ होते हैं। इसलिए जाग्रतावस्था में बालक के मुख पर वस्त्र गिर जाय तो उसको खट से दूर करना चाहिए तथा निद्रितावस्था में उसके मुख पर वस्त्र कदापि भी न डालना चाहिए। जाग्रतावस्था की अपेक्षा निद्रितावस्था में मुखाच्छादन में अधिक खतरा होता है क्योंकि बालक के निद्रित होने के कारण बहुत देर तक उसके तरफ कोई नहीं देखता और निद्रितावस्था में बालक निश्चल होने के कारण श्वासावरोध होने की संभावना होती है। इसका विशेष निर्देश करने का कारण यह है कि मच्छरों या मक्खियों से बचाने के लिए कई माताएँ बालक निद्रित होने पर उसको पूर्णतया वस्त्र से आच्छादित करती हैं। मच्छरादि से बचाने का उत्तम मार्ग मशहरी है, बालक को पूर्णतया वस्त्र से आच्छादन करना नहीं है। परस्पर्शात्—पर से उन लोगों का बोध होता है, जो बालक के स्वास्थ्य के नाशक होते हैं याने जिघांसुः। इसमें बालकद्वेषी और नौकरों का समावेश कर सकते हैं। बालकद्वेषी लोगों के स्पर्श से नजर लगने का डर रहता है। नजर लगने की घटना पर किसी का विश्वास हो या न हो, यह घटना होती है; इसमें संदेह नहीं। जिनका विश्वास नहीं, वे दूसरी तरह से उस घटना का अर्थ करने की कोशिश करते हैं। बालक का नौकर या धात्री किस प्रकार के होने चाहिए, इसका विवरण पीछे बहुत कुछ हो चुका है। इस प्रकार के स्वच्छ और उत्तम आचार के अन्य नौकर नहीं हो सकते। इनके स्पर्श से बालकों में खुजली, द्राजन इत्यादि अनेक त्वचा के रोग, आँखों के रोग, जूँ, लीखें, कृमि इत्यादि उपद्रव हो जाते हैं। इसलिए किसी अज्ञात मनुष्य के पास बालक

को न देना चाहिए। लंघितात्—लंघन से यहाँ अपतर्पण या हीन मात्रा भोजन अभिप्रेत है। बालक में क्षतिपूर्ति के अलावा धातुवृद्धि बहुत होती है। इसलिए उसको सन्तर्पण या वृंहण करना चाहिए—वृंहयेत् सूतिकावालवृद्धान्। (अष्टांगसंग्रह, सूत्र २४)। अर्थात् बालक बृंह्य होता है। स्वस्थावस्था में उसको पर्याप्त मात्रा में पौष्टिकाश्न देना चाहिए। जब बालक रोगपीडित हो जाता है, तब अपतर्पण या लंघन की आवश्यकता होती है। उस समय लंघन कराने में कोई आपत्ति नहीं (पीछे ४४वें प्रथम श्लोकार्थ का वक्तव्य देखो) है, परंतु उसकी उपयोगिता देखकर लंघन करना चाहिए—वृंह्यास्तु मृदु लंघयेत्। युक्त्या वा देशकालादि-वर्ततस्तानुपाचरेत्॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र २४)।

क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमथापि वा।

दद्यादास्तन्यपर्याप्तिर्वातानां वीक्ष्य मात्रया ॥५१॥

(स्तन्याभावे देने योग्य दूध—) (माता का या धात्री का स्तन्य न मिलने पर बालकों को) स्तन्य सात्म्य होने के कारण बकरी का अथवा गौ का दूध स्तन्यपर्याप्ति तक मात्रा के अनुसार देवे ॥५१॥

वक्तव्य—इस श्लोक में माता का या धात्री का दूध न मिलने पर किसका दूध बालक को देना चाहिए, इसका निर्देश किया है। वाग्भटाचार्य के इस विषय के संबंध में निम्न श्लोक लिखते हैं—स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिवेत्। (उत्तर १)। यह श्लोकार्थ सुश्रुत श्लोक के उत्तरार्थ के साथ थोड़ा सा फर्क करके निम्नलिखित प्रकार से मिलाया जाय तो कृत्रिम दुग्धपान (Artificial feeding) के तत्त्व संक्षेप में वर्णन करने वाला एक सुंदर श्लोक बनता है—स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं कृतम्। दद्यादास्तन्यपर्याप्तिर्वातानां वीक्ष्य मात्रया ॥ क्षीरसात्म्यतया—क्षीरसात्म्य के दो कारण बताये जाते हैं—(१) मधुरं पिच्छलं शीतं स्निग्धं श्लक्ष्णं सरं मृदु। सर्वप्राणभृतां तस्मात् सात्म्यं क्षीरमिहोच्यते ॥ (सूत्र ४५)। (२) तत्रैकान्त-हितानि जातिसात्म्यात् सलिलघृतदुग्धोदनप्रभृतीनि। (सूत्र २०)। जातिसात्म्यादिति मनुष्यजातिसात्म्यात्। आत्मना देहेन स्थितं द्रव्य-मविकारि सात्म्यम्। (चक्रपाणिदत्त)। जातिसात्म्य को सहज सात्म्य कह सकते हैं। इन कारणों का जरा विस्तार से विवरण किया जाता है। प्राणियों में स्तनयुक्त प्राणियों का (Mammals) एक बड़ा भारी विभाग है। इस विभाग के प्राणियों का पोषण वचपन में स्तन्य याने दूध से होता है। मनुष्यजाति सस्तन प्राणिवर्ग में से है, इसलिए दूध मनुष्यों के लिए जातिसात्म्य है याने जन्म से ही हितकर होता है। सात्म्य वस्तु वह हो सकती है, जिसका संगठन शरीर के संगठन के साथ मिलता है। दूध एक ऐसा पदार्थ है कि जिसका संगठन शरीरसंगठन के साथ पूर्णतया मिल जाता है (सूत्रस्थान ४५ के ४९वें सूत्र का वक्तव्य तथा ४६ के ५२४वें श्लोक का वक्तव्य देखो), इसलिए दूध सात्म्य है। परन्तु केवल संगठन से सात्म्यता का विचार पूरा नहीं हो सकता, उस वस्तु की भौतिक स्थिति का और पचनीयता का भी सवाल आता है। जैसे, लड्डू और रोटी जवानी में

साल्म्य होने पर बालक के लिए साल्म्य नहीं हो सकते (सूत्रस्थान ४६ के ४९४वें श्लोक का वक्तव्य देखो), क्योंकि इनका रासायनिक संगठन ठीक होने पर भी बालक न इनको सेवन कर सकता है, न हजम कर सकता है। दूध पानी के समान पतला होने के कारण प्रथम दिन का बालक तक उसको सेवन कर सकता है तथा तद्वत् प्रोटीनादि अवयव इस कदर सूक्ष्म कणों के रूप में उसमें मिले हुए होते हैं कि उनके पाचन में बालक के पचनसंस्थान को किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होती है। इसलिए दूध सब दृष्टि से विचार करने पर भी साल्म्य होता है। आज गव्यमथापि वा—आयुर्वेद में अष्टविध दूध (सूत्र ४५ का ४९०वाँ श्लोक देखो) पीने के काम के लिए योग्य बताया गया है। आधुनिक काल में गन्धी के दूध का समावेश इसी में कर सकते हैं। इस तरह नवविध दूध हो जाता है। भारतवर्ष में प्राचीन काल में गन्धा गुण ग्रहण के लिए योग्य—अविश्रान्तं वहेद्भारं शीतोष्णं न च विन्दति। ससन्तोषस्था नित्यं श्रीणि शिक्षेत गर्दभात्॥ (चाणक्य)—मानने पर भी मंदबुद्धि और अपवित्रता के कारण दुग्धग्रहण के लिए योग्य नहीं माना गया था। अतः पीने के दूध में गन्धी के दूध का समावेश नहीं माना गया है। प्रलेपादि में इसका उपयोग किया जाता है (सूत्रस्थान के ४५वें अध्याय के ४९०वें श्लोक के वक्तव्य में डल्हन का वचन देखो)। इसमें संदेह नहीं कि गन्धी के दूध का संगठन स्त्री के दूध के साथ औरों की अपेक्षा अधिक मिलता है (सूत्र ४५ के ४९०वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। अष्टविध दुग्धों में गौ, भैंस और बकरी का दूध सब को मिल सकता है। इनमें भैंस का दूध अत्यन्त गरिष्ठ होने के कारण बालक के लिए अयोग्य है। इसलिए गौ का और बकरी का ही दूध देने योग्य रह गया। आस्तन्यपर्याप्तिः—यावत् स्तन्यस्य पुनः पर्याप्तिः परि समन्ततो भावेन प्राप्तिर्भवति, अथवा यावत् स्तन्यपानस्य योग्यता तावदित्यर्थः। (डल्हन)। स्तन्याभाव के मुख्य दो कारण होते हैं—नित्य और नैमित्तिक। नित्य में माता की मृत्यु प्रधान है। इसके सिवा काम्य और निषिद्ध भी दो नित्य के प्रकार होते हैं। जब माता स्वस्थ होने पर भी बालक को पिलाना नहीं चाहती, तब वह काम्य परंतु नित्य स्तन्याभाव हो जाता है। जब माता राज्यक्ष्मा, कुष्ठ, फिरंग इत्यादि शरीरक्षयकर रोगों से पीडित होती है, तब स्तन्यपान का निषेध होता है। इसको निषिद्ध और नित्य स्तन्याभाव कह सकते हैं। जब माता बालक को पिलाती है, परंतु बीच में लंघन, उपवास, ज्वर या अन्य विकारों से पीडित होने के कारण नहीं पिल्ल सकती, तब उस स्तन्याभाव को नैमित्तिक कहते हैं। डल्हनवचन के प्रथमार्ध में इस नैमित्तिक स्तन्याभाव की दृष्टि से अर्थ किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जब किसी निमित्त से माता का स्तन्य बंद हो जाय, तब उस समय बच्चे को गौ या बकरी का दूध पिलावे और जब स्तन्य पूर्ववत् आने लगे, तब बाहर का दूध देना बंद किया जाय। अभाव में अल्पता (Deficiency) का भी समावेश होता है। अगर माता का दूध पर्याप्त न हो तो कमी की

पूर्ति गौ या बकरी के दूध से (Mixed breast and bottle feeding) की जाय। इस बीच में दूध बढ़ाने की कोशिश करने पर अगर दूध बढ़ जाय तो गौ का दूध बंद कर सकते हैं। अगर दूध न बढ़ा तो यही मिश्र दुग्धपान की परम्परा स्तनत्यागकाल (Weaning) तक जारी रखी जाय। यावत् स्तन्यपानस्य योग्यता यावत् स्तन्यपानस्योपयोगिता, आवश्यकता वा। माता बालक को कब तक स्तन्यपान करावे, यह एक बड़ा महत्त्व का प्रश्न है। इस प्रश्न का विचार माता और बालक दोनों की ओर से करना चाहिए। अगर दोनों स्वस्थ हों तो इस प्रश्न का विचार निम्न प्रकार से करना चाहिए। दूध जिन्दगी भर का आहार नहीं है। बाल्यावस्था में एक काल तक वह पूर्णाहार होता है। उसके पश्चात् कुछ काल तक वह आंशिकाहार होता है और उसके पश्चात् वह गौणाहार होता है। बाल्यावस्था में अन्न सेवन न करने का कारण पचनसंस्थान का अन्न सेवन और पचन करने का असामर्थ्य है। यह असामर्थ्य अधिकतर दाँतों के न होने से होता है। जब दाँत आने लगते हैं, तब धीरे धीरे बालक को अन्न का कुछ अंश दिया जाता है और दूध की राशि कम की जाती है—अथैनं जातदशनं क्रमशोपनयेत् स्तनात्। पूर्वोक्तं योजयेत् क्षीरमन्नं च लघु बृंहणम्। भजेद्यथा यथा चान्नं स्तन्यं त्याज्यं तथा तथा॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर १)। इसका साधारण काल नौ महीने का होता है। स्तन्य के द्वारा बालक माता के शरीर का शोषण करता है। जब तक माता स्वस्थ होती है, तब तक बृंहण आहार-विहार से इस शोषण की पूर्ति की जाती है, परंतु जब माता अस्वस्थ हो जाती है, तब वह पर्याप्त मात्रा में आहार सेवन नहीं कर सकती तथा स्तन्यशोषण के कारण उसका अस्वास्थ्य और भी खराब हो जाता है। इसलिए यदि माता का स्वास्थ्य ठीक न हो तो कुछ पहले स्तनपान बंद करना उचित है। इसका औसतकाल छः महीने का समझ सकते हैं। जब बालक अस्वस्थ रहता है, तब उसके लिए बाहरी दूध की अपेक्षा माता का दूध अधिक हितकर होता है। इसलिए बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से कुछ पीछे स्तनत्याग करना उचित है। इसका औसतकाल एक साल का होता है। संक्षेप में बालक की आयु नौ महीने की होने पर उसको स्तनपान से दूर करना चाहिए। अगर इसके पहले से माता का स्वास्थ्य ठीक न हो तो बालक नौ महीने का होने से पूर्व उसको दूर करना उचित है। अगर स्तनत्याग करने के समय बालक का स्वास्थ्य खराब हो जाय तो उस समय स्तनत्याग न करके उसका स्वास्थ्य अच्छा होने के बाद स्तनत्याग करना चाहिए। एक बरस की उम्र के पश्चात् स्तनपान जारी रखना किसी हालत में ठीक नहीं है क्योंकि उस आयु में बालक को कुछ अन्न आने लगती है, जिसके कारण स्तनपान उसके लिए क्षुधानिवारण का उपाय न रहकर एक व्यसन बन जाता है और उसके बाद उसको स्तनपान से निवृत्त करने में कठिनाई होती है। आयुर्वेद में स्तनत्याग का जो काल दिया है, वैसा ही काल पाश्चात्य बालचिकित्सक बताते हैं—A child should be weaned

at nine months. Weaning should be gradual. *Ten Teacher's Midwifery*. Wean at a year old, or as soon as a child has teeth enough to make a good beginning at mastication. *Esoteric Anthropology*. इस विषय का कुछ अधिक विवरण आगे के सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। मात्रा—जब तक बालक माता का या धात्री का दूध पीता है, तब तक मात्रा का उतना सवाल नहीं उठता, परंतु जब गौ का दूध दिया जाता है, तब मात्रा का अधिक ख्याल रखना पड़ता है। मात्रा का विचार दो प्रकार से करना पड़ता है—प्रत्येक समय की मात्रा और दिन-रात की मात्रा। प्रत्येक समय की मात्रा जठर की समाई के बराबर या उससे कुछ कम होनी चाहिए। बालक के जठर की समाई प्रथम दिन एक औंस (ढाई तोला), दो सप्ताह पर दो औंस, एक महीने पर ढाई औंस, तीन महीने पर साढ़े चार औंस, चौथे महीने पर पाँच औंस, पाँचवें महीने पर साढ़े पाँच औंस, छठे महीने पर छः औंस, सातवें महीने पर साढ़े छः औंस, आठवें महीने पर सात औंस, नौवें महीने पर साढ़े सात औंस, दसवें महीने पर आठ औंस, ग्यारहवें महीने पर साढ़े आठ औंस, और बारहवें महीने पर नौ औंस होती है। अर्थात् प्रत्येक समय आयु के अनुसार इतना दूध बालक को पिलाया जा सकता है। इससे अधिक कदापि भी न पिलाना चाहिए। दिन रात पिलाने का साधारण नियम यह है कि प्रथम महीने में प्रत्येक दो दो घंटे के बाद और कुल पान दस, दूसरे और तीसरे महीने में ढाई ढाई घंटे के बाद और कुल पान (Feeds) आठ, चौथे और पाँचवें महीने में प्रत्येक तीन तीन घंटे के बाद और कुल पान सात, छठे और सातवें महीने में प्रत्येक साढ़े तीन घंटे के बाद और कुल पान छः, और इसके बाद प्रत्येक चौथे घंटे के बाद और कुल पान पाँच दिये जायें। यह साधारण नियम बताया गया है। बालक की पचनशक्ति, शक्ति और उपचय देखकर इसमें न्यूनाधिकता करनी चाहिए।

स्तन्य के अभाव में किसका दूध दिया जाय ?—यहाँ पर गौ का या बकरी का दूध देने के लिए कहा है। आयुर्वेद में गौ का दूध सर्वश्रेष्ठ माना गया है—गोक्षीरं क्षीराणां श्रेष्ठतमम्। (चरक, सूत्र २५)। गव्यं क्षीरं घृतं श्रेष्ठम्। (सुश्रुत, सूत्र ४९)। गव्यं क्षीरघृते श्रेष्ठे। (अष्टांगहृदय, अष्टांगसंग्रह)। इसलिए यद्यपि वाग्भट तथा सुश्रुत में गौ के दूध के पहले बकरी के दूध का उल्लेख आया है तथापि वह प्राधान्य ख्यापनार्थ न होकर छन्दोऽनुसोधाद्यर्थ है। स्तन्याभाव में प्रथम गौ का ही दूध देना चाहिए। अगर गौ का दूध न मिल सके या दरिद्रता के कारण उसको प्राप्त न कर सके तो बकरी का दूध प्रयोग में ला सकते हैं। इसके अलावा जब बालक की पचनशक्ति क्षीण होती है तथा अतीसार प्रवाहिकादि उपद्रव होते हैं, तब गौ के दूध की अपेक्षा बकरी का दूध फायदेमन्द होता है। ऐसी कोई कठिनाई या आवश्यकता न हो तो हमेशा गौ का ही दूध बालक को

देना चाहिए। पाश्चात्य देशों में भी बालक के लिए गौ के दूध का ही उपयोग किया जाता है।

दूध किस प्रकार से दिया जाय ?—माता के दूध का मुकाबला अन्य किसी दूध से नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वभाव से बालक के लिए ही उत्पन्न किया गया है तथा बालक की आवश्यकताओं के अनुसार उसमें दिन प्रतिदिन और मासानुमासिक फर्क होता जाता है। यह कथन प्रत्येक जाति के सस्तन प्राणी के लिए लागू है। इसलिए एक जाति के सस्तन प्राणी का दूध दूसरी जाति के सस्तन प्राणी के लिए पूर्णतया सुआफिक नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक प्राणी की आवश्यकताएँ भिन्न भिन्न होती हैं। तथापि सब जातियों के प्राणियों का दूध बच्चों के पोषण के लिए ही उत्पन्न किया गया है, यह बात सब जातियों के दूधों की सामान्यता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है और इसी सामान्यता के आधार पर मातृस्तन्याभावे दूसरी जाति के प्राणी का दूध उपयोग में लाया जाता है। गौ का दूध तमाम संसार भर में बालक के लिए प्रयुक्त होता है। भारतवर्ष में तो गौ माता ही मानी जाती है। अब सवाल यह है कि गौ का दूध बालक को किस तरह से दिया जाय ? इसका उत्तर वाग्भटाचार्य देते हैं—तद्गुणं पिबेत्। तद्गुणम्—प्राचीन और अर्वाचीन काल के अनुसार इसके भिन्न भिन्न अर्थ कर सकते हैं—(१) प्राचीन काल के अनुसार वाग्भटाचार्य के श्लोकार्थ का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं—मातृस्तन्याभावे गव्यमाजं वा दुग्धं तद्गुणं (मातृस्तन्यगुणं) भवत्यतस्तं पिबेत्। माता का दूध न मिलने पर उसके दूध के समान गुण का गौ का या बकरी का दूध सेवन किया जाय। अर्थात् प्राचीन कल्पना के अनुसार गौ का दूध गुण की दृष्टि से माता के दूध के समान होता है। बच्चे के देते समय उसमें कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होती (Whole milk undiluted and unaltered) यही इसका मतलब आधुनिक कल्पना के अनुसार निकलता है। वाग्भटाचार्य इस दूध में बृहत्यादि ओषधियों का उपयोग करने के लिए कहते हैं—स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत्। मूलेः सिद्धं बृहत्याद्यैः स्थिराभ्यां वा सितायुतम् ॥ (उत्तर १)। तद्गुण का अर्थ टीकाकार निम्न प्रकार से करते हैं—स्त्रीस्तन्याभावे तद्गुणमिति पूर्वोक्तस्य स्त्रीस्तन्यस्य सर्वैराकारादिभिरगुणैः सदृशम्। (इन्दु)। स्तन्यस्याभावे सति छागं पयो गव्यं वा छागतुल्यगुणं पिबेत्। छागसमानगुणं गव्यं कथं स्यात्तथाह। हस्वेनेत्यादि। (अरुणदत्त)। इसमें अरुणदत्त का अर्थ बिलकुल गलत है, उसका विचार करने का कारण नहीं है। इन्दु के कहने का तात्पर्य यह है कि माता के उत्तम दूध के जो लक्षण पीछे ३३वें सूत्र में वर्णन किये गये हैं उन लक्षणों से युक्त याने अदूषित दूध। इस प्रकार का अर्थ ऊपर जो अर्थ दिया है उससे विरोधी नहीं है। (२) अर्वाचीन कल्पना के अनुसार उक्त श्लोकार्थ का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं—मातृस्तन्याभावे गव्यमाजं वा दुग्धं तद्गुणं कृत्वा पिबेत्। आधुनिक काल में रसायनशास्त्र की उन्नति होने पर भिन्न भिन्न प्राणियों के दूधों का भी पृथक्करण होने लगा। इससे मालूम हुआ कि यद्यपि दूध का सामान्य संगठन एक

होता है तथापि उसके अवयवों की मात्रा प्रत्येक प्राणी के दूध में भिन्न भिन्न (क्षीरवर्गों में संगठन की तालिका देखो) हुआ करती है और यह अवयवमात्राभिन्नता प्रत्येक जाति के प्राणी की आवश्यकताएँ विभिन्न होने के कारण रखी गई है। अगर एक जाति के प्राणी का दूध दूसरी जाति के बालक के लिए उपयोग में लाना हो तो इस भिन्नता को दूर करना चाहिए, यही इससे अर्थ निकलता है। इसलिए अन्य प्राणियों का दूध बालक को देते समय उसमें इस तरह परिवर्तन किये जाते हैं कि उसके अवयवों की मात्रा स्त्रीदूध के समान हो जाय। प्रस्तुत गौ के दूध का ही विचार करना है। इसलिए यहाँ पर स्त्री के और गौ के दूध के भेद प्रथम वर्णन किये जाते हैं।

गौ के और माता के दूध में भेद—(१) माता का दूध बालक को शरीरतापक्रम (Body temperature) पर मिलता है, जिसके कारण उनको गरम करने में या ठंडा करने में बालक की शक्ति खर्च नहीं होती। गौ का या अन्य प्राणी का दूध इस प्रकार नहीं मिलता। (२) माता का दूध, बाह्य जगत् का संबंध न होकर, सीधा बालक के शरीर में चला जाता है। गौ का दूध हवा, पात्र, हाथ इत्यादि से बहुत देर तक संबंधित रहता है। इसलिए माता का दूध अदूषित स्थिति में बालक को मिलता है; गौ का इस प्रकार नहीं मिल सकता। यही कारण है कि माता का दूध जीवाणुरहित और गौ का दूध जीवाणुयुक्त रहता है। (३) माता के शरीर में अनेक रोगों के लिए जो क्षमता होती है, उसका भी कुछ अंश स्तन्य के द्वारा बालक को मिलता है। गौ के दूध से इस प्रकार का लाभ नहीं होता। (४) माता का दूध बालक के शरीर में स्वाभाविक स्थिति में जाता है। उसमें कोई कृत्रिम परिवर्तन नहीं होता। इसलिए उसकी पौष्टिकता अप्रतिहत रहती है। गौ का दूध स्वाभाविक स्थिति में नहीं मिलता। इसलिए उसकी पौष्टिकता कुछ घटिया होती है। (५) माता के दूध की अपेक्षा गौ के दूध में कुल प्रोटीनों की राशि दुगुनी होती है। इसके सिवा माता के दूध में ल्याकटाल्यूमिन की राशि गौ के दूध की अपेक्षा दुगुनी होती है और क्यासिनोजन की राशि केवल १/३ होती है। प्रोटीनों के प्रकारों की राशि का यह भेद पचन की दृष्टि से विशेष महत्व का है। क्यासिनोजन पचने में कठिन होता है और वही गौ के दूध में अधिक रहता है और ल्याकटाल्यूमिन पचन में हलका रहता है और वही कम रहता है। (६) दुग्धशर्करा की राशि माता के दूध में गौ के दूध की अपेक्षा दुगुनी के करीब होती है। इसलिए माता का दूध गौ के दूध की अपेक्षा अधिक मीठा होता है और बालक भी उसको गौ के दूध की अपेक्षा अधिक पसंद करता है। (७) माता के दूध की प्रतिक्रिया क्षारीय और गौ के दूध की अम्ल होती है। (८) स्नेह की राशि यद्यपि दोनों में एक-सी होती है तथापि माता के दूध का स्नेह गौ के दूध के स्नेह की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म कणों के रूप में दूध में फैला रहता है। इस कारण माता के दूध

का स्नेह गौ के दूध के स्नेह की अपेक्षा सुपाच्य और सुशोध्य रहता है। (९) माता के दूध में खनिज द्रव्य की राशि गौ के दूध की अपेक्षा कम रहती है। आधुनिक खोज से सिद्ध हुए माता और गौ के दूध के ये भेद देखकर 'मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये' (अष्टांगहृदय, उत्तर १) इस वाग्भटाचार्य के वचन की यथार्थता और अपने ही दूध से बालक के पोषण की माता की कर्तव्यता स्पष्ट हो जाती है। परंतु जब विवश होकर गौ का दूध देना पड़ता है, तब उपर्युक्त भेद रूप दोषों को जहाँ तक हो सके दूर करके देने की कोशिश करनी चाहिए। गौ के दूध में कुछ दोष ऐसे होते हैं कि जो मुश्किल से दूर किये जा सकते हैं—जैसे, प्रथम चार भेद। कुछ ऐसे होते हैं कि जो अधिकांश दूर किये जा सकते हैं—जैसे, प्रोटीनादि की राशि। कृत्रिम दूध में गौ के दूध के ये दोष हटाकर उसको माता के दूध के समान (तद्रूप) करने की कोशिश की जाती है।

तद्रूप करने की विधियाँ—(१) जलमिश्रण (Dilution)—गौ के दूध में प्रोटीनों की राशि दुगुनी होती है। उसको बराबर करने के लिए दूध के साथ उतना ही उबाला हुआ जल मिलाया जाता है। इससे प्रोटीनों की राशि स्तन्य के समान होती है, परंतु स्नेह और शर्करा भी कम हो जाती है। इसके लिए दूध में मलाई और चीनी मिलाई जाती है। शर्करा के लिए दुग्धशर्करा हो तो उत्तम है; न हो तो मामूली चीनी ३ औंस दूध के लिए एक चाय का चमच भर मिलाई जाती है। मलाई भी इसी प्रमाण में मिलाई जाती है। कुछ लोग दूध में मलाई मिलाने की अपेक्षा दूध पिलाने के बाद मछली का तेल आधी मात्रा में देना पसंद करते हैं। (२) गौ का दूध आमाशय में मा के दूध की अपेक्षा अधिक कठिन रूप में जम जाता है। इसको दूर करने के लिए दूध के साथ सोडियम सैट्रेट (Sodium citrate) एक औंस के पीछे एक ग्रेन के प्रमाण में मिलाया जाता है। इसके अलावा चूने का पानी, जौ का यूप, चावल का पानी इत्यादि अन्य द्रव्य भी मिलाये जाते हैं, परंतु सब से उत्तम सोडियम सैट्रेट है। (३) माता के दूध में जीवाणु नहीं होते, गौ के दूध में बहुत होते हैं। उनका नाश करना आवश्यक होता है। यह कार्य दूध उबालने से होता है। अधिक देर तक उबालना ठीक नहीं है। एक उबाल देकर दूध को उतारना चाहिए। अधिक देर तक दूध उबालने से उसकी पौष्टिकता कम होकर गरिष्ठता बढ़ती है। घरेलू कामों के लिए यह विधि उत्तम है। इसके अलावा भाप के द्वारा जीवाणुनाशन, पाश्चरायझेशन (Pasteurization १६०° फे० पर २० तक गरम करना) इनका भी उपयोग किया जाता है। इनमें उबालने की विधि सरल और अधिक विश्वसनीय है।

क्या गौ का दूध तद्रूप करना आवश्यक है?—कितनी भी कोशिशें क्यों न की जायें, गौ का दूध माता के दूध के समान कदापि नहीं हो सकता। परंतु उपर्युक्त विधियों का उपयोग करने से वह कुछ कुछ माता के दूध के समान हो जाता है। अब सवाल यह उठता है

कि क्या इस प्रकार की कोशिश करना आवश्यक है ? तार्किक दृष्टि से विचार करने पर इसका उत्तर पक्ष में ही देना पड़ता है । इसलिए कुछ लोग इस प्रकार का कृत्रिम दूध देना पसंद करते हैं । कुछ लोगों का यह मत है कि इस प्रकार का फेरफार करने की कोई आवश्यकता नहीं है । आखिर में गौ का भी दूध है और बैसा (Whole milk) ही दूध देने में कोई आपत्ति नहीं होती, बल्कि फायदा यह होता है कि बच्चे को दस्त खुलकर आता है । फेरफार किये हुए दूध से मलावरोध की शिकायत प्रायः होती है । गौ के दूध का यह दस्तावर गुण चरक, सुश्रुत, वाग्भट इन ग्रंथों में नहीं मिलता, परंतु काश्यपसंहिता में विशेष रूप से मिलता है—औषधाम्नातिभक्षत्वादिरेचयति तत् पयः । एतस्मात् कारणादुक्तं गवां क्षीरं रसायनम् । एष वैशेषिकगुणो गोक्षीरस्य प्रकीर्तितः ॥ (क्षीरगुणविशेषाध्याय) । परंतु इसमें दूध की निर्दोषता पर ध्यान देना चाहिए । निर्दोषता की दृष्टि से यदि हो सके तो बालक को धारोष्ण दूध देना ही उचित है । धारोष्ण दूध कैसे लेना चाहिए, इसका विचार सूत्रस्थान के ४५वें अध्याय के ६३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । धारोष्ण न मिल सके तो दूध को एक उबाल देकर लेना चाहिए ।

संक्षेप में स्नानाभाव होने पर गौ का धारोष्ण दूध यदि मिल सके तो देना उत्तम पक्ष है । यदि धारोष्ण दूध न मिल सके तो दूध को उबालकर देना उचित है । यदि संपूर्ण दूध मुवाफिक न हो तो तिहाई पानी और थोड़ी चीनी मिलाकर दे सकते हैं । विशेष करके जलमिश्र दूध प्रारंभिक तीन चार महीनों में देना ठीक है । उसके बाद संपूर्ण दूध दे सकते हैं । आयुर्वेद में संपूर्ण दूध देने का ही रिवाज है । केवल लघुपंचमूल या शालिपर्णी पृश्निपर्णी के साथ वह उबाला जाता है और उसमें थोड़ी चीनी भी मिलाई जाती है—स्नानाभावे पयश्छागं गन्धं वा तद्रूपं पिबेत् । हस्वेन पंचमूलेन स्थिरया वा सितायुतम् ॥ (अष्टांग-हृदय) । आज कल बच्चों को दूध पिलाने के लिए बोतल और चूसनी (Teats) का उपयोग किया जाता है । इससे दूध पिलाने में कुछ सुविधा जरूर है, परंतु यदि उनकी सफाई की ओर ध्यान न दिया जाय तो इनसे बालक को अधिक नुकसान होने का डर रहता है । अतः दूध पिलाने के बाद गरम पानी से इनको साफ करके रखना चाहिए । अन्यथा बोतलें दूषित होकर विविध रोग उत्पन्न हो सकते हैं—उपायं चिन्तयन् प्राज्ञो ह्यपयमपि चिन्तयेत् ।

षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेत्पु हितं च ॥५२॥

(अन्नप्राशनविधि—) छठे महीने में उसको हलका और हितकर अन्नप्राशन करावे ॥५२॥

वक्तव्य—पीछे १५वें सूत्र के वक्तव्य में यह बताया जा चुका है कि प्रसूतावस्था की अवधि तीन महीने की होती है और इस अवस्था की समाप्ति माता और बालक के देवदर्शन से की जाती है—चतुर्थे सुतिकागारादभिक्षन्द-पुरोगमन् । मासे निष्कामयेद् देवान् नमस्कृत् स्तब्धतम् ॥

(अष्टांगसंग्रह, उत्तर० १) । अष्टांगसंग्रह में यह श्लोक स्नाना-भाव के पश्चात् आता है । चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् । षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि, यद्वेष्टं मञ्जले कुले ॥ (मनुस्मृति, २-३४) । गृह्यसूत्रों में षष्ठ मास में अन्नप्राशन की विधि वर्णन की है—षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् । दधिमधुघृतमन्नं प्राशयेत् । अन्नप्राशन का मन्त्र—अन्नपतेऽन्नस्य नो देहानमीवस्य शुष्मिणः । प्र प्रदातारं तारिष ऊर्जं नो वेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥

षष्ठ मास में अन्नप्राशन की विधि का अर्थ यह नहीं है कि उस दिन से बालक को भरपेट अन्न दिया जाय । अन्न से यहाँ पर भक्ष्य और भोज्य पदार्थ समझने चाहिए । हिंदूधर्मशास्त्र में जो विविध संस्कार हैं, वे एक व्यक्ति के जीवन में जो विशेष कार्य होते हैं उनके लिए बनाये गये हैं । जैसे, घर के बाहर जाने का प्रारंभ गृह-निष्क्रमणविधि से, अन्नप्राशन का प्रारंभ अन्नप्राशनविधि से, हजामत करने का प्रारंभ चौलकर्मविधि से, विद्याभ्यास का उपनयनविधि से, स्त्री और पुरुष का पति-पत्नी के नाते रहने का विवाहविधि से, स्त्री-पुरुषसमागम का गर्भाधानविधि से इत्यादि । इन संस्कारों का अर्थ यह है कि विशिष्ट संस्कार के पहले विशिष्ट कार्य न किया जाय, वह विशिष्ट कार्य शुभ-सुहृत् पर मन्त्रों के द्वारा किया जाय और उसके पश्चात् आवश्यकता और शक्ति के अनुसार वह कार्य करने के लिए उस व्यक्ति के लिए स्वातन्त्र्य रहे । जैसे, उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक को श्रीगणेश से प्रारंभ करके धीरे धीरे उसकी शक्ति बढ़ने पर तमाम शास्त्र पढाये जाते हैं, वैसे ही अन्नप्राशनविधि के पश्चात् उसकी शक्ति बढ़ने पर धीरे धीरे उसको तमाम भक्ष्य भोज्य पदार्थ खिलाये जाते हैं । विद्याभ्यास में शक्ति से मस्तिष्क की शक्ति और अन्नप्राशन में शक्ति से पचनसंस्थान की शक्ति अभिप्रेत है । इसलिए अष्टांगसंग्रह में लिखा है—षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि क्रमात्तच्च प्रयोजयेत् । पचनसंस्थान की शक्ति पाचक रसों पर और दाँतों पर निर्भर होती है । अन्न के लिए दाँतों की आवश्यकता होती है । जब तक दाँत नहीं होते, तब तक अन्न देना हानिकारक होता है क्योंकि बालक बिना चबाये अन्न को निगल लेता है । अन्नसेवन और दाँतों का घनिष्ठ संबंध है । इसलिए दन्तोद्भेद के प्रारंभ में अन्नप्राशनविधि की जाती है और उसके पश्चात् जैसी जैसी दाँतों की वृद्धि होती जाती है, वैसी वैसी अन्न की राशि बढ़ाई जाती है । इसी दृष्टि से ऊपर के वाग्भट के वचन में 'क्रमात्' शब्द प्रयुक्त किया गया है । काश्यपसंहिता में छठे महीने में फलप्राशन कराने के लिए, दसवें महीने में अन्नप्राशन के लिए और बारहवें महीने के बाद वास्तविक अन्न देने के लिए लिखा है—तस्मिन्नेव (षष्ठे) मासि विविधानां फलानां प्राशनं मिषगनुतिष्ठेत् । तदिदं दन्तजातस्यान्नप्राशनं दशमे वा मासि प्रशस्तेऽहनि । उत्थाप्योर्ध्वं द्वादशमासिकस्यान्नमभिलषतोऽप्यश्वश्वेमानि दद्यादिति । शालीनां षट्कानां वा पुराणानां विशेषतः । तण्डुलैर्निस्तुषैर्भृष्टैः क्षालितैः साधिता द्रवाः ॥ सखेहलवणा लेह्या बालानां पुष्टिवर्धनाः । गोघृमानां तथा चूर्णं यवानां वाऽपि सान्म्यतः ॥ एकान्तरं द्यन्तरं वा देशाभिवलकालविद् । यदा वा क्षुधितं पश्येत् तदेनं सान्म-

माशयेत् ॥ (जातकर्मोत्तराध्याय) । बालक को अन्न देने में शीघ्रता कदापि न करनी चाहिए, शीघ्रता में स्वास्थ्य की हानि है। देर में अन्न देने में हानि नहीं है बल्कि फायदा होता है—चिरान्निषेवमाणोऽन्नं बालो नातुर्यमश्नुते । (अष्टांगसंग्रह) । काश्यपसंहिता में अन्न सेवन की जो साल भर की मर्यादा बताई गई है, वह 'तेषु संवत्सरपराः क्षीरदाः' (सूत्रस्थान ३५-३३) के साथ मिलती है। उस सूत्र का वक्तव्य भी देखो। अष्टांगसंग्रहटीकाकार तथा अष्टांगसंग्रहकार अन्नप्राशन का वास्तविक काल एक वर्ष का ही मानते हैं। 'अथैनं जातदशनम्' इस श्लोक की टीका में इन्दु लिखते हैं—अथ वर्षादनन्तरं जातदशनं बालं क्रमशः स्तनादपनयेत् । काश्यपसंहिताकार की बच्चों को फल देने की विधि भी बहुत स्वास्थ्यकर है। फलों से बालकों को सुपाच्य रस और जीवनीय द्रव्य (Vitamines) मिलते हैं, जो बचपन के शरीरवृद्धिकाल में बहुत आवश्यक होते हैं।

अन्नप्राशन, दन्तोद्भेद और स्तनापनयन इनका परस्पर संबंध है। इसलिए यहाँ पर स्तनापनयन और दन्तोद्भेद का अब विचार किया जाता है क्योंकि इनका विचार सुश्रुतसंहिता में नहीं किया गया है। स्तनापनयन (Weaning—) इसके काल का विचार पीछे ५१वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। स्तनापनयन क्रम से करना चाहिए, एकाएक करना उचित नहीं है और उसी के साथ साथ क्रम से अन्नप्राशन या गौ के दूध का सेवन कराना चाहिए। आयुर्वेद का यह एक सिद्धान्त है कि चाहे गुण हो, चाहे दोष; क्रम से और धीरे धीरे ग्रहण करना या छोड़ना चाहिए—क्रमेणापगता दोषाः क्रमेणापगता गुणाः । नान्त्वन्ति पुनर्भावमप्रकम्या भवन्ति हि ॥ (चरक, सूत्र ७) । स्तनापनयन के तीन उपाय अष्टांगसंग्रह में बताये हैं—कुर्वादिपस्तनं स्नेहसंक्रान्त्या स्तनलेपनैः । बीभत्सैर्यावकासेककृत्रिमक्षतदर्शनैः ॥ स्नेहसंक्रान्ति का मतलब यह है कि बालक को स्तनपान के लिए जो प्रेम होता है, वैसा प्रेम किसी दूसरे पदार्थ के लिए उत्पन्न करना। इसी काम के लिए यह प्रीणन मोदक दिया है—प्रियालमज्जमधुकमधुलाजसितोपलैः । अपस्तन्यस्य संयोज्यः प्रीणनो मोदकः शिशोः ॥ स्तन्यापनयन तथा अन्नसेवन या गोदुग्धसेवन से अगर बालक में अग्नि की मन्दता या प्रवाहिका उत्पन्न हो जाय तो निम्न ओषधियों का मोदक बनाकर दिया जाय—दीपनो बालविल्वैलाशर्करालाजसक्तुभिः । संग्राही धातकीपुष्पशर्करालाजतर्पणैः ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

दन्तोद्भेद (Dentition—) तरुण विवाहित स्त्रियों के जीवन में सगर्भावस्था और प्रसूति जैसी महत्त्व की घटनाएँ हैं, वैसी बाल्यावस्था में दन्तोद्भेद की घटना होती है। ये सब घटनाएँ वास्तव में स्वाभाविक हैं, अतएव अविकारी होनी चाहिए। परन्तु प्रायः इनका समावेश विकारी घटनाओं में किया जाता है—दन्तोद्भेदच सर्वरोगायतनम् । पृष्ठभजे विडालानां बहिर्णां च शिखोद्भेदे । दन्तोद्भेदे च बालानां न हि किञ्चित् दूयते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इसका कारण यह है कि स्वास्थ्य ठीक न होने से ये अवस्थाएँ स्वास्थ्य को और भी खराब करने वाली और अनेक विकार उत्पन्न करने वाली

होती हैं। अनेक बालकों का स्वास्थ्य किसी न किसी कारण से खराब रहता ही है। इसलिए दन्तोद्भेद के संबंध में इस प्रकार की कल्पना हो चुकी है। जिस बालक का स्वास्थ्य अच्छा होता है, उसको दाँत निकलने के समय ज़रा सी भी तकलीफ नहीं होती; न यह पता चलता है कि उसको दाँत निकल रहे हैं। मनुष्यों को दाँत दो बार आते हैं। जो पहली बार आते हैं, वे जल्दी गिर जाते हैं। ये प्रथम दन्त या अस्थायी दन्त (Temporary milk teeth) कहलाते हैं। जो दन्त दूसरी बार आते हैं, वे पुनर्दन्त या स्थायी दाँत (Permanent) कहलाते हैं। प्रथम दन्तों की संख्या २० होती है, उनकी उत्पत्ति का प्रारंभ ६-७ महीने की आयु से होता है और दस वर्ष की आयु तक वे पूरे निकल आते हैं—दन्तोद्भेदश्च दीर्घायुषोऽष्टमागमासात् परतो वा प्रवर्तते । इतरेषां तु चतुर्थात् । तत्रास्थिमज्जनौ दन्तोत्पत्तिहेतुः । तदा च तयोरसम्पूर्णविर्यत्वात् कालान्तरेण दन्तानां पतनमापूर्वमाणधातुत्वाच्च पुनरस्थानम् । पुनर्दन्तों की उत्पत्ति का प्रारंभ छठे साल से होता है और २५वें साल तक वे पूरे निकल आते हैं। इनकी संख्या बत्तीस होती है। दाँतों के लिए 'द्विज' शब्द प्रयुक्त होता है। परन्तु यह शब्द प्रत्येक दाँत के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि पुनर्दन्तों में से बारह दाँत केवल एक ही बार उत्पन्न होते हैं और बीस दाँतों का पुनर्जन्म होता है। अतः बारह सकृज्जात और बीस द्विज होते हैं—इह खलु नृणां द्वाविंशदन्ताः, तत्राष्टौ सकृज्जाताः स्वरूढदन्ता भवन्ति, अतः शेषा द्विजाः ॥ (काश्यपसंहिता, दन्तजन्मिकाध्याय) । यहाँ पर अष्टौ शब्द गलत मालूम होता है, इसके बदले द्वादश होना चाहिए। ये द्वादश सकृज्जात दाँत दाढ़ें (Molars) हैं। मुखमध्य के पास के दो दाँत कर्तनक (Incisors), उसके पास का एक भेदक (Canine) और उसके बाद के दो पूर्व चर्वणक (Premolars) कहलाते हैं। इस तरह प्रत्येक हनु के एक पक्ष में पाँच करके कुल बीस दाँत बचपन में निकलते हैं। पुनर्दन्तों में ये बीस और इनके अलावा हनु के प्रत्येक पक्ष में तीन चर्वणक (दाढ़ें) करके बारह दाढ़ें अधिक होती हैं। नीचे प्रथम दन्त और पुनर्दन्त इनकी उत्पत्ति का साधारण काल दिया जाता है—

नाम	प्रथमदन्त	काल	नाम	पुनर्दन्त	काल
नीचे के अन्तःकर्तनक	६-९	मास तक	प्रथम चर्वणक		६ वर्ष
ऊपर के चारों कर्तनक	८-१०	मास तक	कर्तनक		७-८ वर्ष
नीचे के बाह्य कर्तनक	१२-१४	मास तक	पूर्व चर्वणक		९-१० वर्ष
अगले चार पूर्व चर्वणक	१२-१४	मास तक	भेदक		११-१२ वर्ष
भेदक	१६-२०	मास तक	द्वितीय चर्वणक		१२-१३ वर्ष
पिछले पूर्व चर्वणक	२०-२४	मास तक	तृतीय चर्वणक		१७-२५ वर्ष

यह साधारण काल है। इसमें न्यूनाधिकता हो सकती है तथापि साधारणतया एक वर्ष के बालक के ६ दाँत, षेड वर्ष के शिशु के १२ दाँत, दो वर्ष के शिशु के १६ दाँत और ढाई वर्ष के शिशु के २० दाँत होने चाहिए। छठे साल में चार दाँत निकल आती हैं, जिससे दाँतों की संख्या २४ हो जाती है। साधारणतया नीचे के जबड़े के दाँत पहले निकलते हैं और पश्चात् वे दाँत ऊपर के जबड़े में निकलते हैं। आयुर्वेद में ऊपर के दाँतों का पूर्वजन्म एक उत्पात माना गया है और उसके लिए शान्ति करने के लिए लिखा है—यावत्स्वेव च मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते तावत्स्वेव च वर्षेषु पतिताः पुनरुद्भिच्यन्ते। तत्र मध्ये द्वावुत्तरो राजदन्त-संघौ भवतः, तौ पवित्री, तस्मात्ताभ्यां खण्डे न श्राद्धमर्हति, अपवित्रो हि सः। तत्र सदन्तजन्म च, पूर्वमुत्तरदन्तजन्म च, विरलदन्तजन्म च, हीनदन्तता च, अधिकदन्तता च, करालदन्तता च, विवर्णदन्तता च, स्फुटितदन्तता चामङ्गल्या भवति ॥ पूर्णता, समता, घनता, शुक्रता, खिग्धता, श्लक्ष्णता, निर्मलता, निरायमता, किञ्चिदुत्तरोन्नता, दन्तबन्धनानां च समता रक्ता खिग्धता बृहद्वनस्थिरमूलता चेति दन्तसम्पदुच्यते ॥ (काश्यपसंहिता)। राजदन्त शब्द का प्रयोग चरक में भी मिलता है। इससे Upper central incisors का बोध होता है। ये दाँत सामने विशेषतया प्रकट रहने के कारण इन्हीं के ऊपर दन्तपंक्ति की शोभा निर्भर होती है। इसलिए राजदन्त (दन्तानां राजा) कहलाते हैं।

दन्तोद्भेद की प्रक्रिया—दाँतों की उत्पत्ति दन्तबीजों (Special dental germs) से होती है। ये बीज प्रत्येक जबड़े में प्रथम दाँतों के लिए दस और पुनर्दाँतों के लिए सोलह होते हैं। प्रथम दाँतों के बीज आगे और पुनर्दाँतों के पीछे होते हैं। दन्तबीज की कल्पना अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट रूप में मिलती है—न पुनर्दन्तोत्पत्तिर्वलात्रिपतितानां तदधिष्ठानगतधातुबीजभ्रंशात्। (उत्तर २)। तदधिष्ठाने दन्ताधिष्ठाने गतो यो दन्तपोषको धातुस्तदेव बीजं तस्य नाशात्। (इन्दु)। इस बीज से उचित काल पर दाँत उत्पन्न होकर मसूढ़ों को छेदकर जबड़े से बाहर आते हैं। इसी को दन्तोद्भेद कहते हैं। बालक का स्वास्थ्य ठीक न होने पर मसूढ़ों को छेदकर जब दाँत बाहर आते हैं तब ज्वर, चिडचिड़ापन, रोदन, छिछेदेदार पतले दस्त, निद्रानाश, सृगी, कर्णशूल, खाँसी इत्यादि अनेक उपद्रव उत्पन्न होते हैं। दाँत जब बाहर आने लगते हैं, तब मसूढ़ों में सरसराहट भी होती है जिसके कारण बालक हर एक चीज को मसूढ़ों से काटना चाहता है। यह एक स्वाभाविक कार्य है, जो दाँतों के बाहर आने में सहायता करता है। इसलिए दाँत निकलना प्रारंभ होने पर बच्चे को कभी कभी एकाध चीज ऐसी देनी चाहिए, जिसमें दाँतों का उपयोग आवश्यक होता है। इससे दाँत जल्दी निकल आते हैं और मजबूत होते हैं—तौ तु धातु कालक्रमेण पच्यमानौ यदा दन्ताशयमनुप्रपद्येते तदास्य किञ्चिदुत्सेवेनोर्ध्वोदन्तमांससंघटना-दङ्गह्यौ जायते। तद्वत्तेन च श्लेष्मणा कण्डूस्तथा चूचुकं ददयते।

यद्यदालभते तत्तदासमानयति। मारुतश्चास्य दन्तमूलेषु मूर्च्छति। ततः स कफानुविद्धोऽस्थिमज्जस्थितः सर्वतो विसरन् सह पित्तेन धातून् मलांश्च दूषयन् विविधान्यथोदितानुपद्रवानभिनिर्वर्तयति ॥

दाँतों का संगठन अस्थि के समान होता है (पाँचवें अध्याय के २२वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। इसलिए आयुर्वेद में दाँत अस्थियों के साथ गिने गये हैं, दाँतों का उत्पत्तिहेतु अस्थि ही माना गया है—तत्रास्थिमज्जानौ दन्तोत्पत्तिहेतुः। (अष्टांगसंग्रह), और अस्थिरोगों के साथ दाँतों के रोग भी बताये गये हैं—अस्थिक्षयेऽस्थिशूलं दन्तनखभङ्गो रौक्ष्यं च। अस्थ्यध्यस्थीन्यधिदन्ताश्च। (सूत्र १५)। दाँतों को अस्थियों के साथ गिनने की आयुर्वेद की पद्धति यद्यपि पाश्चात्य मतानुसार ठीक नहीं मालूम होती तथापि यह वर्गीकरण रोगसंप्राप्ति और चिकित्सा की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। दाँतों और अस्थियों के लिए चूना (Calcium) और जीवद्रव्य डी (सूत्र ४६-५२४ के वक्तव्य में जीवद्रव्य देखो) की आवश्यकता होती है। आहार में दोनों उपस्थित रहने से हड्डियों और दाँतों की वृद्धि ठीक होती है। एक या दोनों की कमी होने से फ्रैक्चर या अस्थिवक्रता (Rickets), अस्थिमृदुता (Osteomalacia), कृमिदन्त (Dental caries) इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। अस्थिवक्रता बच्चों का रोग है। इसमें चूने की कमी से या जीवद्रव्य डी की कमी से चूने का सात्व्यीकरण ठीक न होने से हड्डियाँ और दाँत ठीक नहीं बनते, जिससे हड्डियाँ मृदु होती हैं और दाँत देर में निकलते हैं तथा खराब होते हैं। हड्डियाँ मृदु होने के कारण शरीर के दबाव से वक्र हो जाती हैं। यह वक्रता हाथ-पैर की हड्डियों में और पसलियों में अधिक दिखाई देती है। अस्थि या दन्त के रोगों में, इसलिए, दूध, अण्डा, फल, साग-सब्जी, मछली का तेल, सूर्यप्रकाश इत्यादि चूना और जीवद्रव्य डी इनसे युक्त आहार-विहार रखने से सफलता मिलती है। फ्रैक्चर क्या है?—यह बच्चों का एक रोग है, जो काश्यपसंहिता में कुछ विस्तार से वर्णन (फ्रैक्चरचिकित्साध्याय) किया गया है। चरक सुश्रुतादि अन्य उपलब्ध ग्रंथों में इसका नाम तक नहीं मिलता। इसके कारण और लक्षण नीचे दिये जाते हैं—बालः संवत्सरा(पत्रः) पादाभ्यां यो न गच्छति। स फ्रैक्चर इति विज्ञेयस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम्। संशुक्रस्फिचबाहूरुमहोदरशिरो-मुखः। पीताक्षो हृषितांगश्च दृश्यमानास्थिपिञ्जरः। प्रम्लानाधर-कायश्च निलम्बमूर्धुरीषकृत्। निश्चेष्टाधरकायो वा पाणिजानु-गमोऽपि वा। दीर्घव्यामन्दचेष्टश्च मदत्वात् परिभूतकः। मक्षिका-कृमिकीटानां गम्यश्चासन्नमृत्युरेकः। विशीर्णहृष्टरोमा च स्तब्धरोमा महानखः। दुर्गन्धी मलिनः क्रोधी फ्रैक्चरः श्वसिति ताम्ब्यति ॥ फ्रैक्चर का मुख्य लक्षण यह बताया गया है कि जिस समय बालक को चलना फिरना चाहिए, उस समय वह चल फिर नहीं सकता। इस लक्षण को चलनासामर्थ्य (Inability to walk) कहते हैं। चलने का असामर्थ्य दो प्रकार का होता है—एक चलने फिरने का कार्य शुरू होने के बाद और दूसरा चलना फिरना शुरू होने के पहले। यहाँ पर एक वर्ष की जो मर्यादा बतलाई है, उससे यह असामर्थ्य दूसरे

प्रकार का मालूम होता है। इस असामर्थ्य के तीन कारण राबर्ट हचीसन देते हैं—अस्थिवक्रता (Rickets), अंगघात (Paralysis) और बुद्धिहीनता (Mentally defective)। फफू रोग तीनों में से एक होना चाहिए। अब अन्य लक्षणों का विचार किया जाता है। महोदरशिरोमुखः—बच्चों में उदरवृद्धि के मुख्य दो कारण होते हैं—अस्थिवक्रता और उदरक्षय (Tabes mesenterica)। शिरोवृद्धि के भी दो कारण होते हैं—अस्थिवक्रता और जलशीर्ष (Hydrocephalus)। निलपुरीषकृत—बार बार मलत्याग करने वाला प्रवाहिका (Diarrhoea) युक्त। यह लक्षण उपर्युक्त रोगों में से अस्थिवक्रता और आन्त्रक्षय में होता है। क्रोधी—चिड़चिड़ा (Irritable)। यह लक्षण अन्य रोगों की अपेक्षा अस्थिवक्रता में ही मिलता है। श्वसिति ताम्यति—कमजोरी, छाती की विकृति, खाँसी इनके कारण अस्थिवक्रता में साँस, हाफनी यह लक्षण अधिक मिलता है। संक्षेप में प्रधान लक्षण तथा अन्य लक्षणों का विचार करने पर फफू आधुनिक अस्थिवक्रता (Rickets) मालूम होता है। परंतु यदि दोनों रोग शीघ्रता से पड़े जायें तो दोनों की एकता जल्दी ध्यान में नहीं आती। इसका कारण यह है कि अस्थिवक्रता के वर्णन में अधिक जोर शारीरिक विकृतियों के ऊपर दिया जाता है और फफू के वर्णन में शारीरिक कार्य की विकृतियों के ऊपर दिया गया है।

फफू के कारण—धारी श्लैष्मिकदुग्धा तु फफूदुग्धेति संज्ञिता। तत्क्षीरपो बहुव्याधिः काश्यात् फफूत्वमानुयात् ॥ क्षीरजं गर्भजं चैव तृतीयं व्याधिसंभवम्। फफूत्वं त्रिविधं प्रोक्तम् ॥ (काश्यप-संहिता)। अस्थिवक्रता का मुख्य कारण जीवद्रव्य डी की कमी है। इसके सिवा चूने की कमी, स्नेह और प्रोटीनों की, पिष्टमय पदार्थों की अधिकता ये भी आहार के दोष इसके कारण माने जाते हैं। पाश्चात्य ग्रंथों में यह लिखा जाता है कि अस्थिवक्रता रोग कृत्रिम दुग्धपान करने वाले बालकों में होता है, स्तन्यपान करने वालों में नहीं होता। यह कथन ठीक नहीं है। जिस प्रकार का सदोष आहार बालक में अस्थिवक्रता रोग उत्पन्न कर सकता है, वही आहार माता का स्तन्यपान करने वाले बालक में माता के द्वारा वही रोग उत्पन्न कर सकता है। इसी दृष्टि से अगर देखा जाय तो सदोष स्तन्यपान फफू का कारण हो सकता है और भारतवर्ष में कृत्रिम दुग्धपान की अपेक्षा सदोष स्तन्यपान इस रोग का अधिक महत्त्व का कारण होता है। इस रोग का मुख्य कारण जो जीवद्रव्य डी—वह जैसे खाद्य द्रव्यों से शरीर को मिलता है वैसा ही सूर्य की किरणों का शरीर की त्वचा पर कार्य होनेपर शरीर में ही उत्पन्न होता है। भारतवर्ष सूर्य प्रकाश वाला और उष्ण देश है। मनुष्यों की त्वचा भारतवर्ष में सूर्यकिरणों के लिए प्रतिदिन न्यूनधिक समय तक अनावृत रहा करती है। स्त्रियों में इतनी अनावृति नहीं हो सकती, यह बात सत्य है। इसलिए उनके शरीर में जीवद्रव्य डी की कुछ कमी हो सकती है। यूरोप के शीत और अति-शीत प्रदेशों में जहाँ पर सूर्यप्रकाश की कमी होती है और मनुष्य हमेशा वस्त्राच्छादित रहते हैं, वहाँ पर जीवद्रव्य डी

की कमी भारतवर्ष की अपेक्षा बहुत अधिक रहती है। इसलिए यूरोप के देशों में इस रोग का स्वरूप जितना तीव्र और प्रस्फुट होता है, उतना भारतवर्ष में कदापि नहीं हो सकता; इस बात को ज़रूर ध्यान में रखना चाहिए। पाश्चात्य ग्रंथोक्त अस्थिवक्रता के लक्षणों से फफू के लक्षण पूर्णतया न मिलने के जो अनेक कारण हो सकते हैं, उनमें उपर्युक्त कारण बहुत महत्त्व का है।

सम्प्राप्ति और लक्षण—जीवद्रव्य डी की कमी से चूना, फास्फरस तथा हड्डी के लिए आवश्यक अन्य खनिजों का शोषण और सात्मीकरण ठीक न होकर वे खनिज हड्डियों में भली भाँति संचित नहीं होते, जिससे अस्थियाँ सृढ़ रहती हैं और उनकी वृद्धि ठीक नहीं होती। इसका परिणाम यह होता है कि जिन हड्डियों के ऊपर दबाव पड़ता है, वे हड्डियाँ टेढ़ी हो जाया करती हैं। जैसे, हाथ-पैर की हड्डियाँ, छाती की पसलियाँ इत्यादि। यह लक्षण पाश्चात्य ग्रंथों में विशेष रूप से वर्णित होता है परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि यह लक्षण रोग की तीव्रता का निर्देशक है, जो भारतवर्ष में बहुत ही कम देखने में आता है। फफू के लक्षणों में अस्थियों की वक्रता का निर्देशन होने का यही कारण हो सकता है। इस लक्षण के अतिरिक्त शेष सब लक्षण फफू के वर्णन में मिलते हैं। जिनका निर्देश स्पष्ट रूप से नहीं है, वे निम्न लक्षण हैं। स्वस्थ बालक में पूर्वतालु १८-२४वें महीने तक पूर्णतया बंद हो जाती है और दाँत ६-८वें महीने में निकलने लगते हैं। फफू या अस्थिवक्रता से पीड़ित होने पर दोनों में देरी हो जाती है और जो हड्डियाँ या दाँत बनते हैं, वे कमजोर और झुर्राव होते हैं।

नित्यमवरोधरतश्च स्यात् कृतरक्ष उपसर्गभयात्; प्रयत्नतश्च ग्रहोपसर्गभ्यो रक्ष्या वाला भवन्ति ॥५३॥

(ग्रहोपसर्गप्रतिषेध का उपाय—) बालक की रक्षा करने वाला हमेशा (ग्रहों के) उपसर्ग के भय से अवरोध के भीतर रहे, (क्योंकि) ग्रहों के उपद्रवों से बालकों की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी पड़ती है ॥५३॥

वक्तव्य—अवरोधरत—अवरोध का अर्थ अन्तःपुर या मकान का अहाता होता है। समय असमय बालक को बाहर ले जाने के संबंध में यह निर्देश है। तीसरे महीने के बाद बालक को मकान के बाहर ले जाने में वैसी आपत्ति नहीं होती। पिछले सूत्र के वक्तव्य का प्रारंभ देखो।

अथ कुमार उद्विजते त्रस्यति रोदिति नष्टसंज्ञो भवति नखदशनैर्धात्रीमात्मानं च परिणुदति दन्तान् खादति कूजति जृम्भते भ्रुवौ वक्षिपत्यूर्ध्वं निरीक्षते फेनमुद्गमति सन्द्रौष्टः क्रूरो भिन्नामवर्चा दीनार्त-स्वरो निशि जागर्ति दुर्बलो म्लानाङ्गो मत्स्यच्छुच्छु-न्दरिमत्कुणगन्धो यथा पुरा धाव्याः स्तन्यमभिलषति तथा नाभिलषतीति सामान्येन ग्रहोपसृष्ट-लक्षणमुक्तं, विस्तरेणोत्तरे वक्ष्यामः ॥५४॥

(ग्रहोपसृष्ट सामान्य लक्षण—) बालक उद्विग्न होता है, डरता है, रोता है, बेहोश होता है, धात्री को तथा अपने को नखों से खरोंचता है और दाँतों से काटता है, दाँतों को कटकटाता है, आवाज़ करता है, जम्माई लेता है, भौंहों को चढ़ाता है, ऊपर देखता है, (मुख से) झाग निकालता है, दाँतों से ओठों को काटने वाला, (देखने में) क्रूर, पतले और आव्युक्त दस्त होने वाला, दिन और आर्तस्वर वाला, रात को जागता है, दुर्बल मुरझाये हुए अंग का, मछली छुलुन्दर और खटमल की गन्ध का, जैसे (ग्रहों का उपसर्ग होने से) पहले धात्री का दूध चाहता था वैसे नहीं चाहता है। ये ग्रहोपसर्ग के सामान्य लक्षण हैं। उत्तरतन्त्र (के सत्ताईसवें अध्याय) में विस्तारपूर्वक कहेंगे ॥५४॥

शक्तिमन्तं चैनं ज्ञात्वा यथावर्णं विद्यां ग्राहयेत् ॥५५॥

(अध्यापनविधि—) उसको शक्तिमान् समझकर वर्ण के अनुसार विद्या पढ़ावे ॥५५॥

वक्तव्य—शक्तिमन्तम्—विद्याग्रहणशक्तिमन्तम्। कौटिलीय अर्थशास्त्र में चौलकर्म के पश्चात् याने चौथे वर्ष से अंक और अक्षर पढ़ाने के लिए लिखा है—वृत्तचौलकर्म लिपिं संख्यां चोपयुज्यते। (१-५)। रघुवंश में भी विद्याभ्यास के प्रारंभ का यही काल बतलाया है—स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमालयुत्रैः सवयोभिरन्वितः। लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनैव समुद्रमाविशत् ॥ (३-२८)। यह लिपिसंख्या की शिक्षा वास्तव में विद्या नहीं कही जा सकती। वास्तविक विद्या का प्रारंभ उपनयन के पश्चात् होता है। यह उपनयन साधारणतया ब्राह्मण का आठवें, क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्य का बारहवें वर्ष में होता है, परंतु यदि कुमार अधिक शक्तिमान् (अर्थात् वर्णानुसार शक्ति का स्वरूप भिन्न भिन्न होता है) हो तो ब्राह्मण का पाँचवें वर्ष में, क्षत्रिय का छठे वर्ष में और वैश्य का आठवें वर्ष में उपनयन किया जा सकता है—गर्भाष्टमेऽन्वे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनयनम्। गर्भादिकादशे राज्ञो गर्भात् द्वादशे विशः। ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ (मनुस्मृति २-३६, ३७)। इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उपनयन के पूर्व वेद को छोड़कर अन्य विद्याओं को पढ़ा सकते हैं—तौ च भगवता वाल्मीकिना धात्रीकर्म वस्तुतः परिगृह्य पोषितौ परिरक्षितौ च वृत्तचौलकर्मणोश्च तयोऽख्यौ वज्र्यमितरास्तिष्ठौ विद्याः सावधानेन परिनिष्ठापिताः। समनन्तरं च गर्भाकादशे वर्षे क्षात्रेण कल्पेनोपनीय पुरुषा त्रयीविद्यामध्यापितौ ॥ (उत्तररामचरित २)। यथावर्णम्—ब्राह्मणस्त्री, राजन्यो दण्डनीतिं, वैश्यो वार्तामिति। (डल्हण)। त्रयी—सामर्थ्य-जुर्वेदास्त्रयस्त्री। वार्ता—रूपियाशुपात्ये वाणिज्या च वार्ता। धर्माधर्मौ त्रय्याम्। अर्थानर्थौ वार्तायाम्। नयानयौ दण्डनीत्याम् ॥ (कौटिलीय अर्थशास्त्र १-२, ३, ४)। प्रत्येक वर्ण के लिए यह जो एक विद्या बताई गई है, वह मुख्यविद्या करके बताई

गई है। इसके अतिरिक्त धर्मादि विषयों का ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिए। इसलिए चरक और अष्टांगसंग्रह में बालक की विद्या के संबंध में निम्न प्रकार से सर्वग्राही वर्णन मिलता है—एवमेनं कुमारमायौवनप्राप्तेर्धर्मार्थकौशल-गमनाच्चातुपालयेत्। (चरक)। शक्तिमन्तं यथावर्णं विद्यामध्यापयेत्ततः। अनुशिष्यात् सदा चैनं धर्माय विनयाय च। यथा नेन्द्रिय-दुष्टाश्चेहियते यौवनागमे ॥ (अष्टांगसंग्रह)।

अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षा पत्नीमावहेत् पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति ॥५६॥

(विवाह—) विद्या समाप्त कर चुकने के पश्चात् पच्चीस वर्ष की उम्र वाले स्नातक को बारह साल की पत्नी प्रदान करे, जिससे कि वह पित्र्य, धर्म, अर्थ, काम और प्रजा को प्राप्त हो जाय ॥५६॥

वक्तव्य—पञ्चविंशतिवर्षाय—इससे निश्चित आयु मानने की आवश्यकता नहीं है। पुरुषों की विवाह की आयु विद्याभ्यास के ऊपर निर्भर होती है। यह स्थिति प्राचीन काल में थी और आधुनिक काल में भी है। विद्याभ्यास का काल विद्याओं की संख्या और बुद्धि की कुशाग्रता के अनुसार न्यूनाधिक होता है। इसलिए पच्चीस वर्ष से केवल यौवन प्राप्ति का बोध लेना चाहिए। ऊपर चरक का वचन देखो। अष्टांगसंग्रह में विवाह की आयु २१ साल की बतलाई है—पुमानेकविंशतिवर्षः कन्यां द्वादशवर्षदेशीयाम्... उद्वहेत् ॥ पच्चीस से अधिक भी आयु हो सकती है—विंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हवां द्वादशवर्षाकीम् ॥ (मनु ९-९४)। द्वादशवर्षा—प्राचीन काल में स्त्रियों के विवाह की यह साधारण आयु है। स्त्रियों के विवाह की आयु में बहुत फर्क नहीं होता था, क्योंकि आर्तव दर्शन के पूर्व उनका विवाह कराना यह धार्मिक नियम था। कभी कभी बारह साल से कम उम्र में भी स्त्रियों का विवाह होता था—त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षा वा धर्मं सीदति सत्वरः ॥ (मनुस्मृति ९-९४)। द्वादश वर्ष विवाह के लिए योग्य काल होने पर भी समागम के लिए योग्य काल नहीं होता है। आगे के श्लोक देखो। पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः—पितृहितं कर्म पित्र्यं श्राद्धदानादि, धर्मः श्रुतिस्मृतिविहितं यशानुष्ठानम्, अर्थः सुवर्णादिः, कामः स्वेपु स्वेपु विषयेष्विन्द्रियाणामानुकूल्यतः प्रवृत्तिः, प्रजाः पुत्रपौत्रादयः ॥ (डल्हण)। काम और प्रजा स्त्री के बिना नहीं मिल सकती, यह स्पष्ट है। श्राद्ध, यज्ञ आदि धार्मिक कर्मों में स्त्री की आवश्यकता होती है। उसके बिना ये कर्म नहीं कर सकते। इसलिए स्त्री सहधर्मचारिणी कहलाती है। अर्थ के संबंध में कुछ शंका उपस्थित हो सकती है। स्त्री प्रत्यक्ष पैसा कमाती नहीं है परंतु पति से कमाये हुए पैसे की रक्षा करती है—अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्। शौचे धर्मोऽन्नपक्व्यां च पारिणाद्यस्य वेक्षणे ॥ (मनुस्मृति ९-११)। प्राप्तार्थ का ठीक व्यय करना, यह भी अर्थप्राप्ति का एक साधन है—Money saved is money earned.

अगले श्लोक के साथ तथा सूत्रस्थान के ३५वें अध्याय के १४वें श्लोक के साथ अगर इस सूत्र का समन्वय करना

हो तो 'पञ्चविंशतिवर्षाय' के बदले अष्टांगसंग्रह के अनुसार 'एकविंशतिवर्षाय' ऐसा पाठ होना चाहिए, अथवा 'द्वादशवर्षाय' के बदले 'षोडशवर्षाय' ऐसा पाठ होना चाहिए । परंतु दूसरा पाठ प्राचीन कल्पना के अनुसार ठीक नहीं हो सकता इसलिए प्रथम पाठभेद ही सयुक्तिक है ।

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥५७॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥५८॥

(प्रथम गर्भाधानकाल—) सोलह साल से कम उम्र (की स्त्री) में पच्चीस को प्राप्त न हुआ पुरुष यदि गर्भ का आधान करे तो वह (गर्भ) कुक्षि में ही मर जाता है ॥५७॥ या जन्म ले तो देर तक नहीं जीता, या दुर्बल इन्द्रिययुक्त जीता है । इसलिए अत्यन्त बाला में गर्भ का आधान न करे ॥५८॥

वक्तव्य—इस विषय का विवरण सूत्रस्थान के ३५वें अध्याय के १४वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । आयुर्वेद का यह सिद्धान्त है कि, चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, सोलह साल के पहले मनुष्यशरीर स्वस्थ प्रजा उत्पादन करने में असमर्थ होता है—षोडशवर्षयोर्हि शोणितशुक्रयोर्मध्ये प्रभवतः । (काश्यप-संहिता, जातिसूत्रीय शारीराध्याय) । इसका कारण यह है कि इस आयु में तथा इसके पूर्व स्त्री-पुरुषों के शोणित शुक्र अपरिपक्व होते हैं । अर्थात् अपरिपक्व बीज जैसे उत्तम अंकुर उत्पन्न करने में असमर्थ होता है, वैसे ही अपरिपक्व शुक्रशोणित उत्तम प्रजा उत्पन्न करने में असमर्थ होता है । कुक्षिस्थः—यह कोई आवश्यक नहीं है कि यहाँ पर बताये हुए परिणाम हो जायँ । बाल्यावस्था में गर्भाधान करने से क्या हो सकता है, इसका दिग्दर्शन कुक्षिस्थ इत्यादि से किया गया है । अत्यन्तबालायाम्—सोलह साल की स्त्री बाला कहलाती है—बालेति गीयते नारी यावद्वर्षाणि षोडश । (योगरत्नाकर) । इसलिए सोलह साल से जिनकी आयु कम होती है, वह अत्यन्त बाला स्त्री होती है, उसमें ।

अतिवृद्धायां दीर्घरोगिण्यामन्येन वा विकारे-
णोपसृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्वीत । पुरुषस्याप्ये-
वंविधस्य त एव दोषाः संभवन्ति ॥५९॥

(गर्भाधान के लिए अयोग्य—) अतिवृद्धा, दीर्घकाल से रोगपीडित या अन्य विकार से उपसृष्ट स्त्री में गर्भाधान न करे । इस प्रकार के पुरुष (से भी गर्भाधान कराने) के वही दोष होते हैं ॥५९॥

वक्तव्य—अतिवृद्धा—अतिवृद्धाचारिणी । प्रौढ कुमारी, विवाह के समय जिसकी आयु बहुत अधिक हो, ऐसी । बूढ़ी स्त्री ऐसा इसका अर्थ नहीं है । पुरुष के संबंध में मात्र इसका अर्थ बूढ़ा पुरुष ऐसा है । इसका कारण यह है कि गर्भाधान करने की योग्यता की आयुर्मर्यादा पुरुषों में निश्चित नहीं होती, परंतु स्त्रियों में गर्भग्रहण करने की आयु निश्चित होती है । उसके पश्चात् तरुण पुरुष भी स्त्री में गर्भ

का आधान नहीं कर सकता । त एव दोषाः—कुक्षिस्थः स विपद्यते इत्यादि । विशेष विवरण के लिए २ अध्याय के ३४वें श्लोक के वक्तव्य में 'स्त्री पुरुषों का प्रथम सन्तानोत्पादक काल' देखो ।

तत्र पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भे गर्भाशय-
कटीवङ्क्षणवस्तिशूलानि रक्तदर्शनं च, तत्र शीतैः
परिषेकावगाहप्रदेहादिभिरुपचरेजीवनीयश्रुतक्षीर-
पानैश्च; गर्भस्फुरणे मुहुर्मुहुस्तत्सन्धारणार्थं क्षीर-
मुत्पलादिसिद्धं पाययेत्; प्रस्रंसमाने सदाहपार्श्व-
पृष्ठशूलासृग्दानाहमूत्रसङ्काः, स्थानात् स्थानं
चोपक्रामति गर्भे कोष्ठे संरम्भः, तत्र स्निग्धशीताः
क्रियाः; वेदनायां महासहानुद्रसहामधुकश्वदंष्ट्रा-
कण्टकारिकासिद्धं पयः शर्कराक्षौद्रमिश्रं पाय-
येत्, मूत्रसङ्गे दर्भादिसिद्धं; आनाहे हिङ्गुसौवर्चल-
लशुनवचासिद्धम्; अत्यर्थं स्रवति रक्ते कोष्ठागा-
रिकागारमृत्पिण्डसमङ्गाधातकीकुसुमनवमालिका-
गैरिकसर्जरसरसाञ्जनचूर्णं मधुनाऽवलिह्यात्, यथा-
लामं न्यग्रोधादित्वकृप्रवालकल्कं वा पयसा पाय-
येत्, उत्पलादिकल्कं वा कशेरुशृङ्गाटकशालूक-
कल्कं वा श्रुतेन पयसा, उदुम्बरफलौदककन्दकाथेन
वा शर्करामधुमधुरेण शालिपिष्टं, न्यग्रोधादिस्वरस-
परिपीतं वा वस्त्रावयवं योन्यां धारयेत्; अथा-
दृष्टशोणितवेदनायां मधुकदेवदारुमञ्जिष्ठापयस्या-
सिद्धं पयः पाययेत्, तदेवाश्मन्तकशतावरीपयस्या-
सिद्धं विदारिगन्धादिसिद्धं वा, बृहतीद्वयोत्पल-
शतावरीसारिवापयस्यामधुकसिद्धं वा, एवं क्षिप्रमु-
पक्रान्ताया उपावर्तन्ते रुजो गर्भश्चाप्यायते; व्यव-
स्थिते च गर्भे गव्येनोदुम्बरशलाटुसिद्धेन पयसा
भोजयेत्; अतीते लवणस्नेहवज्र्याभिर्भ्रूवागुभिरुहा-
लकादीनां पाचनीयोपसंस्कृताभिरुपक्रमेत् यावन्तो
मासा गर्भस्य तावन्त्यहानि; वस्त्युदरश्लेषु पुराण-
गुणं दीपनीयसंयुक्तं पाययेदरिष्टं वा ॥६०॥

(गर्भपात की चिकित्सा—) पूर्वोक्त कारणों से गर्भ गिरने लगे तो गर्भाशय, कटी, वङ्क्षण, वस्ति (इन स्थानों) में पीड़ा और (योनि से) रक्तस्राव होता है । उस समय शीतल परिषेक, अवगाहन तथा प्रलेपों से (बाध्य) और जीवनीय ओषधियों से सिद्ध क्षीरपान से (आभ्यन्तरीय) चिकित्सा करे । गर्भ का स्फुरण होने पर उसको शान्त करने के लिए उत्पलादिसिद्ध क्षीर बार बार पिलावे । गर्भस्राव के समय दाहयुक्त पार्श्वों और पीठ में शूल, योनि से रक्तस्राव, आध्मान और मूत्रावरोध होता है । गर्भ के एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते समय कोष्ठ में खलबली मचती है । उसके लिए स्निग्ध और शीत चिकित्सा करनी

चाहिए । वेदना होने पर माषपर्णी, मुद्गपर्णी, मुलहटी, गोखरू, इनसे सिद्ध दूध खाँड और मधु मिलाकर पिलावे । सूत्रावरोध में दर्भादि (तृणपंचमूल) सिद्ध (दूध पिलावे) । आनाह में हींग, सौवर्चल लवण, लशुन और वचा से सिद्ध (दूध) पिलावे । अत्यधिक रक्तस्राव होने पर कोष्ठगारिका (नामक कीड़े) के घर की मिट्टी, मंजिष्ठा, धाय के फूल, वनमल्लिका के फूल, गेरू, राल, रसांजन इनमें से जितने द्रव्य मिल सकें उनका चूर्ण मधु के साथ चटावे; अथवा न्यग्रोधोद्भिद वृक्षों की त्वचा और कोंपल के कलक को दूध के साथ पिलावे; अथवा उत्पलादि के कलक को या कसेरू सिंघाड़ा तथा कमलकन्द के कलक को उबाले हुए दूध के साथ पिलावे; अथवा शाली-धान्य के पिष्ट को शर्करा और मधु से मधुर किये हुए गूलर के फल के और (कमल आदि) जलकन्द के काथ के साथ पिलावे; अथवा न्यग्रोधोद्भिद वृक्षों के स्वरस में भिगोये हुए कपड़े को योनि में धारण करावे । रक्तस्राव के बिना पीड़ा होने पर मुलहटी, देवदारु, मंजिष्ठा और क्षीरकाकोली इनसे सिद्ध दूध पिलावे; अथवा पाषाणभेद, शतावरी, क्षीरकाकोली से सिद्ध अथवा विदारिगन्धादिगण से सिद्ध दूध पिलावे; अथवा छोटी और बड़ी कटेरी, नीलोत्पल, शतावरी, अनन्तमूल, क्षीरकाकोली और मुलहटी से सिद्ध दूध पिलावे; इस प्रकार तुरन्त चिकित्सित स्त्री की वेदनाएँ नष्ट होती हैं और गर्भ भी वृद्धि को प्राप्त होता है । गर्भ व्यवस्थित रहने पर कच्चे गूलर के फल से साधित गोदुग्ध के साथ भोजन करावे । यदि गर्भ गिर जाय तो पाचनीय द्रव्यों से संस्कृत नमक और घृत से विरहित उद्दालक आदि (जंगली कुधान्य) की यवागुओं से जितने महीने का गर्भ गिरा हो, उतने दिन चिकित्सा करे; बन्दिदेश तथा उदर में शूल हो तो दीपनीय द्रव्यों से पुराना गुड़ खिलावे अथवा अरिष्ट पिलावे ॥६०॥

वक्तव्य—पूर्वोक्तः कारणैः पतित्यति गर्भ—मूढगर्भ निदान के दूसरे सूत्र में, दसवें श्लोक में और इस अध्याय के दूसरे सूत्र में बतलाये हुए कारणों से गर्भपात होने पर । प्रसंसमाने गर्भ—Inevitable abortion. कोष्ठे संरम्भः—आमपच्यमानपकाशयादौ क्षोभः । (डल्हण) । पेट में खलबली मचना या अत्यन्त बेचैनी मालूम होना । औदकाः कन्दाः—कसेरूशालुकनदीमाषकादयः । (डल्हण) । पयस्या—अर्क-पुष्पी । (डल्हण) । व्यवस्थिते—स्थिरीभूते । अतीते—पतित इत्यर्थः । दीपनीयसंयुक्तम्—पंचकोलचूर्णसंयुक्तम् । अरिष्टम्—अमयारिष्टादिकम् । गर्भश्चाप्यायते—तन्वान्तरे चोपविष्टकालोऽयं गर्भः कथितः । (डल्हण) । उपविष्टक का स्वरूप निम्न प्रकार से वर्णन किया है—तत्र यस्याः कादाचित्कार्तवपरि-क्षावावस्थौ च द्रव्येते सततं च गर्भः प्राप्तात्परिमाणोदपरिहीयमान एव स्फुरति, न च कुक्षिर्विवर्धते तमुपविष्टकमित्याचक्षते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । उपविष्टक का स्वरूप व्यावहारिक परि-भाषा में निम्न प्रकार से बता सकते हैं । जैसे, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने वाला मनुष्य थकावट के कारण बीच में थोड़ी देर के लिए बैठ जाता है याने प्रवास बंद

करता है और फिर प्रवास शुरू करके अपने स्थान को पहुँचता है, वैसे ही वृद्धि रूप प्रवास करने वाला गर्भ बीच में कारणवश बैठ जाता है (उपविशति) याने वृद्धि रूप प्रवास बंद कर देता है और फिर अपना प्रवास करता है याने वृद्धि शुरू करता है और अपने इच्छित स्थान को पहुँच जाता है । संक्षेप में उपविष्टक का अर्थ बीच में कुछ काल तक बैठने वाला गर्भ—गर्भो वृद्धिमप्राप्तुवन्नुपविशति ॥ (अष्टांगसंग्रह, शा० ४) ।

इस सूत्र में गर्भस्राव (Abortion) या गर्भपात (Miscarriage) के लक्षण और चिकित्सा वर्णन की गई है । गर्भस्राव और गर्भपात ये दो शब्द काल के अनुसार गर्भ के गिर जाने के लिए प्रयुक्त (मूढगर्भनिदान ८वें अध्याय के ११वें श्लोक का वक्तव्य देखो) होते हैं । परंतु व्यवहार में दोनों पर्यायरूप से ही प्रयुक्त होते हैं । गर्भपात के दो मुख्य लक्षण होते हैं—(१) पीड़ा (Pain)—यह पीड़ा गर्भाशय के आकुंचन से उत्पन्न होती है और आकुंचन की तीव्रातीव्रता पर पीड़ा की तीव्रातीव्रता निर्भर होती है । सूत्र में वेदना, शूल, संरम्भ, आनाह, मूत्रसंग इत्यादि जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे इसी के ही विविध स्वरूप या परिणाम हैं । (२) रक्तस्राव (Uterine haemorrhage)—योनि से रक्तस्राव होना यह गर्भपात का महत्त्व का लक्षण है । रक्त का स्राव एकाएक और अधिक राशि में या धीरे धीरे और अल्प राशि में हो सकता है । प्रायः यह रक्तस्राव थोड़ी थोड़ी देर के बाद बार बार (Recurring) हुआ करता है । गर्भाशय की अन्तःकला से गर्भ और अपरा पृथक् होने के कारण रक्तस्राव हुआ करता है । इन दो लक्षणों के अलावा और दो लक्षण मिल सकते हैं । वे इनके परिणाम स्वरूप में होते हैं । इनमें प्रथम है अवसाद (Collapse) । यह लक्षण अधिक रक्तस्राव होने के कारण उत्पन्न होता है । दूसरा लक्षण है गर्भाशयसंयोजक विस्तृति (Dilatation of the cervix) । यह लक्षण गर्भाशयसंकोच के कारण उत्पन्न होता है । रक्तस्राव का ही निर्देश ऊपर सूत्र में रक्तदर्शन, असृग्दर करके किया गया है । ये दोनों लक्षण जब किसी स्त्री में, जिसमें गर्भधारणा के निश्चित लक्षण मिलते हैं, मिल जायें तो गर्भपात की आशंका करके उसके अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए ।

गर्भपात कई प्रकार का होता है । जब पीड़ा और रक्त-दर्शन होने पर भी गर्भ चिकित्सा से गर्भाशय में रहकर वृद्धि कर सकता है, तब उसको परिहार्य (Threatened) गर्भपात कहते हैं । एवं क्षिप्रमुपक्रान्ताया उपावर्तन्ते रुजो गर्भश्चाप्यायते, व्यवस्थिते च गर्भे । उपविष्टक गर्भे ये सब शब्द परिहार्य गर्भ-पात के हैं । जब गर्भ और अपरा गर्भाशय से अधिक पृथक् होती है; रक्तस्राव और पीड़ा अधिक होती है, गर्भाशय का मुख काफी विवृत हो जाता है और जब चिकित्सा करने पर भी पुनश्च गर्भ के आप्यायन की आशा नहीं की जा सकती तब उसको अपरिहार्य (Inevitable) गर्भपात कहते हैं । इसका उल्लेख सूत्र में 'प्रसंसमाने' करके किया गया है । जब गर्भ पूर्णतया गिर जाता है, तब उसको पूर्ण (Complete)

गर्भपात कहते हैं। इसका उल्लेख सूत्र में 'अतीते' करके किया गया है। जब गर्भ या अपरा का कुछ हिस्सा गर्भाशय में रहता है, तब उसको अपूर्ण (Incomplete) गर्भपात कहते हैं।

साध्यासाध्यता—चरक का मत है कि प्रथम तीन महीने के गर्भ अजातसार होने के कारण प्रायः वे गर्भाशय में स्थिर नहीं हो सकते, इसके पश्चात् हो सकते हैं—सा चेदपचाराद् द्योस्त्रिषु वा मासेषु पुण्यं पश्येन्नास्या गर्भः स्वास्थ्यतीति विधात् । अजातसारो हि तस्मिन् काले भवति गर्भः ॥ (शारीर ८) । साधारणतया परिहार्य गर्भपात का परिहार चिकित्सा से होता है। अपरिहार्य गर्भपात का परिहार नहीं होता। चिकित्सा—गर्भपात के लक्षण मालूम होते ही स्त्री को बिखरे पर आराम से रखना चाहिए। खान-पान, मल-मूत्रविसर्जन इत्यादि के लिए उठना बैठना, कुंथना इत्यादि कर्म वर्ज्य करने चाहिए—शयनं तावन्मृदुसुखशिशिरास्तरणसंस्तीर्णमीषद्वनतशिरस्कं प्रतिपद्येति । क्रोधशोकायासव्यव्यायामाभ्यश्वाभिरक्षेत्, सौम्याभिश्चानां कथामिर्मनोनुकूलभिरुपासीत ॥ (चरक) । तीव्र विरेचन या वस्ति न देना चाहिए। ये स्वस्थ स्त्री में भी गर्भपात उत्पन्न कर सकते हैं तो जो गर्भपात से पीड़ित है, उसमें निश्चिति से गर्भ का नाश कर देंगे। खाने के लिए दूध जैसा हलका आहार दिया जाय। परिहार्य गर्भपात में इसी से प्रायः कार्य हो जाता है। रक्तस्राव और पीडाहरण की सूत्रोक्त औषधियाँ दे सकते हैं। पीडाहरण के लिए पाश्चात्य वैद्यक में अफीम या मार्फिया (१/३ ग्रेन त्वचा द्वारा) या ब्रोमाइड्स देते हैं। रक्तस्राव रोकने के लिए अर्गट, हैड्रास्टिस, हीमोस्टाटिक सीरम इत्यादि औषधियाँ देते हैं। इसके अलावा योनि में टेन्ट (Tent) रखने का भी प्रबंध होता है। ऊपर के सूत्र में 'वस्त्रावयवं योग्यां धारयेत्' देखो। अपरिहार्य गर्भपात में जब रक्तस्राव अधिक होता है और गर्भ बाहर नहीं निकलता या अपूर्ण निकलता है, तब गर्भाशय को दबाकर (Expressing) या अंगुलि या तालयन्त्र (Curette) को गर्भाशय में प्रविष्ट करके गर्भ को निकालने की कोशिश की जाती है। गर्भ गिर जाने पर सूतिका के समान उसकी चिकित्सा करे। पतित गर्भ की चिकित्सा अष्टांगहृदय में निम्न प्रकार से बतलाई है—गर्भं निपतिते तीक्ष्णं मधं सामर्थ्यतः पिवेत् । गर्भकोष्ठविशुद्धयर्थमर्धमतिविस्मरणाया च ॥ लघुना पञ्चमूलेन रूक्षां पेयां ततः पिवेत् । पेयाममघपाकत्वे साधितां पाञ्चकौलिके ॥ विल्वादिप्रचक्रकाये तिलोद्दालकतण्डुलेः । मासतुल्यदिनान्येवं पेयादिः पतिते क्रमः ॥ (शारीर २) । अथा-वृष्टशोणितवेदनायाम्—इसमें अ का अर्थ ईषत् या अभाव हो सकता है। गर्भपात में पीडा होती है परन्तु वह बहुत तीव्र नहीं होती। इसके साथ प्रायः रक्तस्राव होता है। जब रक्तस्राव कम होता है या नहीं होता तथा वेदना अत्यधिक होती है, तब बहिर्गर्भाशय गर्भपात (Ruptured extra-uterine pregnancy) का भी ध्यान रखना चाहिए। इसके लिए शस्त्रकर्म के सिवा और कोई चिकित्सा नहीं होती है। बहिर्गर्भ गर्भावस्था के लिए ३ अध्याय के ३ सूत्र के वक्तव्य में 'संसृज्यते चार्तवेन' की टिप्पणी देखो।

वार्तोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः, सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते, तां मृदुना स्नेहादिक्रमेणोपचरेत्, उत्क्रोशरससंसिद्धामनल्प-स्नेहां यवागूं पाययेत्, मापतिलविव्वशलाटुसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेन्मधुमाध्वीकं चानुपिवेत् सप्तरात्रं; कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्य-मुदूखलं मुसलेनाभिहन्याद्विषमे वा यानासने सेवेत; वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति मन्दं स्पन्दते च, तं बृंहणीयैः पयोभिर्मांस-रसैश्चोपचरेत्; शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमव-क्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरं, तं कदाचिद्यदृच्छयोप-शान्तं नैगमेपापहतमिति भाषन्ते, तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः; तत्रापि लीनवत् प्रतीकारः ॥६१॥

(लीन और उपशुष्क गर्भ—) स्रोतों के वात के उपद्रव से पीड़ित होने के कारण गर्भ लीन हो जाता है। वह अधिक काल तक (गर्भाशय में) रहता हुआ मर जाता है। (इस लीन गर्भ में) स्त्री की मृदु स्नेहादि से चिकित्सा करे, उत्क्रोश (कुररी—पक्षिविशेष) के मांसरस से साधित यवागूं पर्याप्त स्नेह से युक्त पिलावे, अथवा उड़द, तिल तथा बेल के शलाटु से साधित कुल्माष खिलावे और पश्चात् सात दिन तक मधुसह माध्वीक पीवे। अधिक काल तक रहने वाले गर्भ में विशेषतया ऊखल में धान्य डालकर कूटे, अथवा विषम वाहन या आसन पर बैठे। वात से पीड़ित होने पर भी गर्भ सूख जाता है। वह माता की कुक्षि को पूर्णतया नहीं व्यापता और धीरे धीरे हलचल करता है। उस (की माता) को पुष्टिकर दूध और मांसरस से चिकित्सित करे। वायु से पीड़ित हुआ शुक्रशोणित जीवात्मा की अवक्रान्ति होने पर उदर को फुला देता है। वह कदाचित् अचानक शान्त होने पर नैगमेपापहत कहलाता है। वही कदाचित् धीरे धीरे लीन हो जाने पर नागोदर कहलाता है। यहाँ पर लीन गर्भ के समान चिकित्सा करनी चाहिए ॥६१॥

वक्तव्य—लीयते गर्भः—इसको लीनगर्भ कहते हैं—यस्याः पुनर्वातोपसृष्टस्रोतसि लीनो गर्भः प्रसूतो न स्पन्दते तं लीनमित्याहुः । (अष्टांगसंग्रह) । माध्वीकम्—महुवे का या द्राक्षा का मद्य। कालातीतस्थायिनि गर्भे—गर्भाशय में गर्भ के रहने के योग्य काल का विचार तीसरे अध्याय के ३९वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। उस काल के पश्चात्। मुसलेनाभिहन्यात् इत्यादि—ये उपाय गर्भाशय में संकोच पैदा करने के लिए होते हैं। पीछे ७वें सूत्र के वक्तव्य में अन्तिम भाग देखो। कुक्षिं न पूरयति—मासानुमासिक वृद्धि के अनुसार कुक्षि की जितनी वृद्धि होनी चाहिए, उतनी वृद्धि नहीं होती है। नागोदर—इसी को उपशुष्क भी कहते हैं—तदुपशुष्कं नागोदरं च । (अष्टांगसंग्रह) । तं गर्भमुपशुष्ककनागोदरशब्दाभ्यामाचक्षते । (हन्तु) । नैगमेपा-

पहत—नागोदर या उपशुष्कक में गर्भधारणा होने के बाद कुछ काल तक गर्भवृद्धि होकर उसके पश्चात् उसकी वृद्धि रुक जाती है और गर्भ सूखने लगता है। जो लोग भूत-पिशाच के ऊपर विश्वास करते हैं, वे इस विकार को नैगमेपापहत कहते हैं। वास्तव में वातविकृति का यह एक परिणाम है।

इस सूत्र में लीन और उपशुष्कक या नागोदर या नैगमेपापहत करके गर्भ के दो विकार वर्णन किये गये हैं। आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार यद्यपि इनके लिए निश्चित पर्याय देना मुश्किल है तथापि ये गर्भाशयस्थ मृतगर्भ (Intra-uterine death of the foetus) या मांस-गर्भ (Carneous mole) के समान मालूम होते हैं। इनमें लीनगर्भ कौन है और उपशुष्कक कौन है? कहना कठिन है तथापि अगर नामकरण करना हो तो लक्षणों के अनुसार लीनगर्भ को Missed abortion कह सकते हैं। इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—In exceptional cases, however, the dead foetus is not expelled from the uterus at once, but is retained for months, the so called 'missed abortion'. *Ten Teacher's Midwifery*. नागोदर को Carneous mole कह सकते हैं।

अत ऊर्ध्व मासानुमासिकं वक्ष्यामः ॥६२॥

अब इसके पश्चात् मासानुमासिक (गर्भपात का चिकित्साक्रम) कहेंगे ॥६२॥

वक्तव्य—ये मासानुमासिक ओषधियाँ गर्भस्राव-प्रतिषेधक होती हैं। अतः जिनमें गर्भस्राव की प्रवृत्ति होती है, उनमें इसका उपयोग करना उचित है।

मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च ।
अश्मन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताम्रवल्ली शतावरी ॥६३॥
वृक्षादनी पयस्या च लता सोत्पलसारिवा ।
अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा मधुकमेव च ॥६४॥
बृहत्यौ काश्मरी चापि क्षीरिशुक्लास्त्वचो घृतम् ।
पृश्निपर्णी बला शिशु श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका ॥६५॥
शृङ्गाटकं विसं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिता ।
वत्सैते सप्त योगाः स्युरर्धश्लोकसमापनाः ।
यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पयोयुताः ॥६६॥
कपित्थवृद्धतीबिल्वपटोलेक्षुनिदिग्धिका-
मूलानि क्षीरसिद्धानि पाययेद् भिषगष्टमे ॥६७॥
नचमे मधुकानन्तापयस्यासारिवाः पिबेत् ।
क्षीरं शुण्ठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्यादशमे हितम् ॥६८॥
सक्षीरा वा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदारु च ।
एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यति ॥६९॥

(मासानुमासिक ओषधिक्रम—) (१) मुलहटी, सागवान का बीज, क्षीरकाकोली और देवदारु । (२)

पाषाणभेद, काले तिल, मञ्जिष्ठा, शतावरी ॥६३॥ (३) वृक्षादनी (बाँदा), क्षीरकाकोली, लता (गुडूची अथवा प्रियङ्गु) और अनन्तमूल । (४) अनन्तमूल, कृष्णसारिवा, रास्ना, पद्मा और मुलहटी ॥६४॥ (५) छोटी और बड़ी बृहती, गम्भारी, क्षीरी वृक्षों के अङ्गुर तथा छाल और घी । (६) पृश्निपर्णी, बला, शोभांजन, गोखरू, मधुपर्णिका ॥६५॥ (७) सिंघाड़ा, विस (कमलमूल), मुनक्का (द्राक्षा), कसेरू, मुलहटी और खांड । हे सुश्रुत ! आधे श्लोक में समाप्त होने वाले ये सात योग क्रम से (सातों महीनों में) गर्भस्राव में दूध के साथ प्रयुक्त करावे ॥६६॥ आठवें महीने में वैद्य कैथ, बड़ी कटेरी, बेल, पटोल, ईख, छोटी कटेरी इनकी जड़ों से साधित क्षीर पिलावे ॥६७॥ नौवें महीने में मुलहटी, अनन्तमूल, क्षीरकाकोली और कृष्णसारिवा (इनसे साधित दूध) को पीवे। दसवें महीने में सोंठ तथा क्षीरकाकोली से साधित दूध हितकर होता है ॥६८॥ अथवा सोंठ, मुलहटी और देवदारु दूध के साथ हितकर होता है। इस प्रकार मासानुमासिक प्रयोग से गर्भ की वृद्धि होती है और तीव्र पीडा शान्त होती है ॥६९॥

वक्तव्य—पयस्या—अर्कपुष्पी। गयी तु पयस्यां क्षीरविदारि क्षीरकाकोलीं वा मूत्रे । (डल्हण) । अश्मन्तकः—कोविदार-सदृशोऽम्लपत्रः अम्ललोटक इति लोके । (डल्हण) । 'आपटा' महाराष्ट्र भाषा में। यमलपत्रकः । (अरुणदत्त) । ताम्रवल्ली—रामतरुणी, मञ्जिष्ठामपरे । (डल्हण) । लता—प्रियङ्गु । (डल्हण) । गन्धप्रियङ्गुः । गौरसारिवेलन्ये । (अरुणदत्त) । गुडूची । (हारानचन्द्र) । उत्पलसारिवा—अनन्तमूल या कृष्णसारिवा । (अरुणदत्त) । अनन्ता—दूर्वा । (इन्दु) । पद्मा—पद्मचारिणी, मार्गीमपरे । (डल्हण) । पयोयुताः—इन ओषधियों का चूर्ण, या कल्क दूध के साथ दे सकते हैं किंवा दूध में इनको साधित करके वह दूध दे सकते हैं । मधुपर्णी—मधु-यष्टिका । (डल्हण) । जीवन्ती । (इन्दु) । गुडूची । (हारानचन्द्र) ।

निवृत्तप्रसवायास्तु पुनः षड्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं प्रसवमानाया नार्याः कुमारोऽल्पायुर्भवति ॥७०॥

निवृत्तप्रसवा स्त्री के ६ वर्ष के पश्चात् उत्पन्न होने वाला बालक अल्पायु होता है ॥७०॥

वक्तव्य—माता और बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से दो गर्भधारणाओं के बीच में कुछ अन्तर होना आवश्यक है। इस अन्तर की अल्पतम मर्यादा का विचार पीछे १७वें सूत्र के वक्तव्य में 'मैथुन' की टिप्पणी में और २ अध्याय के ३४वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है। इस सूत्र में इस अन्तर की अधिकतम मर्यादा बताई जाती है। इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि एक गर्भधारणा के छः साल के पश्चात् यदि दूसरी गर्भधारणा हो तो जो बालक जन्म लेता है, वह अल्पायु होता है। अल्पायु का अर्थ अल्पप्राण, दुर्बल (Of low vitality) है। दुर्बलता के कारण वह थोड़ी उम्र में मर भी सकता है, परंतु यह कोई

आवश्यक बात नहीं है। इसका कारण यह है कि जब उचित काल में एक के बाद एक गर्भधारणा होती जाती है, तब गर्भाशय अपने कर्म में सुखी हो जाता है, याने उत्तरोत्तर होने वाले बालक अधिकाधिक बलवान् होते हैं।

Repeated pregnancies tend to cause an increase in the weight and length of the foetus. Such increase in weight occurs with greater regularity the longer are the intervals between each successive pregnancy. *Jellet's Midwifery* जैसे दो प्रसवों का अन्तर अत्यन्त कम होने से बालक कमजोर होता है, वैसे ही दो प्रसवों के बीच का अन्तर अधिक होने से बालक कमजोर रहता है क्योंकि अधिक काल बीतने से गर्भाशय पूर्ववत् सिकुड़ जाता है। इसको समझाने के लिए एक इष्टान्त दिया जा सकता है। जैसे, कोई खिलाड़ी, जो हमेशा खेलता रहता है, फार्म (Form) में रहता है और अधिक काल तक खेल छोड़ देने पर फार्म में नहीं (Out of form) रहता है, वैसे ही अधिक काल तक गर्भधारणा न होने से गर्भाशय 'आउट आफ फार्म' हो जाता है। इस अधिक काल की मर्यादा आयुर्वेद में छः साल की बताई गई है। इसमें कुछ-कुछ घटा-बढ़ी हो सकती है परंतु यहाँ पर जो तत्त्व बताया गया है, वह बिल्कुल ठीक है।

हाराणचन्द्र इस सूत्र का अर्थ निम्न प्रकार से करते हैं— स्त्रीणां हि पञ्चाशति वर्षे आर्तवं क्षयं याति इत्युपदिष्टम् । अथापि चेत् कस्याश्चिदाहारगुणप्रकर्षादुपादानविशेषाद्वाऽधिकं कालं तत् प्रवर्तते तर्हि षट्पञ्चाशतः परं प्रसवमानायास्तस्याः प्रहीनबल-वीर्यत्वेन कुमारोऽल्पायुर्भवतीत्यविदधितुमिदमुच्यते निवृत्तेति । निवृत्तप्रसवाया अतीतपञ्चाशद्वर्षायाः षट्स्थो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं प्रसव-मानाया ऋतुमत्त्वेन प्रसवं कुर्वन्त्या इत्यर्थः । इसका अभिप्राय यह है कि साधारणतः ५० वर्ष की आयु में स्त्री निवृत्तार्तवा अतएव निवृत्तप्रसवा भी हो जाती है; परंतु यदि आहारादि के कारण आर्तव ५० से अधिक काल तक जारी रहे तो उसको प्रजा भी हो सकती है। ५६ साल के बाद उत्पन्न हुई प्रजा निर्बल या अल्पायु होती है। हाराणचन्द्र का यह मत निम्न कारण से ठीक नहीं मालूम होता। (१) जिस सिलसिले में यह सूत्र आया है, उसके अनुसार निवृत्तप्रसवा का अर्थ निवृत्तार्तवा करना ठीक नहीं है। इस अध्याय में प्रथमगर्भा स्त्री की प्रसूति और उसकी परिचर्या वर्णन (पीछे ५वें श्लोक का वक्तव्य देखो) की गई है। उसी स्त्री के संबंध में ये श्लोक हैं। अर्थात् प्रथम बालक के बाद दूसरा बालक वैसा ही स्वस्थ और दीर्घायु होने के लिए दोनों में कितना अन्तर उचित है, इस विषय का विवरण इस सूत्र में किया गया है। सोलह या अठारह साल की उम्र से छप्पन साल की उम्र में एकाएक कूद पड़ने की न कोई आवश्यकता है, न प्रशस्तता मालूम होती है। (२) पचपन साल की उम्र के बाद आर्तवदर्शन जारी रहकर प्रजोत्पत्ति होना यह संभवनीय घटना नहीं मालूम होती। उष्ण प्रदेशों में आर्तवनिवृत्ति की मर्यादा बढ़ने की अपेक्षा प्रायः घट जाती है—The menstrual cycle comes

to a final end at the menopause or climacteric at an average age of forty-five or rather earlier among the inhabitants of hot climates. *Introduction to sexual physiology by Marshall.*

(३) छप्पन साल के बाद होने वाला बालक अल्पायु और छप्पन के पूर्व होने वाला दीर्घायु इस प्रकार का फर्क युक्तिसंगत नहीं मालूम होता। अगर इसमें कुछ तथ्य हो तो छप्पन के पूर्व और पश्चात् होने वाले दोनों बालक अल्पायु होंगे क्योंकि ऋतु (मौसम) के अन्त में वृक्षों को आने वाले फल हमेशा आकार में छोटे, विषम, कृमि से उपद्रुत हुआ करते हैं।

अथ गर्भिणी व्याध्युत्पत्तावस्ये हृदयेन्मधुरा-म्लेनाश्रोपहितेनानुलोमयेच्च, संशमनीयं च मृदु विदध्यादन्नपानयोः, अश्रीयाच्च मृदुवीर्यं मधुरप्रायं गर्भाविरुद्धं च, गर्भाविरुद्धाश्च क्रिया यथायोगं विदधीत मृदुप्रायाः ॥७१॥

(गर्भिणी चिकित्सा के लिए कुछ मार्गदर्शक सूचनाएँ—) तीव्र व्याधि उत्पन्न होने पर गर्भिणी को मधुर और अम्ल अन्न के साथ (मिलाई हुई ओषधि से) वमन करावे तथा अनुलोमन भी करावे। मृदुसंशमनीय भी अन्नपान के साथ दे। मृदुवीर्य, मधुरभूयिष्ठ और गर्भ को हानि न करने वाला अन्न सेवन करावे। इसी प्रकार गर्भ को हानि न करने वाली और हल्की क्रियाएँ करावे ॥७१॥

भवन्ति चात्र—

सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा ।
मत्स्याक्षकः शङ्खपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम् ॥७२॥
अर्कपुष्पी मधु घृतं चूर्णितं कनकं वचा ।
हेमचूर्णानि कैडर्यः श्वेता दूर्वा घृतं मधु ॥७३॥
चत्वारोऽभिहिताः प्राशाः श्लोकार्धेषु चतुर्वर्षि ।
कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धनाः ॥७४॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भिणीव्याकरणं शारीरं
नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

(बालबुद्धिवर्धक योग—) अच्छी तरह से तैयार किया हुआ सोने का चूर्ण, कुष्ठ, मधु, घी और वचा । मत्स्याक्षक (ब्राह्मी), शङ्खपुष्पी, मधु, घी और सुवर्णचूर्ण ॥७२॥ अर्कपुष्पी (पयसा), मधु, घी, सुवर्णचूर्ण और वचा । सुवर्णचूर्ण, कैडर्य (कट्फल, पर्वतनिम्ब) श्वेतदूर्वा, घी और मधु ॥७३॥ चार श्लोकार्धों में बताये हुए ये चार प्राश (लेह) बालकों के शरीर, मेधा (ग्रहणशक्ति), शक्ति, बुद्धि को बढ़ाने वाले हैं (इनमें से किसी एक योग को प्रयुक्त करे ॥७४॥

महाराष्ट्रप्रदेशे वै राजुरीग्रामजन्मिना ।
घाणेकरउपाहेन काशीक्षेत्रनिवासिना ॥
श्रीगोविन्दस्य पुत्रेण भास्करेण सुधीमता ।
वैद्यके प्राच्यपाश्चात्ये ह्याचार्योपाधिधारिणा ॥
आयुर्वेदं सुनिर्मय्य पाश्चात्यं वैद्यकं तथा ।
आयुर्वेदोपनीतानि शास्त्राण्यन्यानि वीक्ष्य च ॥

नानातन्त्रविहीनानां भिषजां चाल्पमेधसाम् ।
छात्राणां चोपकाराय यथानामतथाशुणा ॥
आयुर्वेदरहस्याख्या दीपिका लिखिता च या ।
इयताऽवधिना तस्याः शारीरं च समाप्यते ॥

इति भास्करशर्मेणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां गर्भिणीव्याकरणं शारीरं नाम दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥

समाप्तं चेदं शारीरस्थानम्

—इति समाप्तः—

॥१५०॥ अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् ।

॥१५१॥ अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् ।

॥१५२॥ अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् ।

॥१५३॥ अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् ।

॥१५४॥ अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् ।

॥१५५॥ अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् ।

॥१५६॥ अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् ।

॥१५७॥ अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् ।

॥१५८॥ अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् । अथ शरीरस्थानम् ।

IGNCA RAR
ACC. No.

सुश्रुतसंहितायाः संस्कृत-हिन्दी-शब्दानुक्रमणिका

अ	अपरा, निष्कासन का सिद्धान्त	२७८	अवस्थिति गर्भ की गर्भाशय में	१७५
अक्षक	अपरा, की विधियाँ	२७९, २८०	अव्यक्त सृष्टिसंभव हेतु	१
अक्षिकोष की रचना	अपरा, योनिगत के लक्षण	२७८	अव्यक्त का स्वरूप	२
अतिमैथुन, रक्तप्रदर का कारण	अपरा, परीक्षण पतन के पश्चात्	२८०	अव्यक्त का अष्टरूप	२
अतिमैथुन, रक्तशुक्र का कारण	अपरा, अंश का गर्भाशय में रहना	२७	अव्यक्त में पुरुष का समावेश चक्र में	६
अतिनिद्रा की चिकित्सा	अपरा, असुन्दर का हेतु	२७	अव्यक्त से सृष्ट्युत्पत्ति का क्रम	२
अतिवाहिक शरीर	अपरा, अंश का गर्भाशय में रहना	२८१	अव्यक्तावस्था गर्भ की	३७
अतिविद्धा सिरा	अपरा, मक्कल का हेतु	२८१	अव्यक्ता सिरा	२२५
अत्युदीर्णा सिरा	अपरा, अंश का गर्भाशय में रहना	२७५	अत्युदागुता	२०
अधिपति मर्म १९८, २००, २०४, २१२, २१३	अपरा, प्रसूतिज्वर का हेतु	२७५	अशोकघृत, अरिष्ट असुन्दर में	२९
अध्यवसाय	अपरा, जन्मावस्था, प्रसव की	२५४	अशित अन्न	१११
अध्यापनकाल, बालक का	अपरा, अपलाप	१९५, १९६, २०४, २११	अश्मरी का शस्त्रकर्म	१९४
अनपत्या वन्ध्या	अपरा, अपसंश्रुति गर्भाशय की	२७	अश्ववाहिनी धमनी	२३४
अनस्थिगर्भोत्पत्ति हेतु	अपरा, अपस्तम्भ	१९५, १९६, २०४, २११	अष्टरूप अव्यक्त का	२
अनस्थि गर्भ, अर्थ	अपरा, अपसार में सिरावेध	२२३, २२४	अष्टांगों का विभाजन, सुश्रुत में	१७७
अनादि	अपरा, अपविद्धा सिरा	२२५	अष्टीलागत भ्रूजमार्ग	११२
अनातर्व, हेतु और प्रकार	अपरा, अपांग	१९८, १९९, २०४, २११, २१३	असत्ताव मैथुनप्रारंभ में	४३
अनातर्व, काल	अपरा, अपान	१९६	असत्ताव, शुक्र में	२०
अनुत्थितविद्धा सिरा	अपरा, अपान वायु के कर्म	४४, ५६, ८०	असत्ताव्यज रोग और उनका हेतु	२८८
अनृतुकाल	अपरा, अपाश्रय	२४६	असृया	१४५
अनृतुकाल, गर्भधारण प्रतिबन्धक	अपरा, अप्रसूता सिरा	२२५	असृया	१४५
अनेत्रता	अपरा, अप्रजाता में गर्भाशय	१७४	असुन्दर निरुक्ति	२७, २४४
अनेकबीजात्मक अपत्य	अपरा, अफीमनिषेध बालक में	२९४	असुन्दर के हेतु	२७, २८
अनेकबीजात्मक अपत्य, की विशेषताएँ	अपरा, अस्थंग निद्रानाश में	१३५	असुन्दर में वातादि दोष युक्त रक्त के	२७
अन्तःपुष्प	अपरा, त्वचा से शोषण	२३६	असुन्दर के लक्षण	२८
अन्तःसंहिता सिरा	अपरा, योनि का गर्भिणी में	२४९	असुन्दर संप्राप्ति	२७, २४४
अन्न	अपरा, प्रसव प्रथमावस्था में	२५८	असुन्दर असाध्य लक्षण	२९
अन्नचतुर्विध	अपरा, प्रसव द्वितीयावस्था में योनि का	२६०	असुन्दर चिकित्सा	२९
अन्नचतुर्विध, पचनकाल	अपरा, प्रसूतावस्था में	२७३	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर	१५५
अन्नप्राशनविधि बालक की	अपरा, अमध्यस्थधर्मी	८	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५
अन्नप्राशनविधि बालक की, काल	अपरा, अयोनिगमन	५१	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५
अन्नप्राशनविधि बालक की, मन्त्र	अपरा, अरतिमान स्वप्न	२९३	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५
अन्नवह स्रोतस्	अपरा, अरलि	२१७	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५
अपतर्पणचिकित्सा	अपरा, अरिष्ट, प्रकृतिपरिवर्तन रूप	१४२	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५
अपची में सिरावेध	अपरा, अर्श, गर्भिणी में	८५	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५
अपतानक (धनुर्वात भी देखो)	अपरा, अर्शसंग्रह व्यय में	१०८	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५
अपतानक, प्रसूति के पश्चात्	अपरा, उत्तरदायित्व	३०८	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५
अपत्य के गुण	अपरा, अलिंग	३६	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५
अपरा, व्युत्पत्ति	अपरा, अलंकारव्युत्पत्ति	३२	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५
अपरा, वनावट और कार्य	अपरा, अल्पशुक्रता	२०८	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५
अपरा, गर्भाशय में स्थान	अपरा, अल्पशुक्राणुता	२०८	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५
अपरा, अन्तःक्षेत्र	अपरा, अवकूजन	२९३	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५
अपरा, यमलो में	अपरा, अवदु	२००	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५
अपरा, प्रतन की प्रक्रिया प्रसव में	अपरा, अवलेखन	३१८	अस्त्रिसंख्या मतमतान्तर से	१५५

अस्थिकार्य	१६३	आमाशय अन्न का आधार	२४०	आसन उत्कटकादि का गर्भिणी में निषेध ८७	
,, मर्म, संख्या	१८४	,, अपकान्न का आधार	१५१	,, शिशु के लिए	२९९
,, ,, नाम	१८५	,, की मर्यादा	१५१	आसन्नप्रसवा के लक्षण	२५३-२५५
अस्थिकासकेन्द्र	१६२	,, और हृदय का संबन्ध	१९५	आसीन प्रचलायित	१३३
अस्थिमुद्रता	२४७, ३०६	,, पूर्णता का हृत्कार्य पर परिणाम	१८७, १९५	आसुरकाय के लक्षण	१४५
अस्थिवक्रता (फक देखो)	१६२, ३०६, ३०७	,, की समाई शिशुवयानुसार	३०२	आसेक्य क्रीब	४९
अस्थिसंघात	१५४, १६७	आयु, प्रजोत्पादन के लिए योग्य	४०, ७८, ३०९	,, की उपपत्ति	४८
अस्थिसन्धि (सन्धि देखो)		,, विवाह के लिए	३०८	,, का कामुक विप्रकृति में स्थान	५१
अहिपूतन	२९६	,, युग्मोत्पत्ति की दृष्टि से	४५	आस्तिक्य, पारमार्थिक	१७, ५६
अहङ्कार	३	,, नाशनिद्रा में	१३०	,, आयुर्वैदिक	५६
,, से इन्द्रियों की उत्पत्ति	३, १३	,, विचार मृतसंशोधन में	१७९	आहार, गर्भिणी का	८७, २४७, २४९
आ		आराम शारीरिक प्रसूता के लिए	२७०, २७१	,, प्रसूता का	२७१, २७४
आकाश के शरीरगत लक्षण	१२	,, मानसिक गर्भिणी के लिए	८७, २४८	,, बालक का प्रथम तीन दिन में	२६६-२६८
,, ,, गुण	१७	,, ,, प्रसूता के लिए	२७२	,, ,, उसके पश्चात्	३००-३०५
,, ,, अवयव	१७	आर्तव स्त्राव का अर्थ	७६	,, ,, ज्वर में	२९४, २९५
,, का शब्द संवहन रेडियो में	२३३	आर्तव के अर्थ (शोणित भी देखो)	१९, २१, ४२, ४३	,, का स्तन्य पर परिणाम	२८८, २९०, २९२
आक्षेपक	१३४	आर्तवधमनी	२३५, २४४	,, का गर्भलिंग पर परिणाम	७०
,, संप्राप्ति	२०९	आर्तववह स्रोतस्	२४३, २४५	,, का गर्भाधान पर परिणाम	७०
,, में सिरावैध	२१४	आर्तव काल	२९, ८०	,, मात्राधिक्य हृदय पर परिणाम	१९५, २४७
,, से मृत्यु	१९१	आर्तवप्रवृत्तिचक्रकाल	२६, ७६, ९६	,, सात्त्विक	२४७
आचमन	२४	आर्तवदर्शन यौवनारम्भसूचक	७६	,, विदाही	२४७, २९२
आणिमर्म	१९०, १९२, २०४	,, शरीरशुद्धिकर	७६	,, ,, का निषेध ऋतुमती में	३१, ३२
आतुरपरीक्षा	२७६	,, ठीक न होना अस्वास्थ्यदर्शक ७७		,, मात्रावत् का लक्षण	१८७, १९५, २४७
आत्ययिक	२१५	,, का गर्भधारण प्रतिबंधन में		,, का सन्तान पर परिणाम	५३
आत्मा के पर्याय	६५, ६६	उपयोग	६३, ७५, ७७	,, गर्भविकृति का कारण	५६
(जीव और पुरुष भी देखो)		,, रागज और नैमित्तिक	३०	,, का शरीर वर्णोत्पत्ति में संबन्ध	४१
,, चैतन्य कारण	६, ६६, १२७	आर्तवार्तवदर्शन के प्रकार	२९		
,, के लक्षण	१६, १२७	,, गर्भिणी और प्रसूता में		इन्द्रिय उत्पत्ति	२, ३
,, आत्मा का निवासस्थान	१२७	स्वाभाविक	३०	,, भौतिकत्व	१३, १४
,, मृत शरीर में अभाव	१६, ६६, १८१	,, का कोष्ठक		,, के विषय	५, १३
,, का परिमाण	१५, १६, १२७, १८१	,, गर्भिणी में होने की उपपत्ति	११५	,, के अर्थ	१३
,, का ज्ञान इन्द्रियाधीन	१३२	,, प्रसवतिथिनिर्णय में उपयोग	७७	,, आत्मा के ज्ञान के साधन	१३२, २३७
,, के विविध अर्थ	१८३	,, चिकित्सा	३०	इन्द्रवस्ति	१८८, १९०, १९१, १९२, २०४
आदिबलप्रवृत्त रोग	३९	आर्तवक्षय	३०		
आदिबलप्रवृत्ति (कुलजप्रवृत्ति देखो)		आलस्य	१३६	ई	
आधिदैविक पक्ष	६	आलिंगन, स्पर्शसुख का एक प्रकार	४९	ईर्ष्यक क्रीब	४७
आधिभौतिक पक्ष	६	आलोचक पित्त के प्रकार	१८१	,, उपपत्ति	४८
आध्यात्मिक पक्ष	६	आवर्त	१९८, १९९, २०४, २१२	,, का कामुक विप्रकृति में स्थान	५१
आनन्द ब्रह्म का	८	आवी	२५३, २५४	ईश्वर	१०, ११
आन्त्र के प्रकार और कार्य	११०, ११३, ११५, १४८, १५०, १५१, २३५, २४३, २४०	,, वास्तविक और मिथ्या में भेद	२५३	ईश्वरबादी	११
,, की लम्बाई	१५२	,, और मज्झ में भेद	२८२		
,, में अन्नपचन का काल	१११	आवृत्तार्तव	३०	उ	
,, मृत शरीर रक्षा के लिए		आशय	१५०-१५२	उच्छ्वास	५७
निकालने की आवश्यकता	१७८	आशय मैथुन के लिए	६५	उण्डुक	१५०, २४३
आन्त्रवृद्धि, नाभिगत बालक में हेतु	२९६	,, भोजनोत्तर आराम के लिए	१३३	उत्क्रान्ति	१५
आप का लक्षण	१२	,, प्रसव प्रथमावस्था में	२५८	उत्कटकासन, गर्भिणी में निषेध	८७
,, के गुण	१७	,, ,, द्वितीयावस्था में	२६०	उल्लेख	१३७
,, के शरीरगत अवयव	१७	,, ,, तृतीयावस्था में	२७९	,, युक्त विकार	१३७
आपगा	१७९	,, प्रस्तावस्था में	२७०	उल्लेख	१९८, १९९, २०४, २१२, २१३
				उज्जुष्टिका	२९६

उत्तेजनशीलता	१०४
उत्तानासन प्रसव में	२५६, २६०
उत्तरवस्ति	२३
उदरवृद्धि गर्भिणी में	८४, २५२
उदरवृद्धिहेतु बालक में	३०७
उदर के मर्म	१९३
,, की अवैध्य सिराएँ	२११
,, का बन्धन प्रसूता में	२८१
उदकबह स्रोतस्	२४०, २४५
उदग्भिद्	२९
उदान वायु	११८
उद्गर्तन	१३५
उद्गृह्य	१३६
उन्मेष	(?)
उन्माद	३१
,, प्रसवोत्तर	२६
,, में सिरावेध	२२३, २२४
उपदंश	३५
उपनयनविधि	३०४
उपनयनकाल वर्णानुसार	३०८
उपनाह, व्याख्या	२९६
उपमाता	२८७
उपविष्टक गर्भ	३१०
उपवेशनविधि, बालक की	२९९
उपशय	२७६
उपशीर्षक	२९७
उपशुष्कक गर्भ	३११
उपसर्ग जीवाणु का मर्मस्थान में प्राण-	
हारक	१८८
,, , नाभिनाडी में	२६५, २९६
,, , गर्भाशय में प्रसूतिज्वर	
का हेतु	२७५
उपस्थ	५
,, के विषय	५
उरःफलक	१५
उरःक्षत, छाती पर आघात का परिणाम	१९६
उल्लखलसन्धि	१६६, १६७
उल्व	२६२
उल्वक	२९७
ऊ	
ऊरु	१९०, १९२, १९३, २०४
ऊर्वी सिरा	२१०, २१३
ऊ	
ऊर्ण, तीन	४१
,, मोचन के मार्ग	४१
,, मोचन सत्पुत्र का लक्षण	४१
ऊर्तुचर्या का सिद्धान्त	३८
ऊर्तुकाल	२७, २८, ३८, ६३, ७५
,, में गर्भाशयगत परिवर्तन	७९, ८०, ११५, १७४
,, में सहवास का फल	३५, ७५

ऊर्तुकाल में सहवास योग्य दिन	३४, ३५
,, में समविधम दिन सहवास का फल	३५, ८१
,, के पश्चात् गर्भधारणा की संभावना	७६
ऊर्तुमती की चर्या	३१
,, की गृहकर्म के लिए अपवित्रता	३२
,, की शुद्धि	३२
,, के लक्षण	७८
ऊर्तुखाता स्त्री में प्रथम पतिदर्शन का महत्त्व	३२
,, कामवासनावृद्धि	७८
ऊर्षिकाय के लक्षण	१४५
ए	
एकबीजात्मक युग्म	४४
,, की विशेषताएँ	४४
,, गर्भों से संयुक्त राक्षस की उत्पत्ति	५५
ओ	
ओकसाल्म्य	१३४, २७६
ओजस्थान	११९
ओजवाहिनी	११९
ओषधिक्षिप्तिका की विशेषता	२२०, २२१
ओषधिप्रदानपद्धति, बालकों में	२९४
ओषधिमन्त्रा प्रमाण	२९४
ओषधिप्रयोग में काल का महत्त्व	२७६
औ	
औदककन्द	३१०
औदकभाव	२
औपनासिका सिरा	२११, २१३
औपरिष्टक	५१
और्वत्रिकोण	१९२
अं	
अंगच्छेदन के निर्देश	२०१, २०२
अंगप्रत्यंगविज्ञान	१, १४६
,, स्थूल और सूक्ष्म	१८१
,, का शल्यतन्त्र में महत्त्व	१७७
अन्तःपुष्प	१९, २०, २१
अन्तःस्त्रावी ग्रंथियाँ	५२, १४९, ८३, ९८
,, , गर्भलिंगोत्पत्ति में संबन्ध	७४
,, कामुकविकृति में संबन्ध	५२
अंस	१९६, १९७, २०४
अंसफलक	१५८, १९६, १९७, २०४
क	
कक्षाधर	१९२, २०४
कटीकतरुण	१८८, १९६, १९७
कण्ठनाडी	१९८
,, रचना	१५८, १६३
कण्ठप्रमार्जनविधि अपरापातनार्थ	२७९
कण्ठरा	१०२, १५३, १६८, १६९

कण्ठरा, द्विशिरस्का और चतुःशिरस्का की	१९२, २०४
कनपटी	१८९
कन्योत्पत्ति की उपपत्तियाँ	३५, ६९-७२, ८१
कपालास्थियाँ	१६०
कफप्रकृति	१४०
,, के लक्षण	१४१
कफस्थान	२०७
कफवह सिरा, संख्या	२०७
,, प्राकृत और विकृतकार्य	२०८
कयामत	५८
करण	१३२
कर्ण, शङ्खुली की रचना	१६३
,, की अवैध्य सिराएँ	२११, २१३
,, रोग में सिरावेध	२२३
कर्मेज व्याधि	५९
कर्मविपाक	६६, ९३
कर्मेन्द्रिय	३
,, के विषय	५
कलन(ल) अवस्था गर्भ की	८९
कला, स्वरूप और संख्या	१०८, ११३
,, अर्थ और वाद	११२, ११३
कल्क	२४
,, लांगली का उपयोग अपरापातन में	२८०
,, लेपन स्तन पर शिशुरोगों में	२९४
काकलक	१६५
काकवन्ध्या स्त्री	२४४
काम, व्याख्या	३०८
कामजडता	५०
कामकटिवन्ध	४९, ७८, ७९
कामशान्ति, गर्भधारणा में आवश्यकता	६४, ८२, ८६
कामवासना का कम होना, गर्भिणी में	८२
कामातुरता का शरीर पर परिणाम	७८, ७९
,, ऊर्तुखाता स्त्री में	७८
कामोत्कटता	५०
कामुकविकृति	४९
,, के प्रकार और उदाहरण	५०, ५१
,, के हेतु	५१, ५२
कामदुघा	२९
कामला के प्रकार	२१५
,, में सिरावेध	२१५, २२४
,, बालकों में, हेतु	२९७
काष्ण्य, गर्भिणी में स्तनों का	८३
,, स्तनों का अन्य हेतु	८३
,, गर्भिणी में अंगों का	८४
काल (जगत्कारण)	११, १२
कालवादी	११
कालपरीक्षा रोगी की	२७६

किंकि संप्राप्ति गर्भिणी में	८४	कैवल्य	७	क्षीरी वृक्ष	१०९, २६६
पूर्वगर्भावस्थासूचक	८५	कोथ के हेतु मृत शरीर में	१८०	बालक के खानोदक में	२६५, २६६
चिकित्सा	२४९	प्रतिबन्धक उपाय में	१८१	क्षुद्रान्न, आन्न देखो	
कुर्मों से परावृत्त करने के विविध		कोरसन्धि	१६५	क्षेत्र, दर्शनशास्त्रगत व्याख्या	२, ६६
साधन	५४, ५५	के प्रकार	१६६	स्त्रीशरीर के लिए	३८, ३९, २८९
कुकुन्दर	१९६, १९७	कोष्ठक, सांख्यदर्शन का	१०	क्षेत्रज्ञ	२, ६६
कुचिला, रक्तक्षय में	३०	सांख्यायुर्वेदमेददर्शक	१७	के पर्याय	६५
कुक्षिता सिरा	२२५	पंचीकरण का	१८	ख	
कुटजाष्टकावलेह	२९	आर्तवाददर्शन का	३०	खलकोरसन्धि	१६६
कुटिता सिरा	२२५	प्रसवकालतिथिदर्शक	७७, ७८	खादित अन्न	१११
कुनख	३१	गर्भिणीचिह्नों का	९५	खिलौने, बालक के	३००
कुमारधार के गुण	२९९	त्वचास्तर तुलना का	१०७	खीस (दूध)	८३, २६७
कुमारगार	२५२, २८३	कला अर्थदर्शक	११३	ग	
कुम्भीक	४६	वयानुसार नाडीगतिदर्शक	१२२	गधे के गुण	३०१
की उपपत्ति	४९	अस्थिसंख्यातुलनात्मक	१५९, १६०	गंधों के दूध का उपयोग	३०१
कामुक विप्रकृति में स्थान	५१	सन्धियों का तुलनात्मक	१६७	गन्ध का स्थान ध्वजोच्छ्वाय में	४९
कुलप्रवृत्ति, शरीरवर्ण में	४१	पेशीसंख्यातुलनात्मक	१६९	के अनुसार स्त्रियों के भेद	४९
बह्वपत्यता में	४५	मासानुमासिक गर्भवृद्धिदर्शक	१७५	गन्धवह धमनी	३३४
कामुक विप्रकृति में	५१, ५२	अस्वाभाविक गर्भस्थितिदर्शक	१७५	गरमाना, जानवरों में	३२
कालातीत प्रसव में	९७	गर्भशीर्षगतिदर्शक	१७६	गर्भ, व्याख्या	६०, ६६, १४७
प्रकृति की वनावट में	१४२	मर्मों का	२०४, २०५	अवक्रान्ति	३, ६०
के वाहक	६८	अवेध्य सिराओं का	२१३	की सामान्य प्रक्रिया	१२३, १४७
के रोग	३९, ५८, ६३	जत्रुध्वं सिरा संख्या का	२१२	में जीव की आवश्यकता	६६
कुलपरीक्षण का महत्त्व विवाह में	३९	धमनियों का, स्रोतों का	२४५	का स्थान	६२, ६३
कुष्ठतैल के गुण	२६५	दन्तोद्भेद का	३०५	प्रथमांग उत्पत्ति के मतमतान्तर	१००
नाभिनाडीबंधन में	२६५	कोष्ठ, १११, १२०, १२७, १९५, १९७, १९३		में धन्वन्तरिमत	१०१
कृणिता सिरा	२२५	कोष्ठांग	१२७	के विविध अंगों की उत्पत्ति	११९, ११७
कूर्चमर्म	१९०, १९१, १९२, २०४	कौञ्ज, बालक में जल्दी बैठाने से	२९९	वृद्धि की सामान्य प्रक्रिया	१२३, १४७
कूर्चशिरमर्म	१९०, १९१, २०४	कौबरेकायलक्षण	१४४	के हेतु	१३८
कुर्चा	१५३, १५४	क्रोडनक बालक के लिए	३००	संभव की सामग्री	३८
कूर्पर	१९२	क्रोडाभूमि	२९९	व्यक्त और अव्यक्तावस्था	३७, ७४, ८१
कूर्परकूट, कपाल	१५७	क्रोमाटिन	६२	गौरकृष्णादिवर्णोत्पत्तिहेतु	४१, ४२
कृकाटिका	१९८, २०४, २११, २१३	क्रोमोसमसंख्या मनुष्यबीजगत	६२	में अन्धादि उत्पन्न होने के हेतु	३३
कृच्छ्रातव	२६	का गुण दोषवाहकत्व	६३, ६८	विकृताकारी होने के हेतु	३६, ४६, ५३, ५४, ५५, ५६
कृत्रिम दुग्धपान	२८७, ३००	लिंगवाहक	६९	विकृताकार के प्रकार	५५
की विधि	३०२-३०४	कुम	१३६	अनेक होने के हेतु	४५
कृत्रिमश्वसन, नवजातश्वसावरोध में	२६३	क्षीव के प्रकार (नपुंसक भी देखो)	४६, ४७	की संप्राप्ति	४४
की पद्धतियाँ	२६३	सशुक्र और अशुक्र	४७	का प्रमाण	४५
कुमिदन्त, बालकों में, कारण	३०६	कुम्भ्य के कारण	५३, ७३, ७४, १११	का शुष्क होना	४६
कृष्णमण्डल की रचना	४२	कुम, अर्थनिर्णय	१२०	हृदयहीन होने का हेतु	४६
कैचुवे दन्तशब्द के कारण	२९७	क्ष किरण, यमलनिर्णय में	१०३	में मलाभाव का हेतु	५६
केश, अर्थ	१०२	क्षामता, गर्भधारणा के लिए	३२	रोदनाभाव	५७
वृद्धि गर्भावस्था में	८३	गर्भिणी में	८५	नेत्रविकारोत्पत्तिहेतु	४२
की गति शरीर स्वास्थ्य		क्षिप्रमर्म	१९०, १९१, २०४, १९२	का गर्भाशय में पहुँचने का काल	८९
निरपेक्ष	१३९	का सद्यःप्राणहरस्व	१८५, २०१	का स्वरूप प्रथम मास में	८८-८९
केशिका	१०९, २०५, २४१	वेषचिकित्सा	२०१	द्वितीय	८९-९०
प्राचीर की वनावट और उससे		क्षीणार्तव, लक्षण और चिकित्सा	३०	तृतीय	९०
रक्तस्रवण	२०६	क्षीर, शुद्ध का लक्षण	२९०, २९१	चतुर्थ	९०
की अधिकता औदरिक विभाग में	२११	जनक उपाय और ओषधि	२९०	पञ्चम	९३
यकृतप्रीहागत	२४१	सात्म्य के हेतु	३००	षष्ठ	९४
मांसगत	२४२	क्षीरालसक	२९७		

गर्भ का स्वरूप सप्तम मास में	९५
„ „ अष्टम „	९६
„ „ नवम „	९६
„ आठवें मास में न बचने का हेतु	९५
„ के प्रथासादि कर्म माता के अधीन	५७
गर्भहृत्स्पन्दन, संख्या	९४
„ सगर्भावस्थादर्शक	९४
„ गर्भगति सूचक	९४
„ गर्भासन सूचक	९४
„ गर्भस्वास्थ्य और लिंग	९४
„ सूचक	९४
„ युग्मसूचक	९४
„ गर्भापत्ति सूचक	९४
„ का अभाव गर्भमृत्युसूचक	९४
गर्भ का रक्तसंवहन	९९-१००
„ के मातृजादि लक्षण	१०१
„ की गति	९४, ११७
„ के आसन	९४
„ लिंगसूचक लक्षण	९४, १०२
„ लिंगसूचक विवरण	६९-७२
„ लिंगोत्पत्ति में वीर्य का स्थान	६९
„ लिंगोत्पत्ति में आर्तव का स्थान	७०
„ लिंगोत्पत्ति में शरीरस्वास्थ्य का	
स्थान	७०
„ लिंगोत्पत्ति में समागमकाल का स्थान	७१
„ लिंगोत्पत्ति में स्त्रीबीज की पका-	
पकता	७१
„ लिंगोत्पत्ति में दैविक उपायों का	
स्थान	७२
„ लिंगोत्पत्ति में अन्तःस्त्रीय ग्रंथियों	
का स्थान	७४
„ अन्तर्मृत के लक्षण	१२०
„ कालातीत की मर्यादा	९६, ९७
„ कालातीत की चिकित्सा	३१०
„ की स्थिति गर्भाशय में	१७५
„ का सिर नीचे रहने के हेतु	१७५
„ की अस्वाभाविक स्थिति का कोष्ठक	१७५
„ की अवस्थिति	१७५
„ निष्क्रमणरीति प्रसव में	१७५
„ शिर, प्रसवकाल में	१७६
„ पोषण का विवरण	३९, ९७
„ चलनस्वन	९०
„ स्पन्दनप्रतीति माता को	८४
„ और दौड़ का संवन्ध	९१
गर्भधारणा काल ५३, गर्भाधान भी देखो	
„ की सामग्री	३८
„ के लिए अनेक समागम की	
आवश्यकता के हेतु	६३, ६५
„ के लिए योनिगर्भाशयवृद्धि	
की आवश्यकता	६३
„ अयोग्य स्त्रीपुरुष	३०९

गर्भधारणा के लिए योग्य आसन	६५
„ स्त्री-कामशान्ति की आवश्यकता	६४
„ प्रतिबन्धक काल	६३
„ में आर्तवदर्शन की अना-	
वश्यकता	७९
„ दो में अल्पतम कालमर्यादा ४०, २७२	
„ „ अधिक „	३१२
गर्भपात (स्त्राव)	२७, ८६
„ कारक, जीवद्रव्य वी का अभाव	२४७
„ कारक कर्म	२४८, ८७, ८८
„ के प्रकार	३१०, ३११, ३१२
„ के लक्षण	३१०
„ की चिकित्सा	३०९, ३११
„ साध्यासाध्यता	३११
„ बहिर्गर्भाशय	३११
„ मासानुमासिक प्रतिषेध	
चिकित्सा	३१२
गर्भस्त्रावी बन्ध्यता	२४४
गर्भस्त्राव (पात), असुन्दर का हेतु	२७
गर्भविषमयता में सिरावेध	२१४
गर्भव्याकरण शरीर अध्याय	१०४-१४६
गर्भसंग	२६१
गर्भ पर परिणाम, मैथुन का	८६, ८८
„ „ माता की मानसिक	
स्थिति का	३३, ८७, ८८, ९१, २४८
„ „ माता के आहार का	२४७
गर्भाधानविधि	३०४
गर्भाधान, प्रथम के लिए योग्य वय	
	४०, ७८, ३०९
„ अत्यन्त बाला में निषेध	३०९
गर्भोपतानक में सिरावेध	२१४
गर्भावस्था, गर्भिणी देखो	
„ औदर्य	६३
„ बीजकोषस्थ	६३
„ नलिकागत	६३
गर्भाशय का स्थान उदरगुहा में	१५२, १७२
„ का स्वरूप	१५२, १७३, १७४
„ की पेशियाँ	१७२
„ के ऋतुकालीन परिवर्तन	
	७६, ७९, ८०, ११५
„ की स्थिति मैथुन के समय	६१
„ „ में फर्क वयानुसार	
	१७४, १७२
„ में गर्भ का स्थान	६३
„ की स्थिति	१७५
„ के प्रदरकारक रोग	२८
„ का आकुंचन गर्भिणी में	९४
„ वृद्धि, मासानुमासिक	८५, २५१
„ „ कोष्ठक	१७५
„ प्रसवकालनिर्णय में	८५
„ गर्भवृद्धिदर्शक	८५

गर्भाशयगत रक्तस्त्राव, असुन्दर में	२७
„ „ गर्भस्त्राव में	३१०
„ „ रोधक ओषधियाँ	२९, ३११
„ अपरिपक, अनार्तव हेतु	३०
„ की अपसंवृति	२७
„ की स्वसंवृति	२७
„ स्वसंवृति की प्रक्रिया और	
गति	२७१
„ स्थानापवृत्ति का हेतु	२७१
„ „ की संप्राप्ति	१७४
„ „ असुन्दर का हेतु	२८
„ „ बन्ध्यता का हेतु	२४४
„ संग	२५०, २६०
„ „ हेतु, प्रकार और	
चिकित्सा	२६१
„ श्रान्ति या सुस्ती	२६०, २६१
„ संहरण	२७७
„ मुख, प्रसवपूर्व रूप में	२५३
„ „ प्रसव में	२५४
„ „ गर्भपात में	३१०
„ और स्तन का संवन्ध	८३,
	२६७, १५२
गर्भिणी के लक्षण	८१-८६
„ निदानसहायक कोष्ठक	९५
„ में अनार्तव	३०, ८१, ८२
„ में आर्तवदर्शन	३०, ८२, ९६, ११५
„ में योनिगत परिवर्तन	८२, ८५
„ में हृदयस्पन्दन	८२
„ में गर्भहृत्स्पन्दन	९४
„ में कामवासना की कमी	८२
„ में स्तनगत परिवर्तन	८३, १५२
„ में पचनसंस्थानगत परिवर्तन	८२
„ में शरीर का काण्ड्य	८४
„ में उदरवृद्धि	८४, २५२
„ में गर्भाशयवृद्धि	८५, १७५, २५२
„ में गर्भाशय का आकुंचन	९४
„ में नाभिगत परिवर्तन	८५
„ स्वस्ववृत्त और सामान्य परि-	
चर्या	८६-८८, १४६-१५०
„ में व्यवय के नियम	८६
„ में व्यवयनिषेध का हेतु	८८
„ में व्यायाम के नियम	८७
„ में बहिर्निष्क्रमण के नियम	
	१४६, १४८
„ में यानावरोहण के नियम	८७
„ में वेगविधारण के नियम	८८
„ में चिकित्सोपयोगी नियम	८८
„ का आहार	८७, २४७
„ का मासानुमासिक आहार	२४९
„ में स्वच्छता के नियम	२४६, २४८

गर्भिणी का सोने का स्थान	२४६, २४७
,, की सूक्तिकागारप्रवेशविधि	२५०
,, की मानसिक स्थिति के नियम	८७, ८८, २४८
,, के दूध का बालक पर परिणाम	२७३
गर्भोदक, अधिकता गर्भावस्था पूर्वार्ध में	१७६
,, का स्त्राव प्रसव में	२५५
गलगण्ड	१०५
,, में सिरावेध	१२२
गवीनी	२३५, २४२, २४३
गार्धर्वाकायलक्षण	१४४
गुणपरिणामवादी	११
गुणविकास	११, १८
गुद	१९३
,, शरीर का मूल	१९४
गुदपाक	२९६
गुदकुन्द	२९६
गुदमैथुन	४९
,, द्विलिङ्गियों में	५०
गुदयोनि छीव	४७
गुदानुत्रिकसेवनी	२५४
गुल्फ	१९०, १९१, २०४
गृध्रसी	१३४
,, में सिरावेध	२२२
गृहनिष्क्रमणविधि	३०४
गोमूत्रगुण	२९
,, नष्टार्तव में	२९
गोदुग्ध की सर्वश्रेष्ठता	३०२
,, बालक को देने की विधि	३०२
,, और माता के दूध में मेद	३०३
,, माता के दूध के समान करने की विधि	३०३
,, परिवर्तित के दोष	३०४
,, का विरेचक गुण	३०४
,, अपरिवर्तित देने का हेतु	३०४
गोशीर्षचन्दन	२४
गौरव	१३७
ग्रहोपसर्ग, बालक का, प्रतिषेध और लक्षण	३०७
ग्रहणी	२४०
ग्रीवा के मर्म	१९८
,, की अवैध्य सिराएँ	२११, २१३
,, की हड्डियाँ	१५८
,, की सन्धियाँ	१६५
,, की पेशियाँ	१६७
ग्रीष्म, दिवास्वप्न के लिए योग्य	१३२, १३३
ग्लानि	१३७
घ	
घोष	२३४
घोषकरा धमनी	२३४
च	
चक्षु के तीन प्रकार	१८१-१८२

चक्षुवैशेषिक आलोचक पित्त	१८१
चतुर्विंशतितत्त्व, सांख्यदर्शन के	४
चतुर्विंशति तत्त्वगणना में चरक सुश्रुत का मेद	४
चतुर्थक ज्वर में सिरावेध	२२३
चन्दन, प्रकार और उपयोग	२४
चर्मचक्षु	१८१-१८२
चर्मप्रच्छद का प्रयोग, म्याकिन्टश के तौर पर	२५६
चिकित्सा का उद्देश्य	१२, २२०
,, ओषधि और शस्त्र की विशेषताएँ	२२०
,, में भूतज्ञान का उपयोग	१२, १३
,, में त्रिगुणानुसार भूतज्ञान का उपयोग	१८
चित्रिणी स्त्री	४९
चिन्तन का मनचाही सन्तानोत्पत्ति में उपयोग	३३
,, का गर्भवर्ण पर परिणाम	४१
,, का ध्वजोच्छ्वास में कार्य	४८
,, मन का विषय	५
चुम्बन, स्पर्शसुख का एक प्रकार	४९
चूने का महत्त्व गर्भिणी में	२४७
चैतन्यत्व, आत्मा का	६
,, के लक्षण	१०४
,, का स्थान हृदय ११७, १२०, १२६	
चैत्य	२४६
चौलकर्म	३०४
छ	
छाती के मर्म	१६५, १६६
,, के सिरावेध रोगानुसार	२२३
,, की अवैध्य सिराएँ	२११
,, के आघातजन्य रोग	१९६
,, की अस्थियाँ	१५७
छेदन, अंग का, निर्देश	२०९, २०२
ज	
जंघा	१९१
जंघापिण्डिका	१९१
जंघा में से कालापन, गर्भिणी में	८४
जन्मपूर्व पेशीसंख्या	१७०
,, मर्म	१८४, १९८
,, सिरासंख्या	२०७, २१०
,, अवैध्य सिरा	२१०, २११
,, सिरावेधन रोगानुसार	२२३
जननाशौच का सिद्धान्त और काल	२८४
जरण	१११
जरायु, अर्थ	५७, ११६
,, परीक्षण प्रसवोत्तर	२८०, २८१
,, शेष, मल्ल हेतु	२८१
,, के साथ बालक का जन्म	२६२, २५५
,, विदारण, प्रसव के समय	२५५
जल, उष्ण के गुण	२९५
जलरक्ता गर्भिणी में	८५

जलशीर्ष	३०७
जलोदरसंप्राप्ति	२४०
जलोदर में शस्त्र कर्म	२२१
,, ,, का स्थान	१०५
जलौका प्रयोग निर्देश	२२८
जाङ्गल देश	२७०
जातकर्म बालक का	२६२, २६६
जातिताम्य, दूध का	३००
जातिस्मरता के हेतु	५८, ५९
जाल्यन्धता, संप्राप्ति	४२
जानु	१९०, १९२, २०४
जाल	१५३
जालधरा सिरा	२१०, २१३
जिह्वा की अवैध्य सिराएँ	२११, २१३
,, रोगों में सिरावेध	२२३
,, की सीवनी	१५४
जीव (आत्मा) के पर्याय	६५, ६६
,, गर्भाशय में पहुँचने की रीति	६७
,, का परिमाण	८९
,, की गर्भोत्पत्ति में आवश्यकता	६६
,, का अर्थ दार्शनिक और वैद्यकीय	६८
जीवद्रव्य 'ए' 'बी' गर्भिणी के आहार में आवश्यक	२४७
जीवद्रव्य 'डी' अस्थि बनने के लिए आवश्यक	१६२
जीवद्रव्य 'डी' के अभाव से होने वाले रोग	३०६, ३०७
जीवाणुमयता मर्माघातजनित	१८८
,, प्रसूतिज्वर में	२७५, २७६
,, नाडीकल्पनजनित	२६५, २९६
जीवशोणित, लक्षण	२६
जृम्भा	१३६
,, में मुखाच्छादन की आवश्यकता	१३६
,, से हनुसन्धिविक्षेप	१३६
,, का प्रसव प्रथमावस्था में उपयोग	२५८
ज्वर (बालक का) में घृतप्रयोग	२९४
,, ,, स्तनपान	२९४
,, ,, जलसेवन	२९५
,, प्रसूति	२७५
,, स्तन्य	२६७
ज्ञान	१०२
,, चक्षु	१८१-१८२
,, मनुष्यों की विशेषता	२९८
,, चक्षु के द्वारा अदृश्य वस्तुओं का दर्शन	१८२
,, वर्धन में शास्त्र और प्रत्यक्ष दोनों का महत्त्व	१७७
ट	
टेंडुआ, रचना	१६३
त	
तत्त्वचतुर्विंशति	४

बीजवाहिनी २४, ८०, १५२, १७२, २४३	मणिवन्ध १५३, १५४, १९२	मर्म, शिर के १९८
,, की खराबी बन्धता हेतु २४४	मण्डलसन्धि १६५, १६६	,, धमनी के १८३
,, स्त्रीबीज का गर्भाशय में १७४	मत्स्यकाय लक्षण १४६	,, मांस के १८४
,, आने का मार्ग १७४	मधुरता जानने के साधन २३	,, सिरा के १८४
,, शुक्राणु स्त्रीबीज संयोगस्थान ६२	मध्यशरीर १४७	,, स्नायु के १८५
,, में गर्भ का पोषण १८	,, की अस्थियाँ १५७	,, अस्थि के १८५
बीजदोष (माता पिता के), गर्भविकृतिहेतु ५६	,, ,, सन्धियाँ १६५	,, सन्धि के १८५
,, लैंगिक विपर्यासहेतु ५१, ५२	,, ,, पेशियाँ १७०	,, का परिमाण २००
बीजधर्मी प्रकृति ८	,, ,, अवैध्य सिराएँ २१०, २११	,, परिमाणप्रयोजन २००
बुद्धितत्त्व ३	,, में रोगानुसार सिरावैध २२३	,, ज्ञान का महत्त्व शल्यतन्त्र में २०२
बुद्धि १६	,, की सिराएँ २०७	,, वैध के लक्षण २०३
,, का कार्य ३, १४०, २०८	,, के मर्म १८४	,, वैध में प्रयुक्त पराकाष्ठा की आवश्यकता २०३
,, के सात्त्विकादि भेद ३	,, की स्नायुसंख्या १६७	,, कोष्ठक २०४, २०५
,, वैशेषिक पित्त १८१	मध्यस्थधर्मी ९	मलधरा कला ११०, १११, ११५
बुद्धिवर्धक लेह बालक के ३१३	मन, अहंकार से उत्पत्ति २	मलोत्सर्जक अंग शरीर के २३५
बुद्धीन्द्रिय ३, ४	,, का उभयेन्द्रियत्व ४	मस्तिष्क, मस्तुङ्ग का वर्णन १२८
,, के विषय ५	,, के विषय ५	मस्तिष्ककार्यविवरण की पद्धति २०९, २३१, २३२
बुद्बुदावस्था गर्भ की ८९	,, का षडिन्द्रियत्व ४, १२९	मस्तिष्कपीडन १८८, १९९
बुंदा २७५, ३००	,, का स्वरूप १२९	महत्त्व ३
बुंहणचिकित्सा २७४	,, के सात्त्विकादि गुण १७	महाभूत उत्पत्ति २, ४
बृहती मर्म १९६, १९७, २०४, २१०, २१३	,, से अर्थग्रहण की युक्ति ४, १२९, २३७	,, व्याख्या ४
बोलबद्ध रस २९	,, का स्थान १२९	,, लक्षण १२
ब्रह्मकाय लक्षण १४४	मनोवह स्रोतस् २३७	,, गुण १७
,, की श्रेष्ठता १४५	मन्या १९८, २०४	,, ज्ञान का चिकित्सा में उपयोग १२
ब्रह्मचर्य विवाहितों का ३४	,, स्पन्दनाभाव मृतावस्था का निदर्शक १३१, १९८, २३१	,, का त्रिगुणानुसार संगठन १८
,, गर्भलिंगोत्पत्ति में स्थान ७१	मरणसंकोच १८०	महापद्म २९७
ब्रह्मचारिणी ३१, ३४	मरुदेश २७०	मांस, ऐच्छिक अनेच्छिक १७१
ब्रह्मन्त्र २००	मर्कल (मकल देखो) २८२	मांसधरा कला १०८
ब्रह्मवृक्ष ८	मर्म, व्याख्या १८३	मांसवह स्रोतस् २४१, २४५
ब्राक्स्टन हक्स का चिह्न ९४	,, स्वरूप १८६	मांसमर्म १८४
भ १७५	,, संख्या और प्रकार १८३	मांसरज्जु १५४
भद्रश्री २४	,, सद्यःप्राणहर १८५	मातृका १९८, २०४, २१३
भवन्ति चात्र का अर्थ १२६	,, ,, घातक काल १९०	माता की महत्ता २८५
भगन्दर के असाध्य लक्षण २१	,, कालान्तर प्राणहर १९५	,, के दूध की महत्ता २८६
भाव, बौद्धिक और शारीरिक ६७	,, ,, घातक काल १९०	,, और गौ के दूध में भेद ३०३
भावना ओषधियों की ५८	,, विशल्यघ्न १८५	माता पिता का विचार सुप्रज्ञानिर्माण की दृष्टि से ३९
भ्राषणधमनी २३४	,, ,, का घातकत्व १९०	,, की आयु का प्रसवकाल पर परिणाम ९७
भिक्षुसंघाटी २८३	,, रुजाकर १८५	,, के सदाचार का सन्तान पर परिणाम १०३
भुगर्भ १७५	,, ,, घातकत्व १९०	मानसिक स्थिति (माता की) गर्भ पर परिणाम ३३, २४८
भूत (महाभूत देखो) ४	,, के प्राणहरत्वादि की उपपत्तियाँ १८६-१८८, २०२	,, समभावस्था में ८७, २४८
भूतात्मा ६६, १०४, १३१	,, स्थान के अनुसार आघात का फल १८०	,, गर्भधारणा के लिए आवश्यक ६४, ६५
भोजनोत्तर आराम का आसन १३३	,, घातक काल १९०	,, गर्भलिंगोत्पादन में ७०
भौतिक सृष्टि के विभाग १५	,, पाद के १९०, १८४	,, का स्तन्य पर परिणाम २८८, २९१
भ्रम, व्याख्या और संप्राप्ति १३७, १३८	,, बाहु के १९२, १८४	
भ २८१, २८२	,, उदर के १९३, १८४	
मकल, हेतु और लक्षण २८१, २८२	,, छाती के १९५, १८४	
,, चिकित्सा २८२	,, पीठ के १९६, १८४	
,, और आबी में भेद २८२	,, ग्रीवा के १९८	
,, विद्रधि २७५, २७६		
मज्जामेद ११०		
मज्जास्थान १६१		

मानसिकस्थिति का गर्भाशय संग में	
परिणाम	२६१
हृद्भेद का हेतु	१८७
प्रसूतावस्था में आवश्यक	२७२
नपुंसकता का हेतु	५३
का रक्तभार पर परिणाम	२८
मानुषयोनि	१५
मालीश प्रसूता के लिए हितकर	२७३
माहेन्द्र काय लक्षण	१४६
मिथ्या आवी	२५३
और वास्तविक में भेद	२५३
प्रसवोत्तर वेदना	२८२
मिथ्याहार	२९२
मीमांसक	११
मुखचर्चा बालरोगविज्ञान में	२९३
मुखपाक बालक में	२९७
मुखमैथुन	४८, ४९, ५०, ५१
मुखयोनिछीव	४६
मुखविशोधनविधि नवजात बालक की	२६२
मुर्देबाजी	५१
मूत्र का स्थान	२३५
की उत्पत्ति का स्थान	२४२
वह धमनी	२३५
स्रोतम्	२४२, २४५
स्रोत	११२
विषमयता	२१४
में सिरावेध	२२४, २२८
मूत्राशय	१५१
वस्ति भी देखो	
मूच्छासंप्राप्ति	१२५, १३७, १८८, २२०
के हेतु	१३७, १४०
के लक्षण	२०३
मूर्तसमूह	१७
मूदगर्भहेतु	८६
मृतगर्भ	२४४
मृतवत्सावन्ध्या	२४४
मृतसंशोधन, शल्यतन्त्र में महत्त्व	१७७
के लिए मृत कैसा होना चाहिए	१७८, १७९
संशोधन के लिए मृत तैयार करने की पद्धति	१८०, १८१
संशोधन की पद्धति	१७८, १८१
में मृत की आयु का विचार	१७९
मृत्यु के लक्षण	१२१
तात्कालिक हेतु	१८७
कालान्तर हेतु	१८८
शरीरगत परिवर्तन	१८०
भेद	१५२, १५३
भेदसंचय के स्थान	१०९, २४२
उत्पत्ति के स्थान	२४२
भेदोपरा कला	२०९

भेदोपरा स्रोतम्	२४२, २४५
भेषा	१७, १०२, १४७
मैथुन, अष्टविध	३१
कर्म	६०
के शरीरगत परिवर्तन	६१
का आसन	६५
के लिए निम्न दिन	३४, ३५
योग्य तथा अयोग्य काल	३४, ३६
के समय तन्मयता की आवश्यकता	५३
के समय के साम	३४
महीने में कितनी बार सेवन करे	३६
स्पर्शमुख का एक प्रकार	४९
का स्त्रीबीजविपाक पर परिणाम	४३
के दिन पुत्र या कन्या के लिए	३४, ३५
के नियम गर्भिणी में	८६
प्रसूता में	२७२, २७३
अतिसेवन का परिणाम पुरुष में	२०
स्त्रियों में	२७
मुख में सेवन	४८, ४९, ५०, ५१
मैथुनासहिष्णुता हेतु	२४४
मोच	१६५, १६९, १८१
य	
यकृत	१४९
गर्भ का	१००, १४९
के कार्य	१४९
रक्तका भाण्डार	१०९, १४९, १५१
विदीर्ण होने के लक्षण	१४१
जन्म उदरवृद्धि में सिरावेध	२२२
रक्तक्षय चिकित्सा में	२९, १४९
रतौषी चिकित्सा में	१४९
यदृच्छा	११, १२
यन्त्रणविधि, सिरावेध में, उत्तमांग की	२१७
पाद की	२१७
हस्त की	२१७
पृष्ठ की	२१८
उदर की	
पार्श्व की	
शिश्न की	
जिह्वा और तालु की	
यमल, यम, उत्पत्ति की उपपत्ति	४४, ६२
में न्यूनाधिक वृद्धि के हेतु	४६
निर्णय में गर्भ हृत्स्पन्दन	९४, १०३
उदर की स्थिति	१०२
की पद्धतियाँ	१०३
पापी कहने के हेतु	४६
बहूपत्यता भी देखो	
यवागू	२१६, २५८
यान अर्थ	१३२
यानावरोहण रक्तप्रदर का हेतु	२८
का गर्भिणी में निषेध	८७, २४८

यानावरोहण से परिश्रान्त दिवानिद्रा योग्य	१३२
युग्म, यम देखो	
योग अर्थ	१४८
योगवाही स्रोतम्	१४८
योनिविभाग सृष्टि का	१५, ६७
योनि (स्त्री की) रचना और पेशियाँ	१७२
का स्वरूप	१७३
की स्थिति शुक्रस्खलन के समय	६१
से शुक्र का शोषण	८६
स्फुरण और स्पन्दन	८२, ८५
की स्थिति गर्भावस्था में	८५
प्रसव के समय	२५९
में तैलपिचुधारण गर्भिणी के	२४९
योनिचुम्बन	४९
योनिअंश	२७१
योण्याक्षेप	२४४
र	
रक्त उत्पत्तिस्थान	११०, ११४, ११५, १४९, १४१
शरीर का मूल और प्राण	२०६, २२१
स्वतन्त्रदोष	२०९, २२७
का शल्यतन्त्र में प्राधान्य	२२७
की शुद्धि फुफ्फुस में	११८, २२७
गर्भ के माता के द्वारा	५७
स्त्राव के प्रकार	१८८
लक्षण	२०१
चिकित्सा	२०२
स्थापक ओषधियाँ	२९
रक्तक्षय में यकृत सेवन	२९, १४९
की ओषधियाँ	३०
रक्तसंवहन गर्भस्थ	९९
जन्मोत्तर	१२१, २०९, २१९, २४१
के साथ त्रिदोषों का संचरण	२३३
रक्तधरा कला	१०९, ११४
रक्तवह सिरासंख्या	२०७
प्राकृत कार्य	२०८
विकृत कार्य	२०९
स्रोतम्	२४१, २४५
रक्तभाराधिक्य में सिरावेध	२२४, २२८
अन्तःस्त्रावी अस्थियाँ	२८
गर्भिणी में	८२
रक्तमोक्षण का प्रमाण सिरावेध में	२२१
के स्थानानुसार शस्त्र	२२७, २२८
योग्य रोगों का वर्गीकरण	२२८
अत्यधिक के लक्षण	२२१
रक्त, मस्तिष्कविकृति का हेतु	२३३
रक्तगन्ध या दर्शन, मूच्छा का हेतु	२२०
रक्तकों का कार्य	२०९

रक्तगुल्मलक्षण	८३, ८५, ८६
,, प्रदरहेतु	२८
रक्तशुक्रता, अतिव्यवाय से	२०
,, वृषणाघात से	२४३
रक्तप्रदर (असुग्दर देखो)	२७
रक्ताशय	१५१
रक्ताोरस	१९६
रक्षाकर्म, बालक का	२८२, २८३
रक्षोघ्न धूप	२८३
,, ओषधियाँ	२८३
रज (गुण) का प्रवर्तकत्व	३
रज, आर्तव देखो	
रजःकुच्छ	१७४
रजस्वला की गृहकर्मयोग्यता	३२
,, शुद्धि	३२
,, गमन का फल	३५, ७९
रजोदर्शनकाल	८०
,, गर्भिणी और प्रसूता में	३७
रजोनिवृत्ति, काल और परिवर्तन	८०, ३१३
रजोविष	३२
,, का बालक पर परिणाम	३२, २९१
रतौषी में यकृत	१४९
रस (इन्द्रियार्थ) शिशुनोत्थापन में	४८
रससंवहन	२०९
रसवह धमनी	२३४
,, सिरा	२११
रस का स्थान	१५०, २३५
रसकपूर का घोल गुण	२४९
रसाञ्जन, रसोत	२९७
राक्षस (विकृतगर्भ) और उनके प्रकार	५५, ७३
राक्षसकाय लक्षण	१४५
राजदन्त	३०६
राजस गुण	२
,, बुद्धि	३
,, मन	१७
,, प्रकृति के प्रकार	१४५
रान्ता	७३
रानि, निद्रा का उचित काल	१२२, १२४
,, जागरणविधि निषेध	१३२
,, , के लिए दिवास्वप्न का नियम	१३३
,, , से होने वाले विकार	१३३
,, , का अभ्यास से निर्दोषत्व	१३४
रुचक	१६०, १६२
रूपदर्शन ध्वजोच्छ्राय में	४८
रूपवह धमनी	२३४
रोगी परीक्षण की विधि	२७६
रोदन बालरोगविज्ञान में	२९३
रोमकूप	२३६
,, का स्वर्य	१३९

ल	
लक्ष्मणा	३७
लघनचिकित्सा	२७४
,, के नियम बालक में	२९५, ३००
ललाट	१४७
,, की अवध्य सिराएँ	२११, २१३
लसिकाभधातुवृद्धि की अवस्था	१८७
लांगली, गर्भाशयसंकोचक	२६२, २८०
लायसोल योनिप्रक्षालनार्थ प्रसव में	२४९, २६०
लिंग, लिंगग्राह्यता	८
लिंगशरीर	१०, ५८, ६६, ६८
,, का प्रमाण	६७
लिंगज्ञापक लक्षण गर्भिणी में	१०२
लिंगमेदोत्पादक हेतु गर्भ में	६९-७२
लीढ अन्न	१११
लीनगर्भ	३११
लेहप्राशनविधि नवजात बालक में	२६५, २६६
,, के निर्देश	२६७
,, बनाने की विधि और लाभ	२६८
,, बुद्धिवर्धक	३१३
लैंगिकविपर्यास व्याख्या	५०
,, के सोदाहरण प्रकार	५१
,, के हेतु	५१, ५२
लोकायतिक	११
लोभ	१०२
,, बुद्धि गर्भिणी में	८३
लोह रक्तक्षय में	२९, ३०
लोहिताक्ष मर्म	१९०, १९२, १९३, २०४, २१०, २१३
लौडिब्राजी	५१
व	
वह्णसुरंगा	१९२
वक्त्री या वक्रध्वज झीव	४६
वन्ध्य	२०, ४७
वन्ध्यता (पुरुषों में) व्याख्या	२०, २४४
,, के हेतु	२०, २१, ५३, ६५
,, स्त्रियों में हेतु	६४, २४४
,, के प्रकार स्त्रियों में	२४४
वपा	२४२
वपावहन	११०
वर्ण शरीर के	४१
,, की उत्पत्ति की उपपत्ति	४१
,, पर व्यवसाय का परिणाम	४२
,, का त्वचा में स्थान	१०६
,, में फर्क होने के हेतु	४१
वल्यास्थि	१६०, १६१
वसा	११०
वाग्वह सिरा	२११
वाजीकरण योग	२३
,, का हेतु सुपुत्रप्राप्ति	३६, ७०

वाजीकरण का श्रेष्ठ साधन उत्तम स्त्री	२८९
वातदोष का स्थान	२०७
,, का शरीरगत कार्य	२३२
,, , का विवरण	२०९, २३१, २३२, २३३
वातवह सिरासंख्या	२०७
,, प्राकृत और विकृत कार्य	२०८
,, धमनियाँ	२३३
वात (महाभूत) के गुण	१७
,, के लक्षण	१२
,, का शरीर पर भार	२९५
वातप्रकृति	१४०
वाताशय	१५०
वातिक बंध	५२, ७३
वातिक पीडायुक्त रोग निद्रानाश हेतु	१३४
वातोरस छाती पर आघात से	१९६
वानस्पत्य कायलक्षण	१४६
वायसतुण्ड सन्धि	१६५, १६६
वारुणकाय लक्षण	१४६
वार्ता (कासुक विप्रकृति)	५२, ७३
वार्ताविद्या	३०८
वाहन का अर्थ	१३२
वाहिनीनियन्त्रण केन्द्र	२१९, २२०
,, , घात	१३७, १८८
विकल्प	४, १६
विकृति दार्शनिक लक्षण संख्या	५
विगृह्यसंभाषापद्धति	१४१
विज्ञान अर्थ	१०२
विटपमर्म	१९०, १९२, १९३, २०४, २१०, २१३
विदग्धाहार	२९२
विदाही द्रव्य	२४७, २९२
विद्रुता सिरा	२२५
विधुर	१९८, १९९, २०४, २११, २१३
विनामिका रोग	२९६
विरुद्धाहार	२९२
विवाहकाल	३०८
विविक्तता	१७
विशिखान्तर	२५८
विशेष (दार्शनिक)	४, ९
विषमाहार	२९२
विषमज्वर, प्रकार और उसमें सिरावेष	२२३
विषाद के परिणाम	२५३
वृक्क	११८
,, के कार्य	२४२
,, कार्य शानाभाव के हेतु	११९
वृद्धावस्था, शरीर पर परिणाम	१७८
वृष	१३४
वृषण	११८
,, कार्यज्ञान का हेतु	११९
,, का अन्तःस्त्राव	५२

वृषणसीवनी	१५४
वेगविधारणनिषेध गर्भिणी में	८८, २४८
वेदनं, वेदना	२०
वेदनाहर ओषधियाँ	२८२
वेदान्तसूत्र शारीरिक कहने का हेतु	१
वेपिता सिरा	२२५
वैदिकमन्त्र, प्रसवसमय के	२६०
,, स्तनपानविधि के	२८७
,, अन्नप्राशनविधि के	३०४
,, मधुप्राशनविधि के	२६६
वधैर्गृह	२५१
वैद्यकीय व्यवसाय के लिए योग्यता	१८२
व्यंग सहज	३६
व्यवसाय अर्थ	३
व्याकरण	४, १०४, २४६
व्याधिसात्म्य	२७६
व्यान वायु	२३२
व्याम अर्थ	१५२
व्यामिश्र लिंगावस्था	७३
व्यायाम के नियम गर्भिणी में	८७
,, ,, प्रसूता में	२७३
श	
शंख	१९८, १९९, २०४
शंखसन्धिसिरा	२१२
शंखावर्त	१६५, १६६
शंखिनी स्त्री	४९
शब्दवद् धमनी	२३४
शब्दवाहिनी सिरा	२११
शरीर अर्थ	१४७
शरीरसंख्या व्याकरण अध्याय	१४६-१८३
शरीर के षडंग	१४७
,, प्रत्यंग	१४७
,, की अस्थियाँ	१५५
,, पेशियाँ	१६९
,, सन्धियाँ	१६४
,, रक्तवाहिनियों के प्रकार	१०९, २०५
,, के प्राण	१०४, २०२, २०६
,, की सिराएँ	२०५
,, की गन्ध के अनुसार स्त्रियों के	
प्रकार	४९
,, के मर्म	२०४
शल्यतन्त्र का महत्त्व	१६७
,, की विशेषता	२२०, २२१
शब्द का स्थान ध्वजोच्छ्वाय में	४९
शाकुन्तकाय लक्षण	१४५
शाखा (शरीर की)	१४७
,, सन्धिसंख्या	१६५
,, अस्थिसंख्या	१५६
,, स्नायुसंख्या	१६७
,, पेशीसंख्या	१६९
,, के मर्म	१८४, १९०, १९२

,, मर्मों का परीक्षण	१९३
,, ,, गौणत्व	२००
,, की अवध्य सिराएँ	२१०, २१३
,, की सिरावेधनविधि	२१७
,, की सिराएँ	२०७
शान्ता देवी, जातिसरता का उदाहरण	५९
शारीरस्थान	१, १८२
शारीरिकसूत्र	९
शंखबुद्धि	५८
शिरःप्राधान्य के हेतु	१२८
,, में मन का स्थान	१२८
,, के मर्म	१९९
,, के सिरावेधन की पद्धति	२१७
शिरःसेवनी	१५४
शिरा, सिरा देखो	
शिरोगति गर्भ की	९४, १७६, १७७
शिरोग्भ्यंग के गुण	१३५
शिरोऽवग्रहण प्रसव में गर्भ का	२५५
शिराविरचन पंचकर्म में	२२७
शिरावृद्धिहेतु बालक में	३०७
शिवरन्ध्र	२००
शिख की पेशियाँ	४८
,, के विकार नपुंसकता के हेतु	५३
,, का उत्पादन, ध्वजोच्छ्वाय देखो	
शीर्षदर्शन गर्भ का	३५९
शुक्तिछिद्र हृदय का	१००
शुक्रशोणितशुद्धि अध्याय	१९-६०
शुक्र, स्त्रियों का	४३, ५४
शुक्र, पर्यायनाम	१९
,, दोष	१९, २०
,, ,, चिकित्सा	२२, २३
,, ,, के हेतु	२०, २१
,, में रक्त	२०
,, का संगठन	२०, ११४
,, का शुद्ध स्वरूप	२३, २४
,, की मधुरता	२३
,, की गन्ध	२३
,, का कार्य	३६
,, का योनि से शोषण	२३, ८६, ८७
,, सेवन के गुण	१४८
,, ,, आसेक्य में	४६
,, बाहुल्य का पुनोत्पादन में स्थान	६९, ७२
,, की सौम्यता	६०
,, स्खलन कालीन आपत्तियाँ	६१
,, की गर्भाशय में प्रवेश की युक्ति	६०
,, और शोणित के संगम का	
स्थान	६२, ८९
शुक्रधरा कला	१११, ११४
शुक्रप्रणाली, शुक्रवाहिनी	२१, १११, ११८
शुक्रवद् नाडी, आघात का फल	१९२

शुक्रस्रोत	११२, ११८, ११९
शुक्रवद् स्रोतस्	२४३, २४५
,, धमनी	२३५
शुक्रक्षय	२०
,, के हेतु	२१
शुक्राणु, वीर्य का मुख्य अंग	२०, ३९
,, सूक्ष्म रचना	३३
,, संख्या	६२
,, उत्पत्तिस्थान	११८
,, का गतिमत्त्व	३२, ६२, ७१
,, का संस्कारवहत्त्व	६८
,, बीजवाहिनी में संजीव रहने	
का काल	९६
,, और जीव का अमेद	६७
,, पर योनिस्त्राव का परिणाम	६३, ३४
शुक्राशय	२१, १२२, २२८
शुभ्र वस्त्र के गुण	२४६
शुष्कगर्भ	४६
शुषिरस्त्रायु	१६७, १६८
शूल बालक में	२९७
शृंग (सींग) रक्तमोक्षण में	२२८, २२९
शृंगाटक	१९८, १९९, २०४, २८३
शोफ, शिशन देखो	
,, स्तम्भ	१२४
,, छेद कैन्स का हेतु	११९
शोणित (आर्तव), अर्थ और भेद	१९, २१, ४३
,, स्त्राव के दोष	२१
,, ,, की चिकित्सा	२४
,, ,, का शुद्ध स्वरूप	२५
,, ,, का वर्ण	२५, ८०
,, ,, की गन्ध	८०
,, ,, का संगठन	२६, ७६
,, ,, की राशि	२५
,, ,, की अवधि	२५
,, ,, की युक्ति	७६, ११५
,, ,, के अनुपंगी लक्षण	२६
,, ,, से शरीरशुद्धि	३२, ७६
,, ,, की आग्नेयता	६०
,, ,, के समय में गर्भाशय की	
स्थिति	७९
,, ,, और बीजविपाक का	
संबंध	७६, ११५
शोणितदर्शन के उपयोग	७६
,, के पश्चात् कामवृद्धि	७८
,, गर्भावस्था में	३०
शोणितप्रवृत्तिचक्रकाल	२६, ७६, ९६
,, का अवन्ध गर्भधारणा में	८२
,, ,, की उपपत्ति	११५
,, ऋतु, रज, आर्तव भी देखो	
शोणितवर्धक (रक्त) योग	२९
शोथ के पर्यवसान	२१५

शोध के विकारों में सिरावेध	२२४
श्यामा स्त्री के गुण	१८५
श्रोणिचक्र	१५७
,, की अवैध्य सिरा	२१०, २१३
श्लेष्मक कफ	११०, १६४
श्लेष्माशय	१५१
श्लेष्मधरा कला	११०, ११४, १६४
श्वसन के प्रकार	११८
श्वासकुच्छ	२२४, २३९
श्वासारोष नवजात	२६३
श्वेतकणों का उत्पत्तिस्थान	१५०
ष	
षडंगशारीर	१४७
षण्ड (छोब और नपुंसक भी देखो)	७३
षण्डक	४७
षण्डता के कारण	५३, ७३, ७४, ११९, १९२
स	
संकल्प	४, १६
संख्या रक्तक्षय में	३०
सगर्भावस्था, गर्भिणी देखो	
संज्ञावह स्रोतस्	१२४
सत्कार्यवाद	२, ६, ९
सत्त्वगुण	३
,, का पंगुत्व	२७४
संतर्पणचिकित्सा	१६७
सन्धि व्याख्या	१६७
,, गति के अनुसार प्रकार और उनके स्थान	११०, १६४
,, चल	१६४
,, अचल	१६४
,, रचना	१६४
,, संख्या	१६५
,, रचना के अनुसार प्रकार	१६५, १६६
,, की विविध गतियाँ	१६६
,, का तुलनात्मक कोष्ठक	१६७
सन्धिर्मर्म, नाम और संख्या	१८४, १८५
सन्धिःश्लेष्मा	११०, १६४
सन्धिविःश्लेष्मा	१६५, १८८
,, हनु का जृम्भा से	१३६
सन्निवेश	५७
संन्यास व्याख्या	१२५
,, संप्राप्ति	१८८
,, लक्षण	१३७
,, युक्त रोग	१३५
समलिंगी, समलिंगता	५०, ५१
समिति अर्थ	१४१
संमुखश्वासनविधि, नवजात श्वासाव-	
रोध में	२६३
सर्पकाय	१४५
,, का स्वभाव	१४५
,, दंश में सिरावेध	२१४, २२४

सर्वगन्ध	२६६
सर्वभूतचिन्ताशारीर अध्याय	१-१९
संव्युह न प्रणाली	१९२
संस्कारवाही	५०, ५२, ५३
संस्कारवाहिता	५०, ५१, ५३
सांख्यदर्शन	१, ४
,, वृक्ष	१०
,, से आयुर्वेदके मेद	१०, १३, १४, १६
,, में पंचीकरण का अभाव	१९
सात्म्य	२८८, ३००
सात्त्विक गुण	४१
,, प्रकृति के प्रकार	१४४
,, आहार	२४७
,, मन	१७
,, बुद्धि	३
सात्मीकरण	१०४
सात्म्य	२८८, ३००
,, ओक	१३४, २७६
,, जाति	३००
साधर्म्य वैधर्म्य, प्रकृति पुरुष का	८
साम मैथुनकालीन	३४
सामुद्रसन्धि	१६६
साहस प्रसव	२५०
सिरावर्णविभक्ति अध्याय	२०५, २१३
सिरा, अर्थ	१०९, २०५, १९३
,, प्राचीर की रचना	२०६
,, का हृदय से संबंध	११९
,, और धमनी का पृथक्त्व	२२९, २३०
,, संख्या, स्वरूप और मूल	२०५
,, दोषवहों की संख्या	२०७
,, के कार्य	२०८
,, के लक्षण	२१०
,, का सर्वदोषवहत्व	२०९
,, की चंचलता	२२६
,, अदृश्यता के हेतु	२१४
,, कुटिलता के हेतु	२२५
,, गर्भिणी में	८५
,, चतुर्विध	१८९
,, गत रक्त का विभजन	२१९
,, अवैध्य अंग प्रत्यंगों की	२१०, २१३
,, सुविद्धा लक्षण	२१९
सिरामर्म, नाम और संख्या	१८४
,, स्थित अंग	१९३
सिराव्यवधि शारीर अध्याय	२१३-२२९
सिरावेध विधि	२१५, २१६, २२४
,, का स्वस्वावस्था में निषेध	२१६
,, में बन्धन की विधियाँ	२१६, २१७, २१८
,, के शस्त्र	२१६
,, पातन का प्रमाण	२१८
,, के लिए योग्य काल	२१८
सिरावेध के लिए अयोग्य काल	२१६

सिरावेध के लिए योग्य आसन	२१६
,, योग्य सिरा	२२४
,, विविध रोगों के स्थान	२२२, २२३
,, निषिद्ध रोगी	२१३
,, निषिद्धों में वेध प्रयोजन	२१५
,, निषेध का हेतु	२१४
,, योग्य विकार	२१३, २१४, २२४
,, में स्नेहन स्वेदन से लाभ	२१५
,, में रक्तमोक्षण का प्रमाण	२२१
,, में प्रथम दुष्ट रक्त का स्नाव	२१९
,, में ठीक रक्त न बहने के हेतु	२१९
,, में पुनर्वेधन का काल	(?)
,, में दोष सशेष रखने का महत्त्व	२२०
,, में सदाश रक्त को निर्दोष करने के उपाय	२२६
,, के पश्चात् कर्म	२२१
,, निषिद्ध कर्म	२२७
,, का शल्यतन्त्र में प्राधान्य	२२७
सीगेल की उपपत्ति कन्यापुत्रोत्पत्ति की	७१
सीमन्त	१५४, १९८, १९९, २१२, २१३
सीवनी	१५४, १९९
सूचीमुखी	१७४
सूतक	२८४
सूतिका, व्याख्या	३६
,, का गृह	२५०, २५२
,, परिचर्या और स्वस्ववृत्त	२६९, २७४
,, अवस्था की अवधि	२६९
,, के लिए आराम	२७०
,, का आहार	२७१
,, का मानसिक आराम और निद्रा	२७२
,, का मैथुनसेवन का काल	२७२
,, का अभ्यंग और व्यायाम	(?)
,, के चौसठ रोग	२७५
,, में सान्योत्पत्ति काल	२६६
सूतिकागार प्रवेशविधि गर्भिणी की	२५०
सूतिकाज्वर, व्याख्या	२७५
,, के हेतु	२६७, २७४, २७५
,, की विकृतियाँ	२७५, २७६
,, के लक्षण	२७६
,, के उपद्रव	२७६
,, की प्रतिषेधक चिकित्सा	२७७
,, की असाध्यता के हेतु	२५१, २७१, २७४
सृष्टि, भौतिक अव्यक्त से उत्पत्ति	२
,, के दो भेद	३
,, के आदि कारण	१०, ११
,, सेन्द्रिय	३
सेतुधमनी, सेतु सिरा	१००
सौगन्धिक डीब	४६
,, की उपपत्ति	४९

स्तन, स्थान और रचना	१५१, १५२
,, के परिवर्तन यौवन में	१७२
,, ,, गर्भिणी में	८३
,, और गर्भाशय का संबंध	८३, १५२
,, पर आघात के परिणाम	२४३
,, प्रदेश	१४७
,, युक्त प्राणियों के बच्चों का पोषण	३००
,, द्वारा शरीरगत दोषों का उत्सर्ग	२९१
स्तनपान, प्रथम कराने का दिन	२६७, २६८
,, प्रथमदिन कराने से लाभ	२६८, २८६
स्तनपान विधि	२८७
स्तनसंपत्	२८५
स्तनदोष के परिणाम	२८७
स्तनलेप से ओषधिप्रदानपद्धति	२९४
स्तनापनयन	३०१, ३०५
,, के उपाय	३०५
स्तनापनयक मोदक	३०५
स्तनमूल	१९५, १९६, २०५, २११
स्तनरोहित	१९५, १९६, २०५, २११
स्तन्य, प्रसूति के बाद उत्पत्ति का काल	२६६, २६७
,, ,, की उपपत्ति	२६७
,, की उत्पत्ति	२८९
,, का संगठन प्रारम्भिक	२६७
,, की परीक्षा	२९०, २९१
,, नाश के कारण	२८८, २८९, ३०१
,, ,, की चिकित्सा	२८८, २९०
,, वर्षक आहार और ओषधियाँ	२९०
,, पर मानसिक स्थिति का परिणाम	२८८, २८९
,, दूषणहेतु	२९१
,, के अभाव में व्यवस्था	२८६
,, ,, किस का दूध दिया जाय	३०२
,, और शुक की तुलना	२८९
,, अपरिस्तृत सेवन करने का परिणाम	२८८
स्तन्यज्वर, हेतुलक्षण	२६७
स्तन्यधारी (धारी देखो)	२८६, २८७
स्तन्यवह धमनी	२३४
,, स्रोतस्	२४३
स्तन्याशय	१५१
स्तब्धता, हेतु और प्रकार	१८९
,, लक्षण	१८८, २०३
,, आमाशयान्नाघात से	२४०
,, गुद के आघात से	१९४
,, शंख प्रदेशाघात से	१९९
स्त्री, प्रजोत्पादन योग्ययोग्यता	३९, ३०९
,, प्रजोत्पादन योग्य वय	४०, ३०९
,, का कर्तव्य प्रजनन	२८९
,, और पुरुष में अन्तर	४०
,, के दो प्रसवों में अन्तर	४०
,, में यौवनपदापेण के लक्षण	७८
,, पुरुष में शुकप्रवर्तक	२८९

स्त्री का शुक	४३, ५४
,, कर भाग	५२
स्त्रीबीज, आर्तव, शोणित भी देखो	३८, ४३, ६९, २४३
,, का शुक के साथ संयोग स्थान	६२, ८९
,, निवृत्ति	८०, ३१३
,, का गर्भलिंगोत्पत्ति में स्थान	७०, ७१
स्त्रीपुलिंगी	७३
स्थपनी	१९८, १९९, २०४, २१२
स्थूलान्न कार्य, (आन्न भी देखो)	२१०
स्थिति गर्भ की	१७५
स्नान, गर्भिणी में	२४८
,, प्रसवपूर्व	२५६
,, प्रसूतावस्था में	२७३
,, नवजात बालक में	२६५, २६६
,, दिन रजस्वला में	३२
,, ,, प्रसूता में	२७१
स्त्रायु, अर्थ	१०२, १६८, १६९
,, संख्या	१६७
,, प्रकार और उनके स्थान	१६७
,, कार्य	१६८, १६९, १७१
,, का महत्त्व	१६९
,, विद्वलक्षण	१६८
,, मर्म, नाम और संख्या	१८४, १८५
स्त्रेह, चतुर्विध	११०
स्त्रेहन स्वेदन से लाभ	२१५, २२७
स्पन्दन, धमनी का लक्षण	२३१
,, जीवितावस्था का लक्षण	२३७
स्मशान	२४६
स्मृति	१६
स्रोतस् विरुक्ति	१३८, १४७
,, योगवाही	१४८
,, मनोवाही	२३७
,, बहिर्मुख	१५२
,, ,, संख्या	१५३
,, संज्ञावह	१२४
,, व्याख्या	२४५
,, संख्या	२३८
,, अर्थ और लक्षण	२३९
,, प्राणवह	२३९, २४५
,, अन्नवह	२४०, २४५
,, उदकवह	२४०, २४५
,, रसवह	२४१, २४५
,, मेदोवह	२४२, २४५
,, मूत्रवह	२४२, २४५
,, पुरीषवह	२४३, २४५
,, शुकवह	२४३, २४५
,, आर्तववह	२४३, २४५
,, स्तन्यवह	२४३, २४५
स्वच्छता की आवश्यकता गर्भिणी में	२४८
,, ,, प्रसूता में	२७३, २७५
,, ,, नालच्छेदन में	२६५

स्वप्न की उपपत्ति	१३
स्वभाव	१०, ११, १०३, १२३
,, रात्रि निद्रा का हेतु	१३०
,, शरीर सन्निवेश का हेतु	५७
,, नखकेश निरन्तरवृद्धि का हेतु	१३९
,, दृष्टिरोमकूपस्थिरता का हेतु	१३९
,, स्तनपान काल में अनार्तव का हेतु	३२, २९१
,, गर्भ के सिर के बल जन्म लेने में	१७४, १७७
,, प्रसवोत्तर स्तन्यप्रवर्तन में	२६६, २६७
स्वभाव, प्रकृति देखो	
स्वभाववादी	११
स्वलिंगता	५१
स्वसंवृत्ति, गर्भाशय की	२७, २७१
स्वस्थवृत्त, गर्भिणी का	८६-८८, २४६-२५०
,, प्रसूता का	२६९-२७४
,, बालक का	२९८-३००
स्वास्थ्यरक्षक द्रव्य बालक का	२९८
ह	
हथेली के रक्तस्राव की चिकित्सा	२०२
हनुसन्धि विरुद्ध जृम्भा से	१३६
हनु की अवैध्य सिराएँ	२११, २१३
हस्तमैथुन	५०, ५१
हस्तसिरावेधनविधि	२१७
हस्तिनी स्त्री	४९
हविष्य अन्न	३१
हिजड़ा	७३
हृदय, शरीर में स्थान	११९, १२०
,, की मर्यादाएँ	१९५
,, का वर्णन शारीरिक	१२१, १२७
,, रस का स्थान	१५०, २३५
,, ओज का स्थान	११९
,, प्राण का स्थान	११९
,, आत्मा और मन का स्थान	१२७, २३७
,, चैतन्य का स्थान	१२०, १२६, १८७
,, का वास्तविक अर्थ	१२६, १२८, १२९, २३१
,, का संकोच विकास स्वातन्त्र्य	१२१
,, की गति वयानुसार	१२२
,, पर व्यायामादिका परिणाम	१२२, १२३
,, रक्ताशय नहीं	१५१
,, और आमाशय का संबंध	१८७, १९५
,, प्राणवाही स्रोतसों का मूल	२३९
,, रसवाही स्रोतसों का मूल	२४०
हृदयावरण, रचना और कार्य	१२३
हृदयस्पन्दन गर्भावस्था में	८२
हृदयहीन गर्भ	४६, ५५
हृद्दे के हेतु	१८७, २४०
हृष आहार	२४७
हेगर का चिह्न	८५

ENGLISH INDEX

A		Anidians	55	Artery	mammary	234, 245
Abdominal pregnancy	62	Ano-coccygeal raphe	154	"	middle meningeal	199
Abduction	166	Anopthalmos	42	"	nutrient	164
Abortion, Cause of uterine		Anorchism	73	"	occipital	211
" haemorrhage	27, 310	Anus	152, 193, 204	"	ovarian	235, 244, 245
" Symptoms of	310	" imperforate	104	"	peroneal	191
" Threatened	310	Aorta	219, 235, 245	"	Phrenic	234, 245
" inevitable	310	Aortic regurgitation	187	"	posterior auricular	199, 211
" Complete	310	Apex of lung	117	"	" tibial	199
" incomplete	311	Aponeurosis	168, 169	"	profunda linguae	211
" missed	312	" palmer	192, 204	"	pulmonary	239
" Prognosis of	311	Appendix	150	"	renal	235, 245
" Treatment of	311	Appendicitis	150	"	Spermatic	235, 245
" Prophylaxis of	312	Apoplexy	188	"	sublingual	234, 245
Adduction	166	Arbitrator	144	"	subscapular	197, 210, 213
Adductor canal	192	Arterioles	209, 219	"	Superficial occipital	212
Adrenalin in heartfailure	121	Arthrodia	166	"	" temporal	199, 212
Aerobes	180	Articulations	166, 167	"	Superior mesenteric	235, 245
Aerola (Mamma)	152	Artificial feeding	287, 300	"	" Thyroid	198
" Primary	83	" details of	302-304	"	Supra orbital	212
" Secondary	83	Artery	109, 119, 210, 205, 206	"	Testicular	235, 245
After pains	281, 282	" angular	211	"	transverse cervical	197
" false	282	" anterior tympanic	211	"	ulner	192
After waters	255	" axillary	193, 204, 210	"	uterine	80, 235, 244, 245
Agenetic period	63	" brachial	204, 210	"	zygomatico-temporal	211
Age for marriage	308	" Carotid	211, 213, 138, 198	Ascending Colon		150
" education	308	" Central retinal	234	Aspermia		20
" procreation	40	" Coelic	235, 245	Asphyxia neonatorum		263
Ala of the ileum	197, 204	" Colic	235	Assimilation		104
Albinism	42	" Common iliac	197	Asthenia		136
Alexandrina Samona	59	" first dorsal-		Ascites, Causes of		240
Alimentary Canal	103	" metatarsal	191	" Tapping	105, 221	
Amenorrhoea	29, 31, 82	" femoral	191, 210, 213	Atlas		158
" Primary	29	" gluteal	197, 210	Atmosphere, pressure on		
" Secondary	86	" intercostal	211, 234, 245	body		295
" Physiological	29	" internal auditory	234, 245	Atresia of the cervix		244
Amnion	99	" internal mammary	211	Atrophy, disuse		21
Amphiarthrosis	164	" pudendal	197	" overstimulation		21
Amphiarthrodia	166	" maxillary	211, 234, 245	Atrophic paralysis		193
Amputation	201, 202	" inferior mesenteric	235, 245	Attitude of the foetus		175
Anafobes	180	" lacrymal	234, 245	Atlanto-occipital joint		204
Anaemia, Cause of		" laryngeal	234, 245	Auditory ossicles		160
amenorrhoea	31	" lateral planter	191	" tube		199
Anamolies of developement	52, 55	" thoracic	211	Auricle heart		121
" etiology	56	" lingual	198, 234, 245	Autolytic ferments		180
Anatomy	1, 146, 177, 183, 232	" metacarpal	191	Autonomous nervous System		210, 219
" Divisions of	181			Auto-parasite		55
Androgany	73					
Androgynoid	73					
Aneurism	224					

- | | | | | | |
|--------------------------------|--------------------|------------------------------|----------------|-------------------------------|--------------------|
| Fright, effect on foetus | 87 | Heart failure adrenalin in | 121 | Infantile paralysis | 298 |
| " effect on breast milk | 289 | " " Causes of | 187 | " uterus | 244 |
| Fragilitas ossium | 54 | Heart disease, Venesection | | Inguinal Canal | 95, 192, 204 |
| Frontal bone | 159, 160 | in | 224 | Insanity | 31 |
| " Suture | 154 | Heart burn | 137 | " puerperal | 276 |
| " Sinus | 199 | Heat stroke | 136 | Insomnia | 126 |
| Fundas uteri | 174 | Hegar's Sign of Conception | 64 | " Causes of | 134 |
| | | Hemiplegia | 193 | " treatment of | 134, 135 |
| G | | Hermaphrodism | 73 | Intermetacarpal space | 192 |
| Gall bladder | 120, 149, 151, 172 | Hermaphrodites | 73 | Intermetatarsal | 191 |
| Galactogogues | 290 | " true and pseudo | 73 | Inter phalangeal joints | 166 |
| Gastritis | 137 | Hernia, umbilical causes of | 296 | Inter osseous ligaments | 164 |
| Gastric region | 147 | Heredit | 58, 59, 72, 68 | Intervertebral fibrocarti- | |
| Gastrocnemius | 191 | " in character | 140 | lages | 157 |
| Genital ridge | 74 | " Sexual perversion | 52 | Intestines | 151, 110, 113, 115 |
| Genetic period | 63 | " in marriage | 39 | " number | 148 |
| Genes of sexcells | 63 | Hereditary diseases | 39 | " length of | 152 |
| Gigantism eunuchoid | 73 | Hinge joint | 166 | " function of large | 115, 150 |
| Ginglymus ioint | 16 | Hip bone | 157 | Inverts male and female | 50 |
| Ginglymus joint | 166 | Hip joint | 166 | Inversion sexual | 50 |
| Ginglymo-arthrodiadial joint | 166 | Homo sexuality | 50, 51 | Involution of the uterus | 27, 269, 271 |
| Glabella | 195 | Homo sexual | 50 | Involuntary actions | 208 |
| Glenoid cavity | 158 | " female | 54 | " muscles | 171 |
| Gluteal region | 147, 197 | Hormones | 74, 64, 233 | Iris, structure of | 42 |
| Gomphosis | 166 | " Sexual | 52 | Irritability, sign of life | 104 |
| Gravity, effect on circulation | 122 | " diagnosis based on | 103 | Ischium | 157 |
| " Centre of, in the foetus | 176 | Humerous | 157, 159 | Ischial tuberosity | 197 |
| Graf Von Spee ovum | 89 | Hunting, cause of menorrhoea | 28 | | |
| Grinding of teeth in children | 297 | Hydrocephalus | 307 | J | |
| Gristle | 163 | Hydraemia | 85 | Jaundice, obstructive | 215 |
| Gymnastics, cause of | | Hydrastis | 29 | " Toxic | 215, 224 |
| menorrhoea | 28 | Hygiene of pregnancy | 86, 246-248 | " in infants | 297 |
| Gynandry | 73 | " Conception | 64 | " familial | 297 |
| Gynandroid | 73 | " puerperum | 269-273 | Joints, ankle | 166, 204 |
| | | Hymen imperforate | 30 | " allanto-occipital | 204 |
| | | Hypo-pituitrism | 53 | " elbow | 192, 204 |
| | | | | " knee | 192, 204 |
| | | | | " movements of | 166 |
| H | | I | | " structure of | 164 |
| Habit in relation to nature | 134 | Ides of menstrual cycle | 63 | " Tibiofibular | 191 |
| " Sleep | 125 | Ilio costals | 154 | " talo crural | 191 |
| Hair, growth in pregnancy | 83 | Ileum | 157 | " table of | 167 |
| Hair, follicles | 139 | " ala of | 197, 204 | " varieties of | 164, 166 |
| Hæmatinic | 29 | Iliac spines | 197 | " wrist | 192 |
| Hæmetoma, retro-placental | 277 | Imperforate anus | 104 | Jolting contraindicated in | |
| Hæmophilia | 39 | " Hymen | 30 | pregnancy | 87 |
| Hæmostatics, uterine | 29, 311 | Impotent | 47, 48, 73 | Jugular vein | 198 |
| Hæmospermia | 20 | " conditional | 50 | | |
| Hæmoptysis | 196 | " Varieties of | 46-47 | K | |
| Hæmothorax | 196 | Impotence, Causes of | 53 | Kidney | 118, 242, 243 |
| Hæmorrhage, indication for | | Inbreeding, defects of | 39 | " pelvis of | 118 |
| amputation | 202 | Incomplete abortion | 311 | Kleitman on sleep | 130 |
| " from Scalp | 212 | Indifferent stage of embryo | 37 | Kneejoint | 192, 204 |
| " " Volor and planter | | " nature | 144 | Knowledge, importance of pra- | |
| arch | 201 | Inevitable abortion | 310 | ctical and theoretical | 177 |
| " uterine | 310 | Infection | 188 | L | |
| " Symptoms of | 201 | Inferior nasal conchæ | 159 | Labour stages of | 254 |
| " Varieties of | 188 | Inflammation | 215 | | |
| " post-partum | 278 | Infantalism | 50 | | |
| Heart | 90, 205 | Infant feeding | 286 | | |
| " condition during rest | | Infantile colic | 297 | | |
| and work | 123 | " diarrhoea | 297 | | |
| " Anatomy of | 119, 121, 126 | " convulsions | 297 | | |
| " failure | 120 | | | | |

Labour duration of the stages		Ligament structure of	168	Marrow, Red and yellow	110
of	254	" broad	152	Massage, effect of	135, 236
" position in	256	" calcaneofibular	191	" during 1st Stage of	
" " during 1st stage	258	" carpometacarpal	192, 204	labour	258
" " during 2nd stage	260	" collateral	192	" " 2nd Stage of	
" " " 3rd stage	279	" coraco humeral	196	labour	258
" preparations for	250	" deltoid	191	" " puerperum	273
" premonitory stage of	252	" glenohumerol	204	Mastoid bone	158
" first stage	253, 254	" inter carpal	192, 204	Mate, importance of healthy	39
" " management of		" intertarsal	191, 204	Maternity homes	251
256, 258		" interosseus	164	Maxilla	158, 159
" 2nd stage	258	" lateral	204	Meconium, meaning of	56
" " management of	260	" long planter	191, 204	Medulla oblongata	212, 213
" 3rd stage	277	" Radio carpal	192	Melanin, pigment of skin	41
" " management of	279	" Radial	192	" place in skin layers	106
" purgative in	257	" round	149	Melancholia, cause of	
" pituitrin in	255	" Suspensory, mamma	196	amenorrhoea	30
" methods of finding		" Talo calcaneal	191, 204	Membrane	113
date of	77, 84, 85	" ulner	192	" fibrous	113
" precipitate	250	Ligamentum venosum	149	" mucous	113, 114
" bearing down efforts		Lightening in labour	252	" " of intestines	
during	259	Linea nigra	84	113, 115	
" rupture of membranes		" gravidarum	84	" " vesiculae semi-	
in	255	" albicantes	85	nalis	113
" pains	254	Liver, anatomy	149	" synovial	110, 113, 114
" " false	253	" functions of	109, 149	" serous	113, 170
" difference between		" Symptoms of rupture of	241	" foetal	27, 57, 116
two	253	" use in anaemia	29, 149	" " bag of	255
" crowning of the head		Lochia	261, 281	" " rupture in	
in	259	" duration of	284	labour	255
" contraction of the acc-		Longissimus muscle	154	Meningocele	55
essory muscles in	259	Lotion for vaginal wash	24	Meno pause, time of	80, 313
" exhausted uterus dur-		" in labour	249, 260	" changes at the	
ing, cause and treat-		Longings of pregnancy	82, 191	time of	80
ment	261	Lungs	117, 239	Menorrhagia, Defination	27
" lightening	252	" Apex of	117	" etiology	27, 28
" lying-in room	250, 251	Lunate bone	156	" Symptoms	28
" mechanism in vertex		Lymph	240	" treatment	29
presentation	254, 255	Lymphatics	240, 245	Menses	19, 21, 25, 243
" safety-valve ction	260	Lymphatic vessels	205, 210	" ag of onset	80, 81
" show	254	Lysol in labour	249, 260	" characters of blood	25,
" pelvic floor in	259			26, 80	
Labyrinth disease cause of		M		" period of flow	25
vertigo	138	Mac Kintosh, use in labour	256	" clinical features of	25, 26
Lacerations of perineum	244	Madness	31	" uterine changes	
" Cervix uteri	244	Malar bone	158, 160	during	79, 80, 116
Lacertus fibrosus	218	Male inverts	50	" Synonyms of	81
Lacrima bone	159	Mal presentation of the		" cyclical theory of	313
Lactiferous ducts	172, 267	foetus	86, 174	" concealed	30
Languor	137	Malpighian layer	106, 107	" abscondce during	
Larynx	198	Mamma, anatomy	152	pregnancy	81, 82
Laryngitis	214, 224	" development in puberty	172	" Continuation	116
Lateral position in labour	256,	" changes during pregnancy	83	" sexual ardour after	78
260		" areola of	83, 152	" profuse, see	
Law of causation	93	" rudimentary	151	menorrhagia	
" dominance	73	Mammmary region	147	" cessation of, see	
" polarity of uterus	255	Mammals, infant feeding in	300	menopause	
Lethargy	135	Mandible bone	158, 160	" painful, see dys	
Leprosy, earliest skin lesions		Manubrium Sterni	158	menorrhoea	
105, 107		Marasmus	292	" abscondce, see	
Life, signs of	104, 120, 121	Marrow, bone, place of	161	amenorrhoea	
" tripod of	187	" Composition of	110	" in monkeys	81
Ligament	102, 164, 169, 188			Menstruation, see menses	

- Menstrual blood, see menses
- " life 80
- " cycle 313
- " Toxin 32
- Meningitis 136, 224
- Mental Condition in pregnancy 248, 87
- " condition in puerperium 272, 288
- " condition effect on milk 291, 292
- " " " foetus 87, 91, 33
- " " necessary for Sleep 134
- Mercury chloride, contra indication for use in labour 249
- Mesochism 51
- Mesoderm 147
- Metabolism 74
- Meta carpal bones 156, 159
- Meta tarsal bones 156, 159
- Metopic Suture 154
- Metrorrhagia, 27
- " causes of 27, 28
- Midwife, qualifications of 256, 257
- Milk fever 267
- Missed abortion 312
- Mixosopia 48
- Monsters 36, 55
- " acardiac 46, 55
- " varieties of single 55
- " " double 55
- " etiology 56
- Monstro-city 55
- Montgomery' follicles in pregnancy 83
- Morning sickness 82
- " " sign of pregnancy 83
- Morula 89
- Mother's impressions, see mental impressions
- " milk, importance of 286
- " " tests for 290, 291
- " " and cow's milk 303
- Multi para, value of quickening in 84
- " increase of weight of foetus in 102
- " relation between uterine space and foetus in 176
- " condition of ext os before labour 253
- Muscle 168, 170
- " forms of 173
- " number of 169, 171
- " properties of 171
- " varieties of 171
- " Biceps 192
- " Gastrocnemius 191
- " Plantaris 191
- " Quadriceps femoris 192
- " soleus 191
- " Temporal 199, 204
- Muscle Trapezius 197, 204
- " calf 191, 204
- " ciliary 171
- " corpora spongiosa 48
- " " cavernosa 48
- " Diaphragm 117, 149, 195, 234
- " Longissimus 154
- " pectorialis Major 196, 205
- " skeletal 171
- " sphincter 168, 169, 172
- " spinalis 154
- Musculospinal paralysis 293
- Musculus uvulae 170
- Myoma uteri, cause of menorrhoea 28
- N
- Nasal bones 158, 159, 160
- " arch 199, 205
- Nature, dominance of 10, 58, 69
- " freaks of 104
- Nature, see character 134
- Navel (see umbilicus also) 229
- Navicular bone 156
- Necrozoospermia 20
- Necrophilia 51
- Neck vessels 204
- Nerve Acoustic 234
- " deep peroneal 191
- " Gluteal 197
- " Glisso pharyngeal 198, 234
- " Hypoglossal 198, 234
- " Internal pudendal 197
- " Inferior laryngeal 234
- " Laryngeal 198
- " Lacrimal 234
- " Lingual 234
- " Lateral planter 191
- " median 192
- " Medial planter 191
- " olfactory 199, 234
- " optic 234
- " sciatic 197
- " suprascapular 197
- " saphenous 192
- " Tibial 191
- " vesti bular 138
- " Vagus 235
- Nerve fibrills 106
- " Terminals 168
- Nervous system autonomous 148
- " diseases, pathogenesis of some 233
- Neuter stage of foetus 74
- Neuralgia 221
- Neuritis 221
- Nipple 152
- Nymphomania 50
- Nyria 59
- O
- Occipital bone 159, 160
- Oestrus 32
- Oestrin 76, 83, 115
- Oesophagus 239, 245
- Ointment, absorption through skin 236
- Olecranon 157
- Olfactory region 204
- Oligomenorrhoea 30
- Oligo spermia 20
- Oligozoospermia 20
- Omentum 110, 113, 242
- Omphalosite 55
- Omphalitis 296
- Oophoritis 275
- Operculum 254
- Ophthalmia neonatorum 263
- Orgasm 64, 65
- " effect on ovulation 43, 65
- " complications of 61
- Os innominatum 157, 159
- " calcis 159
- Ossification of bones 160, 162
- Osteomalacia 247, 306
- Os uteri 152, 174
- " pinhole 174
- " dilatation of, during labour 252, 254
- Otto Schoner's theory of sex determination 70
- Ovary 30, 37, 52, 115, 152, 173
- Ovulation 43
- " time 43, 75, 76
- Ovum 19, 21, 33, 38, 43, 69, 174, 243
- " fertilization of 60, 76, 115
- " Segmentation of 147
- " Bryce Teachers 89
- Ovarian tumour, mammary changes in 83
- " cyst, linea gravidarum in 84
- Oxygen 118
- Oxygenated blood 119
- Oxytocics 280
- P
- Pad Vaginal, use in vaginal discharges 24
- " " use in pregnancy 249
- Paidophilia 51
- Paints 236
- Pallor 28
- Palpitations in pregnancy 82
- Palatine bone 159, 160
- Palmer arch 192
- " difficult haemorrhage 201
- " treatment of haemorrhage 202
- " aponeurosis 192, 204

Pancreas	151	Placenta, examination of		Pregnancy, menses during	116
Papillae of the skin	106	after removal	280	" toxæmia of	224
Papillary layer of the skin	106, 107, 108	Plantaris muscle	192	" Signs and Symptoms of	82-86
Parasthesia sexualis	51	Planter arch, wounds of	201	Primiparae, Value of quickening in	84
Paroxysm	51	" " treatment	202	" weight of foetus in	102
Parietal bone	159, 160	Plexus, brachial	193, 204	" dilatation of os in	252-254
Pasteurisation of milk	303	" hypogastric	235	" old, in relation to child bearing	40
Patella	156, 159, 192	" inferior mesenteric	235	Procreation period	53
Pavlov on Sleep	131	" renal	235	Progestin	76, 83, 115
Pectorialis major	196, 205	" Sacral	193	Proloctin	267
Pelvis	153	" Spermatic	235	Prolapse of uterus in puerperium	
" contracted	255	Plethora, indication for venesection	215	cause of	271
Pelvic cellulitis in rupture of bladder	194	Pleurisy	223	Prostate	20, 43, 112
Pelvic cellulitis in puerperal infection	275	" with effusion, result of chest injury	196	Pseudocyesis	83
Penis	152	Pneumonia	223	Psychoneurosis	50
" erection of, physiology	47-49	" result of chest injury	196	Psycho sexual herma phrodisia	50
" " in sexual perverts	50	" indication for venesection	224	Pubes	157
Perineum, strain in squatting	87	Pneumothorax, result of chest injury	196	Pubic region	153
" on	87	" indication for venesection	224	Puerperal fever, causes	275
" lacerations of, in labour	244	Polarity, law of	255	" " Synonyms	275
" in labour	260	Polypus uterine, cause of menorrhagia	28	" " pathology	275
Peritoneum	110	Popliteal fossa	191	" " Symptoms	276
Peritonitis	194, 276	Porta hepatis	149	Puerperum, period of	269
Pericardium, function of	123	Post-menstrual period	79	" period of rest	271
Pernicious anaemia, coma in	136	Post-partum haemorrhage	278	" diet in	271, 274
" " use of liver in	149	Posture, effect on heart	122	" massage in	273
Permeability of vessels	206	Positions of the foetus	94, 175	" general regime in	272
Phalanges	156, 159, 161	" of the mother in labour		" coitus during	272
Philosophy. Indian, Speciality of	58	Ist stage	258	Putrefaction sign of death	180
Photo phobia in infants	252	" 2nd "	260	Pupil (eye)	139
Physiology	1, 232	" 3rd "	279	Pyospermia	20
Pica	82, 91	Premonitory stage of labour	253		
Pigment of the skin	41	" Symptoms of	252, 253	Q	
" of the iris	42	Presentation of foetus	94, 176, 177	Quadruplet	45
Pigmentation in pregnancy	84	" vertex	94, 177	Quadriceps femoris	192, 204
Pigments (Paints)	236	Pressure, Atmospheric, effect on heart	122	Quickening, sign of pregnancy	84
Pinna of the ear	163	Pregnancy, duration of	96	" value in multi parae	84
Pituitrin in labour	255	" causes of uncertainty	97	R	
" in asphyxia neonatorum	264	" multiple	44, 45	Radio	233
Pituitary, in sexual disorders	52	" " uniovular	44	Radiography in twin diagnosis	103
" in connection with lactation	267	" " binovular	44	Radius	157, 159
Pivot joint	158	" " multiovular	44	Raphaes	154
Placenta, formation and structure of	98, 99, 116	" extra uterine	311	" serotal	154
" secretion of	83, 98	" tubal	63	" perineal	245
" in twins	44, 45	" ovarion	62	Rebirth	68
" functions of	98	" abdominal	62	Reincarnation	57
" place of attachment in uterus	174	" coitus during	86, 87	Rectum	193
" retention of part cause of menorrhagia	27	" interval between two	40, 312	Regions of the body	147
" delivery of	277	" repeated, effect on the foetus	313	" pubic	153
" methods of removal	278-280	" hygiene of	86-88, 246-248	" gluteal	147, 197
" symptoms of in lower uterine segment	278	" diet in	247, 249	Reflexaction. heart failure due to	187
		" mental Condition	87, 248	" shock due to	188
				" defination of	293
				" inborn	131
				" inhibition of	131

- Renal tubules 243, 245
Reservoirs of blood in body 109, 149, 151
Rest in puerperum 270, 271
Resolution 215
Respiration, abdominothoracic 118
" thoraco abdominal 118
Retina 139
Reticular layer 106, 108
Reticulo endothelial cells 114
Retraction of uterus 277
Retro placental haematoma 277
Rhythmicality of brain for sleep 130
" of heart 121, 171
" property of involuntary muscles 171
Ribs 157, 159
Rickets, 162, 297, 306, 307
Rigor mortis 180
Ride 132
Rupture of heart 187, 188
" of foetus membranes 255
" of liver 241
" of bladder 194
Rut 32
- S**
- Sacrum 154, 157, 159, 253
Sacral plexus 193
Saddle articulation 166
Safety valve action in labour 260
Sagittal suture 154
Salpingitis 275
Satyriasis 50
Scapula 158, 159, 197
Sciatica 134
Sciatic notch 197, 204
" nerve 197
Scopto filia 48
Scrotal raphae 154
sebaceous cyst 105
Secretions, internal 28
" vaginal, effect on sperm 64
Semen, male 19
" " characters 23
" " pharmacological actions 48
" spermfree, causes of 65
" origin of 20, 114
" absorption from vagina 86
" feminine 54
Septum 113
Septicaemia 188
" puerperal 276
Sex chromosomes 69
" glands and hormones 52
" determination, theories 69, 72
" change of, theories 72, 74
Sex probable symptoms to determine 102
Sexcells, meeting place of 62
Sexual aberrations 49, 50
" perversions 49
" inversions 50, 51
" frigidity 50
" impulse, effects of 79
" " more after menses 78
" " waning, sign of pregnancy 82
" Excitement effects of 61
" gratification for fecundation 64
" excess, cause of menorrhagia 28
Sheaths 170
Shock, causes 189
" varieties and symptoms 188, 203
Shoulder joint 166, 197
Show in labour 254
Siegel on sex determination 71
Signs of life 104, 120, 121
" death 120, 121, 180
Sinusoids 109
Sinus, frontal 199
" cavernous 200, 205
" intercavernous 200, 205
" confluence of 200
Sixlets 45
Skeleton 163
Skeletal muscles 171
Skin diseases of 105
" layers of 104, 108
Skull 154
Sleep, theories of 129, 130, 131
Steepness 135
Steeplelessness, causes of 134
" treatment 134, 135
Snake poisoning, venesection in 214, 224
Sockets of teeth 155
Sodism 51
Soleus 191
Spacing between two children 40
Spermatic cord 192, 210
Spermatozoa 20, 39
" characters of 68
" place of origin 118
" effect of vaginal secretion on 64
Sphenoid bone, 158, 159, 160
Sphincter muscles 168, 169
" vaginae 172
Spine 158
" of the scapula 204
Spinalis 154
Spleen 149
" functions of 150
" reservoir of blood, 109, 151
Splanchnic area 219
Spongy tissue of bone 160
Sprain 165, 169, 188
Spray 236
Squatting, contraindicated in pregnancy 87
Squamosal suture 154
Stages of labour 254
Status lymphaticus 187
Stejskal on function of skin 236
Sternum 158, 159
Sternal notch 158
Sterile 20, 47
Sterility 20
" due to injury to Spermatid cord 192
" in women 244
" one child 244
" absolute 244
still born 36, 244
still birth 244
Stirrage 90
Stomach, region of 147
" flatulence in 134
" dilatation of 151
" relations between heart and 195
stratum compactum 98
" spongiosum 98
" Granulosum 106, 107
" lucidum 106, 107
stria gravidarum 84
striped muscles 171
Stupor 135
Stypticin 29
Subinvolution of uterus after abortion 27
Subcutaneous tissue 105, 106, 107
" " fat deposit in 110
Succus entericus 187
Sudden death, causes of 187
Supra renal gland 52
Suppuration 215
Surgeon, importance of dissection to 177
Surgical shock 189
Sutures, cranial 154, 166, 199, 205
Sutura serrata 166
" harmonia 166
" squamosa 136
synovial membrane 110, 113, 164
" fluid 110, 114, 164
Synovitis 165
Syncope, causes of 137, 188
" Symptoms of 203
Systole of heart 123
Syphilis congenital, cause of jaundice in the new born 297

T

T		Teratism	55	Umbilical cord, structure of	99
Table of Sankhya Darshan	10	Teradelphians	55	„ „ coiling of	99
„ sankhyaurveda difference	17	Teratodymes	55	„ „ management of	264
„ Panchikaran	18	Terato encephalians	55	„ „ removal of pla-	
„ amenorrhoea	30	Testes, Testicles	118, 119	centa by trac-	
„ obstetrical	77	„ „ decent in the inguinal		tion on	279
„ of signs of pregnancy	95	canal	95	Urea	57
„ of cutaneous layers	107	Test tube babes	21	Ureamia	136, 214, 224
„ of Kalas	113	Tetanus	188	Urinary bladder	194, 204
„ of pulse rate according to		„ „ in puerperium	276	„ „ rupture of	194
age	122	Thirst	240	Ureters	118, 235, 242, 243
„ of the number of bones		„ theory of	241	Urethra	112
159, 160		Thoracic vertebra	159	„ prostatic portion of	112
„ of joints	167	„ „ Duct	235, 240	Uterus	152, 174
„ of number of muscles	169	Throbbing, Vaginal	82	„ double	116
„ of monthly foetal		Thrush	297	„ infantile	244
development	175	Threatened abortion	310	„ cochleate	244
„ of abnormal foetal		Thymus	52	„ exhausted	261
attitudes	175	Thyroid	52	„ in vergin	173
„ showing relative frequency		Tibia	156, 159	„ in pregnancy	175, 244
of Vertex and pelvic pre-		Torcular Herophilia	200, 204	„ in orgasm	62
sensation at different		Tourniquet	202	„ in menses	79, 80, 116
months	176	Toxaemia, puerperal	276	„ fundus of	63, 99, 172
„ of Marmas	204	Traction of the cord	279	„ sinking of, before	
„ „ Veins contraindicated		Transmigration of soul	58	delivery	252
for venesection	213	Trapezius	197, 204	„ involution of	27, 269, 271
„ veins above clavicles	212	Trachae	158, 198	„ Sub involution of	27
„ arteries	245	„ structure of	163	„ fibrosis of	28
„ srotasas	245	Transverse colon	150	„ retraction of	277
„ dentition	305	Trauma on the chest, diseases		„ Prolapse of	271
Tabes mesenterica	307	resulting from	196	„ arteries of	98
Tactile corpuscles	106	Traumatic shock	189	„ blood veseels of	243
Talus	156	Tripod of life	187	„ displacements of	28, 174, 244
Tampoons, use in pregnancy	249	Triplet 44, 45 see also 'twins'		Uterine arteries	80
Tarsal bones	154, 155, 156, 159, 161	Trophoblast 63, 89, 98, 147		„ tubes	172, 174
Tarsus	163	Trochanter greater	197	„ inertia	250, 260, 261
Teeth, structure and compo-		Tubules semi iniferi	119	„ haemorrhage	278, 310
sition of	162	„ lacteferi	243, 245	„ os, dilatation of before	
„ milk and permanant	305	Tubercles of vertebrae	157	delivery	252, 253, 254
„ „ physiology of the		Tuberculosis, pulmonary	196		
development	306	Tumescence	61	V	
Temperament	139, 140	Tumour, ovarian	83	Vaginal canal	172, 173
„ Lymphatic	140, 141	Twins	45	„ pulsation	85
„ nervous	140	„ causation	45	„ throbbing	82
„ Sanguine	140, 141	„ Varieties	44	Vaginismus	244
„ unchanging character of	142	„ in equal developement of	46	Vaginitis	244
„ Various types of	144-146	„ percentage	45	Valves of heart	121
„ importance of		„ uniovular	44	Valvular disease	82
in treatment	146	„ multi ovular	44	Varicose veins	225
„ effect on heart's action	122	„ diagnosis of	94, 103	„ „ in pregnancy	85
Temperature, effect on heart	122	Tympanum	199	Vasomotor nerves	219
Temporal bone	159, 160, 199			„ paralysis	137
„ fascia	204	U		„ instability	188
„ Suture	154	Ulna	157	„ centre	219
„ muscle	204	Ulnar artery	192	Vasa deferens	112
Temples	199, 204	Umbilicus 138, 194, 204, 229		Vein 109, 119, 205, 210, 214	
Tendons 102, 153, 168, 169, 188		Umbilical artery	138, 206	„ Angular	24
„ of Biceps	204	„ vein	138, 206	„ Axillary	210
„ Quadriceps	204	„ belt	296	„ Bacilic	204, 210
Tenderness	293	„ region	147	„ cephalic	210, 213
Tents	311	„ hernia	99, 296	„ Facial	198
				„ Femoral	192, 210, 213

Vein Frontal	199, 212, 213	Vessels, lymphatic	205	Vital parts	183
„ Gluteal	210	„ blood, Axillary	213	„ „ table of	204
„ Internal maxillary	211	„ Angular	213	Vitamines	149, 233
„ Jugular 198, 211, 213	224	„ Anterior tympanic	213	„ D	162, 306
„ median cubital	217,	„ Brachial	213	Voluntary muscles	171
	222, 224	„ common iliac	204	„ actions	208
„ occipital	211, 212	„ deep lingual	213	Volar arch, wounds of	201
„ posterior auricular	199, 211	„ Gluteal	213	Vomer	158, 159
„ sapheneus	210, 213, 222	„ Femoral	204	Voyeurism	48
„ supra orbital	212	„ Internal mammary	196, 205, 213		
„ superficial temporal	212	„ Inferior epigastric	211, 213	W	
„ „ dorsal of penis	223	„ Internal maxillary	213	Walking inability in infants,	
Venesection, indications and		„ Lateral thoracic	196,	causes of	306
contra-indications for	214,		204, 213	Weaning, time of	301, 302, 305
	215, 224, 227, 228	„ of the neck	204	Wetnurse,	287
„ process of	215, 216	„ occipital	213	„ qualifications for	284
„ time for	216, 218	„ posterior auricular	205,	„ indications for keeping	285
„ common veins for	224, 217		213	Whartonian gelly	99
„ quantity of blood in	221	„ subscapular	196, 204	Wheezing	239
„ accidents in	225	„ superficial temporal	212	Womb (see uterus)	174
„ importance of, in sur-		„ spermatic	213	Wolffian body	74
gery	227	„ supraorbital	213	Wrist joint	192
Ventricle of the heart	121	„ zygomatics tempo-			
Ventilation in labour room	252	ral	199, 213	X	
Vernix caseosa	93, 266	Viability of foetus	95	Xiphoid process	158, 195
Vertebra	155	Villi placental	98	Z	
Vertebral column	157	„ of membranes	116	Zones erogenic	49
Vertigo	138	Vision divine	182	Zona pellucida	62
Vertex presentation	94, 177	„ scientific	182	Zygomatic bone	159
„ „ genesis of	176	Vital functions	189		
Vesicula seminalis	112				

आयुर्वेद के विद्यार्थियों तथा वैद्यों के लिए

उपयोगी पुस्तकें

लेखक—आयुर्वेदाचार्य डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर बी० एस्० सी०, एम० बी० बी० एस्०

(१) स्वास्थ्यविज्ञान—इसमें हवा, जल, अन्न, संक्रामक रोग इत्यादि स्वास्थ्यरक्षासंबंधी संपूर्ण विषयों का विवरण बहुत सुचारु रूप से किया गया है। साथ साथ आयुर्वेदिक ग्रंथों के तुलनात्मक प्रमाण भी दिये गये हैं। निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महामण्डल की मिश्रक तथा विशारद परीक्षा के लिए और मध्यप्रांत में वाचनालय के लिए यह पुस्तक स्वीकृत हुई है। संशोधित और परिवर्धित द्वितीयावृत्ति। मूल्य २॥) डारै रुपया

(२) स्वास्थ्य-शिक्षा पाठावलि (संस्कृत)—इसमें चरक-सुश्रुतादि आयुर्वेदिक ग्रंथों के तथा संस्कृत ग्रंथों के स्वास्थ्य विषयक संस्कृत श्लोकों का संग्रह विषयानुसार किया गया है। संक्षेप में यह स्वास्थ्यसुभाषित-संग्रह है। कठिन शब्दों पर टिप्पणी भी दी गई है। मूल्य ॥) आठ आना

(३) जीवाणुविज्ञान—इसमें पाश्चात्य वैक्टेरिआलजी का समस्त उपयोगी भाग वर्णन किया गया है। इसके सिवाय स्थान स्थान पर तुलनात्मक श्लोक भी दिये गये हैं। अन्त में आयुर्वेदोक्त जीवाणुविज्ञान पर स्वतन्त्र और विस्तृत लेख दिया गया है। हिन्दी में इस विषय की यही एकमात्र पुस्तक है। मूल्य २॥)

(४) जीवन रसायन चिकित्सा-शास्त्र—इस पुस्तक में डाक्टर सज्जल की द्वादश क्षार-चिकित्सा का सांगोपांग विचार किया गया है। मूल्य २॥)

(५) *Ayurvedic conception of urine formation in human body.* इस अंग्रेजी पुस्तिका में आयुर्वेदिक ग्रंथों के आधार पर मनुष्य शरीर में मूत्र कैसे और कहाँ उत्पन्न होता है, इस विषय का तुलनात्मक विवरण किया है और उसके अनुसार कुछ रोगों की संप्राप्ति दिखलाई गई है। मूल्य २) दो आना

(६) *Comparative Survey of Ayurvedic Nosology.* इसमें ग्रंथकार ने रोगों के हेतु, लक्षण, संप्राप्ति, निदान, चिकित्सा इन विषयों में आयुर्वेद और एलोपैथी की तुलना करके आयुर्वेद की श्रेष्ठता और वैज्ञानिकता सिद्ध की है। मूल्य १)

(७) औपसर्गिक रोग (Infections diseases)—इस ग्रंथ में दूत के रोगों का अद्ययावद (Up-to-date) वर्णन है। प्रथम भाग २॥), द्वितीय भाग ४)

प्राप्तिस्थान—डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर, कृव के सामने, हिंदू यूनिवर्सिटी, बनारस